॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

एकादश स्कन्ध

अध्याय : १ - ५

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महामहोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला—प्रथम सुमन

श्रीमदखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्णवदन विरहवैश्वानरावतार
श्रीमद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भाविता
श्रीमच्चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवत शास्त्र मुक्तिलीला प्रतिपादक

श्रीमद्एकादश स्कन्ध सुबोधिनी

हिन्दी अनुवाद सहित

जीव मुक्ति (ब्रह्म भाव) प्रकरण—अध्याय १ से ५

सहायक ग्रन्थ—"प्रकाश", श्रीमद्गोस्वामि श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

श्रीभागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण।
साकार ब्रह्म वादैकस्थापको वेदपारगः॥
मायावाद निराकर्ता सर्ववादि निरासकृत्।
भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः॥
श्रीभागवत पीयुष समुद्रं मथनक्षमः।
तत्सारभूतरासस्त्री भावपूरितविग्रहः॥
श्रीभागवत प्रतिपदमणिवर भावांशु भूषिता मूर्तिः।
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम्॥

श्री मद्विट्ठलेश प्रभुः चरण

राष्ट्रभाषा अनुवादक
गो. वा. प. भ. श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री
विद्याभूषण, जोधपुर

प्रथमावृत्ति—१००० प्रतियां
जन्माष्टमी, वि.सं. २०३४
दिनांक ६ सितम्बर, १९७७

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक।
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)
मानधना भवनम् चौपासनी मार्ग
जोधपुर नगरम् (राजस्थाने)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जिकृत)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य—जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवा कर जन साधारण निमित्त प्रकाशन कराना।

संगीत कला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवा कर उनका प्रकाशन कराना।

सदस्यता—(१) विशिष्ट सहायक सदस्य गण रू. ५०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट कर्त्ता। इनके नाम सब ग्रन्थमालाओं के सब सुमनों में दिए जाते हैं।

सहायक सदस्य गण—(२) १०००) रु. से ४९९९) रु. तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम एक ग्रन्थमाला के सब पुस्तकों में प्रकाशित किये जाते हैं।

विशिष्ट सदस्य गण (३) रु. ५००)०० से ९९९)रु. तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जावेंगे।

सदस्य—(४) रु. १५१) से रु. ४९९) भेंटकर्त्ता—

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन (पुस्तकें) श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध के प्रथम पांच अध्याय श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेट किये जावेंगे।

॥ श्री हरिः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पञ्च शताब्दी महामहोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला—प्रथम सुमन

एकादश स्कन्ध—अध्याय १ से ५

जीव मुक्ति (ब्रह्मभाव) प्रकरण

विषय--सूची

मुख पत्र	
संस्था के उद्देश्य	
विषय सूची	
संरक्षक, विशिष्ट सहायक एवं सहायक महानुभावों के शुभनाम	घ
दो शब्द	ङ
श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका की सौरभपूर्ण कुछ कलियाँ—'सुबोधरत्नाकर'	च
विनम्र निवेदन— संस्था-मन्त्री नन्ददास (रामचन्द्र)	छ
श्री बृन्दावनेश्वर— मुरली का महत्व	ज
श्री तत्वदीप निबन्ध—भागवतार्थ प्रकरण—जीव मुक्ति (ब्रह्मभाव)	झ-त
जीव मुक्ति (ब्रह्मभाव) की भूमिका—गो० वा० पं० फतहचन्दजी शास्त्री	थ-ध
एकादश स्कन्ध में वर्णित दो लीलाओं के पद—भक्त शिरोमणि सूरदासजी	न

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
१	भगवान् का मुक्ति लीला विहार तथा यदुकुल का उपसंहार	१-२६
२	वसुदेवजी के पास नारदजी का आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगेश्वरों का संवाद सुनाना	२७-४८
३	माया, माया से पार होने के उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोग का निरूपण	४९-१३२
४	भगवान् के अवतारों का वर्णन	१३३-१६०
५	भक्तिहीन पुरुषों की गति और भगवान् की पूजा विधि का वर्णन	१६१-१८६
	अनुक्रमणिका—एकादश स्कन्ध के पांच अध्यायों के श्लोकों की	१८७-१९०
	शुद्धि-पत्र—वृत्रासुर चतुः श्लोकी ग्रन्थ का पृष्ठ	५१

चित्र--सूची

श्री बृन्दावनेश्वर	ज
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा श्री सुबोधिनी का लिखवाना	१
यदुकुल-बालकों को ऋषियों का शाप	२०
भगवान् नारायण का स्वर्ग की स्त्रियों से श्रेष्ठ स्त्री 'उर्वशी' का देवों को देना	१४८

वृत्रासुर चतुः श्लोकी—द्वितीय खण्ड—सामग्री	१-५०
शुद्धि-पत्र	५१-५२

॥ श्री हरिः ॥

संस्था के संरक्षक महानुभाव

पूज्यपाद तिलकायत गोस्वामि श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा
,, गोस्वामि श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
,, ,, श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	कांकरोली
,, ,, श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज	कोटा
,, ,, श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
,, ,, श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	कोटा
,, ,, श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
,, ,, श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर(अहमदाबाद)
,, ,, श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, संस्थाध्यक्ष	चोपासनी (जोधपुर)/ जामनगर

विशिष्ट सहायक सदस्य

प० भ० गो० वा० श्री नन्दलालजी मानधना, जोधपुर	रु. ५०००)
प० भ० गो० वा० श्रीमती सौभाग्यवतीजी नन्दलालजी मानधना, जोधपुर	रु. ५०००)
प० भ० श्री हरिलालजी हरिवल्लभजी धर्मादा ट्रस्ट, अहमदाबाद	रु. ५०००)
श्री वालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट, अहमदाबाद तथा बाई रुक्मणी पत्नी वकील चिमनलाल कपूरचन्द वैष्णव मंडाण ट्रस्ट, अहमदाबाद द्वारा गो० वा० सेठ साकरलाल वाला भाई	रु. ५०००)

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला के सहायक सदस्य

गो०वा० हरगोविन्ददासजो उगरचन्दजी भगत रिलिजस ट्रस्ट द्वारा उनके सुपुत्र प० भ० चिमनलालजी, मोहनलालजी और नटवरलालजी शाह, बम्बई	रु. १५०१)
गो०वा० प्रेमलता बाई (बल्देवदासजी) डागा आत्मजा की स्मृति में प०भ० उद्धवदासजी एवं काशी बाई मून्धड़ा, कानपुर	रु. १००१)
गो०वा० गोकुलदासजी मायाचन्दजी एवं प०भ० सरस्वती बहन की स्मृति में उनके सुपुत्र प०भ० पुरुषोत्तमदासजी, गोकुलदासजी, पूना	रु. १००१)
गो०वा० द्वारकादासजी श्यामदासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र कृष्णदासजी द्वारकादासजी दलाल, पूना	रु. १००१)
गो०वा० दिलसुखरायजी राठी एवं श्रीमती श्यामा बाईजी की ओर से— उनके सुपुत्र लक्ष्मीनारायणजी, दिल्ली	रु. १००१)
प०भ० कस्तूरी बहनजी हरिकिशनदासजी की ओर से उनके सुपुत्र विठ्ठलदासजी शाह, हैदराबाद (आंध्र प्रदेश)	रु. १००१)
प०भ० ठाकोरदासजो हरिदासजी श्रोफ, पूना	रु. १००१)
प०भ० रामदासजी कृष्णदासजी माडी वाले, पूना	रु. १००१)
प०भ० प्रेमा बाईजी किशनचन्दजी भाटिया, डेरेवाले, कानपुर	रु. १००१)
प०भ० काशीबाईजो, विन्नाणी, बम्बई	रु. १००१)
प०भ० रुक्मणी बाईजी विन्नाणी, कलकत्ता	रु. १००१)
प०भ० मुन्नीबाईजी (शान्तादेवीजो) एवं सुपुत्र अशोककुमारजी शर्मा सी.ए.	रु. १००१)
प०भ० श्रीराधाबाईजी की ओर से उनके पुत्र नन्ददास (रामचन्द्र) एवं पुरुषोत्तमदास वर्मा, जोधपुर	रु. १००१)

* दो शब्द *

श्रीमद्भागवत महापुराण में सर्वोत्तम एवं सविस्तृत दशम स्कन्ध है जिसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका का राष्ट्रभाषा में अनुवाद १३ पुष्पों (१२ पुस्तकों) में प्रकाशित हुआ है। शेष प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्कन्ध एवं ग्यारहवें स्कन्ध के पाँचवें अध्याय के दूसरे श्लोक तक ही सुबोधिनी उपलब्ध है। अतः अब एकादश स्कन्ध की सुबोधिनी—हिन्दी अनुवाद प्रकाशन के पश्चात् शेष तीन स्कन्धों का प्रकाशन पूर्ण होगा।

इस ११ वें स्कन्ध में भगवान् की मुक्तिलीला का निरूपण किया गया है क्योंकि दशम स्कन्ध में निरोध द्वारा भक्ति की सिद्धि का वर्णन कर उसके सिद्ध होने के पश्चात् स्वरूप प्राप्ति रूप मुक्ति का वर्णन होना आवश्यक है। अतः मुक्ति के दो भेद—(१) जीव मुक्ति और (२) ब्रह्म मुक्ति का वर्णन इस स्कन्ध में है। अब जीव मुक्ति दो प्रकार की है ब्रह्म भाव एवं सायुज्य। ब्रह्म भाव की प्राप्ति विद्या जो पाँच प्रकार की है उससे होती हैं। अतः इस ब्रह्म भाव का वर्णन प्रथम पाँच अध्यायों में मिलेगा, केवल उन ही का समावेश इस ग्रन्थ में है।

श्रीमद्वल्लभ पंचशताब्दी महा महोत्सव वि. सं. २०३५ में है जिस अवसर पर पाठकों को महाप्रभुजी का यह सर्वोच्च ग्रन्थ राष्ट्रीय भाषा में उपलब्ध हो, अतः कार्य पूर्ण करने का प्रयास अवश्य है परन्तु उन कृपासागर की अनुकम्पा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार पूर्व प्रकाशन में अनेक प्रवर गोस्वामी महाराज एवं वैष्णव महानुभावों ने तनुजा तथा वित्तजा सेवा से हमारे विनम्र प्रयास को सफल बनाया है परन्तु इस बार उससे अधिक उत्साहपूर्वक सहयोग अत्यावश्यक है क्योंकि कार्य सीमित समय में सम्पन्न होना है।

मैं सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस आध्यात्मिक साहित्याध्ययन की रुचि हमें प्रदान करेंजिससे हम उपदेशामृत का लाभ लेकर अपना आत्मकल्याण कर सकें।

जन्माष्टमी
वि. सं, २०३४

प्रो. व्रजभूषणलाल
संस्थाध्यक्ष

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ

६२८–दक्षशपोऽपि न नारदं स्पृशति द्वारकायां शापादेर प्रवेशात् । अनेनैतज्ज्ञापितम्, यदि नारदवद्यादवा भगवत्सेवां कुर्युस्तदा शापोनाभिभवेदिति । अतो भगवत्सेवा देवादीनांमपि दुर्लभा सर्वानर्थनिवारिका मुक्तानामप्यभिलषिता । ११-२-१

६२८–द्वारका में शापादि का प्रवेश नहीं होता, दक्ष का शाप भी नारदजी को नहीं लगता है, इससे यह जाना जाता है कि जो नारदजी की तरह, यादवों ने भगवान् की सेवा की होती तो उनको भी (मूसल वाला) शाप नहीं लगता । इसलिए भगवान् की सेवा देवताओं को भी दुर्लभ है, सब अनर्थों को नाश करने वाली है जिस (सेवा) की मुक्त होने वालों को भी इच्छा होती है ।

६३०–सुगमोपायप्रेप्से केनाप्यंशेन च्युतिरहितस्य चरणसेवैवोपाय इति तदभावे मानुषदेह-सत्संगयोर्वैफल्यम् । ११-२-३३

६३०–सहज में होने वाले उपाय को करने की इच्छा वाले को किसी भी अंश में च्युति रहित (अच्युत भगवान्) की सेवा ही उपाय होने से उसके बिना मनुष्य देह, और सत्संग दोनों ही व्यर्थ हैं ।

६३२–(भागवत) धर्मेषु सम वालुका भूमिवत् त्वरायां साधनपरित्यागे शास्त्र गुरुल्लंघने फल बिलम्बः फला भावो वा न भवति । ११-२-३५

६३२–भागवत धर्म पालन बालु वाली समतल भूमि पर चलने की तरह (सुगम) है यदि जल्दी में साधन छूट जावे अथवा शास्त्र और गुरु आज्ञा का उल्लंघन भी हो जावे तो भी फल प्राप्ति में देरी या फल का अभाव नहीं होता है अर्थात् शीघ्र ही फल की प्राप्ति होती है ।

६३५–तद्वि चिन्तनामारम्य बिनाशावधि दुःखदम् (धनम्) । मृत्युस्तु सुलभो लोके दुर्लभं धनमेव हि । एवमपि मृत्युरूपम् ।११-३-१६

६३५–धन के विचार आरम्भ से नाश होने तक (धन) दुःख ही देने वाला है । संसार में मौत सुलभ है, धन ही दुर्लभ है, इस प्रकार (धन) मृत्युरूप है ।

६३८–औदार्याभावे धनं शिलावत् ११-४-१३

६३८–उदारता के बिना धन शिला (पत्थर) के समान है ।

६४०–परीक्षार्थं वेदनिन्दा (बुद्धा वतारेण) ११-४-२२

६४०–(बुद्धावतारे) परीक्षा के लिए वेद की निन्दा की है ।

'सुबोध रत्नाकर'

॥ श्री हरिः ॥

—विनम्र निवेदन—

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण महाप्रभुजी ने श्रीमद्भागवत का सात प्रकार से अर्थ किया है। शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ, ये अर्थ तत्त्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में सम्पूर्ण भागवत पर है और श्लोकार्थ, शब्दार्थ और अक्षरार्थ ये तीन प्रकार के अर्थ श्रीसुबोधिनी टीका में हैं जो प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कन्ध के पाँचवें अध्याय के दूसरे श्लोक तक उपलब्ध है। भागवत भगवान् श्रीनाथजी का स्वरूप है। द्वादश स्कन्धों को १२ अंग और उनमें वर्णित उनकी १२ प्रकार की लीलाएँ मानी हैं यथा अधिकार १, ज्ञान २, सर्ग ३, विसर्ग ४, स्थिति ५, पोषण ६, ऊति ७, मन्वन्तर ८, ईशानुकथा ९, निरोध १०, मुक्ति ११ और आश्रय १२। १२वाँ स्कन्ध निकुञ्जनायक श्रीनाथजी का वाम हस्त ऊपर उठा हुआ है सो भक्तों को आश्रयार्थ बुला रहे हैं। दशम स्कन्ध में निरोध लीला और इस एकादश स्कन्ध में मुक्ति लीला का वर्णन है।

श्रीमती सुबोधिनी संस्कृत टीका ग्यारहवें स्कन्ध के पाँचवें अध्याय के दूसरे श्लोक तक ही उपलब्ध है। अतः दो श्लोकों की सुबोधिनीजी का अनुवाद कर पञ्चम अध्याय को सम्पूर्ण करने के लिये शेष ५० श्लोकों का हिन्दी अनुवाद दिया गया है उनका भावार्थ समझने के लिए श्रीमद्वल्लभ वंशज गोस्वामी गिरधरजी महाराज काशी वालों द्वारा रचित श्रीमद्भागवत की बाल प्रबोधिनी संस्कृत टीका का अर्थ भी श्लोकार्थ के नीचे दिया है। तदुपरान्त वृत्रासुर चतुःश्लोकी जो षष्ठं स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम चार श्लोक २४ से २७ हैं उनकी सुबोधिनी श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण ने लिखी है उसका अनुवाद तथा चौथे श्लोक पर सुबोधिनीजी टीका का भावार्थ समझाने के लिए श्रीमद्वल्लभ वंशज गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज के 'प्रकाश' का हिन्दी अनुवाद दिया है। इस समग्र प्रकरण को हृदय में धारण करने के लिए भक्तराज वृत्र के पूर्वजन्म का संक्षिप्त वृत्तान्त, षष्ठं स्कन्ध के १४ से १७ अध्यायों से प्राप्त कर उस पुस्तक के अन्त में दिया है। षष्ठं स्कन्ध की लीला पोषण (अनुग्रह या पुष्टि) मानने के कारण ही 'पुष्टि' का सही स्वरूप समझाने के लिए श्रीमद्प्रभुचरण ने हम जीवों पर यह कृपा की है। इस प्रकार एक ही पुस्तक में दो सौरभपूर्ण अनूठे पुष्प हैं जिन्हें भक्तजन अवश्य धारण करेंगे।

श्रीमद्वल्लभाचाय महाप्रभुजी का पञ्चशताब्धी महा महोत्सव दो वर्षों तक मनाए जाने का निर्णय प्रवर गोस्वामी आचार्य चरणों का है जिसमें प्रचार के अनेक साधनों में से साहित्य प्रकाशन एक मुख्य साधन माना जाता है क्योंकि यह स्थाई प्रचार है। अतः इन दो वर्षों में सम्पूर्ण सुबोधिनी (संस्कृत) टीका का राष्ट्रभाषा में प्रकाशन होकर इस संस्था का 'नाम' चरितार्थ परम कृपालु महाप्रभुजी ही करेंगे।

खेद है कि ग्रन्थ प्रकाशन की गति तीव्र करने में हम असफल ही हैं क्योंकि इसका मुख्य अंग मुद्रणालय (छापाखाना) है, हमारे कठिन प्रयास के करने पर भी हम इस कार्य को स्तर पर न ला सके अन्यथा यह ग्रन्थ पाठकों के पास चार मास पूर्व होता और अब दूसरी पुस्तक भेट करने की तैयारी में होते। इसे भगवदिच्छा मानकर सन्तोष करने के अतिरिक्त अन्य उपाय भी क्या है?

तदीयजन कृपाकाँक्षी,

नन्ददास (रामचन्द्र)

मन्त्री

कमल नैन बस कीन्हे मुरली बोलि मधुर मृदु बैन ।
सब विथकिथ कीन्हे एक हि धुनि मुनिजन खग मृग धेनु ।।१।।

मुरली मनहर सांवरै कर-पल्लव निज बास ।
अधर लागि सरवस लई अमृत रस की रास ।।२।।

व्रज नर-नारि दसौं दिसि जमुना पसु पंच्छी द्रुम बेलि ।
तब धुनि सुनि मुनि–जन–मन मोहे त्रिभुवन सुख रत केलि ।।३।।

अब तो हेतौ हमसों नहीं जेत तुमसौं हेत ।
हम चितवति ठाढ़ी सबै तुमहि अधर रस देत ।।४।।

जानि बूझि कै वे करहि एक जाति द्वै भांति ।
पंगति–भेद भलौ नहीं बुरौ सु यह उतपाति ।।५।।

जाति–पाँति मद–गरब तैं रही सकल जग जीति ।
सूर सुमृति श्रुति मेटिकै चली आपनी रीति ।।६।।

———

हरि मुरली कैं प्रेम भरे ।
और कछू भावत नहि उनकौं निसि–दिन रहत खरे ।।१।।

वा बिनु और कछू नहि चाहत रहत सदा उमहे ।
सूरदास–प्रभु ऐसी कीन्ही हम–तन फिरि न चहे ।।२।।

* श्री सुबोधिनी *

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ।।

तत्वदीप निबन्ध भागवतार्थ प्रकरण

एकादश स्कन्ध

अध्याय १ से ५

कारिका—**सप्ताशीत्या तथाऽध्यायैर्निरोधो दशमे त्रिधा ।**
तामसादिविभेदेन भौतिकादिविभेदतः ।।१।।

कारिकार्थ—दशम स्कन्ध में ८७ अध्यायों से निरोधका निरूपण किया है। सात्विक राजस और तामस भक्तों के आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक ऐसे तीन प्रकार का निरोध बताने के लिए इन अध्यायों में कथा कही गई है परन्तु उसमें हीन प्रकार के निरोध से मुक्ति नहीं होती है। इसलिए निरोध कारण है और मुक्ति कार्य है। इस तरह दशम स्कन्ध कारण और ग्यारहवाँ कार्य है। इस प्रकार इन दोनों स्कन्धों की संगति है।

कारिका **अथैक त्रिंशताध्यायैर्मुक्तिरेका दशेस्फुटा ।**
जीवेशयोर्द्विधा भेदाच्चतुर्धाऽपि निरूप्यते ।।२।।
जीवमुक्तिर्द्विधा प्रोक्ता सायुज्याद् ब्रह्मभावतः ।
ब्रह्मणोऽपि द्विधा ज्ञेयानास्य त्यागात्स्वकात्स्वतः ।।३।।

कारिकार्थ—अब ग्यारहवें स्कन्ध में स्पष्ट रूप से ३१ अध्यायों से मुक्ति का निरूपण है। मुक्ति की व्याख्या भाग० २-१०-६ में इस प्रकार दी हुई है। 'मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितीः' अन्यथा रूप (धारण किया हुआ भिन्न स्वरूप) का त्याग कर (अपने) स्वरूप में स्थिर होना मुक्ति है। मुक्ति का ३१ अध्यायों से निरूपण करने का कारण भाग० २-१०-६ ऊपर के श्लोक की सुबोधिनी में कहा है कि भिन्न रूप अर्थात् तत्त्वों के स्वरूप का त्याग ही मुक्ति है। स्वरूप दो हैं—(१) सामान्य और (२) विशेष। इस प्रकार दो अवस्थाएँ हैं और उन दोनों का मुक्ति के लक्षण से सम्बन्ध है। उसमें भी पहले तत्त्वों का त्याग करने का है। तत्त्व २८ हैं, इस प्रकार (१) स्वरूप, (२) अवस्थाएँ (सामान्य और विशेष), और २८ तत्त्व यों ३१ प्रकार

हैं। मुक्ति जीव की और ईश्वर की ऐसी दो तरह की है। जीव की मुक्ति (१) ब्रह्मभाव और (२) सायुज्य इस प्रकार दो तरह की है। ईश्वर की मुक्ति भी दो तरह की है—(१) स्वयं ने जो जीववेष (नाट्य) धारण किया हो उसका त्याग, (२) अपनी इच्छा से अथवा (नित्यमुक्ति स्वभाव त्याग वाले होने से) स्वयं से होने वाले त्याग ऐसे मुक्ति चार प्रकार की हुई जिससे इस स्कन्ध में चार प्रकरण हैं ॥३॥

कारिका—**आद्या पञ्चभिरध्यायैर्द्वितीया तत्त्वसम्मितैः।**
एकैकेन तथा शिष्टावभिनेयौ परं यतः ॥४॥

कारिकार्थ—पहली अर्थात् जीव की ब्रह्मभाव मुक्ति इस स्कन्ध के प्रथम पाँच अध्यायों से कही गई है। दूसरी अर्थात् जीव की सायुज्य रूप मुक्ति छट्ठे से उन्नतीसवें (चौबीस अध्यायों) से कही गई है। शेष का अर्थात् ईश्वर के नाट्य रूप का त्याग और स्वयं से हुई मुक्तियाँ एक-एक अर्थात् क्रमानुसार तीसवें और इकतीसवें अध्यायों से कही गई है क्योंकि ईश्वर की दो मुक्तियाँ तो केवल अभिनय (नाट्य) मात्र हैं ॥४॥

कारिका—**विद्यया प्रथमा मुक्तिः प्रकृतेस्त्यागतः परा।**
ज्ञानेन पूर्वा भक्त्याऽन्या प्रथमे दश बोधकाः ॥५॥

गुणनिर्गुणभेदेन द्वितीये भगवान् परः।
ब्राह्मणश्च तथा हंसो भीष्मो भिक्षुः पुरूरवाः ॥६॥

पञ्चाऽन्ये भगवांश्चापि द्विरूपः सप्त बोधकाः।
ऐश्वर्यादियुतः कृष्णः पूर्णो बोधक ईर्यते ॥७॥

कारिकार्थ—जीव की पहली (ब्रह्मभावरूप) मुक्ति विद्या से प्राप्त होती है और दूसरी सायुज्यरूप मुक्ति प्रकृति का त्याग करने से होती है। पहली मुक्ति ज्ञान से और दूसरी भक्ति से प्राप्त होती है। पहली ज्ञान से प्राप्त होने के कारण उसके निरूपण में ज्ञानदाता १० कहे गए हैं जिनमें से नारदजी निर्गुण हैं और नवयोगेश्वर सगुण हैं। दूसरी मुक्ति भक्ति से प्राप्त होती है जिसके निरूपण में भक्ति के साधनों का ज्ञान देने वाले भगवान् उत्तम हैं और (१) अवधूत ब्राह्मण, (२) हंस, (३) भीष्म, (४) भिक्षु, (५) पुरुरवा ये अन्य पाँच उपदेश करने वाले हैं। भगवान् भी दो स्वरूप से उपदेश देते हैं (१) मूलस्वरूप से और (२) अवतार स्वरूप से। इसलिए (१) मूलस्वरूप से श्रीकृष्ण और (२) अवतार स्वरूप से हंस, इनके साथ अवधूत ब्राह्मण इत्यादि पाँच मिलकर सात भक्ति के मार्गों का उपदेश देने वाले होते हैं, इसलिए ऐश्वर्य आदि छः गुणवाले भगवान् श्रीकृष्ण को ही यहाँ उपदेश देने वाले कहे गए हैं ॥७॥

कारिका—**नारदो निर्गु णस्तत्र कविप्रभृतयः परे ।**
वैराग्यं भगवद्धर्माः सर्वनिर्णय एव च ।।८।।
नित्यं कथायाः श्रवणं पूजा चेत्यङ्गपञ्चकम् ।।८½।।

कारिकार्थ– पहली प्रकार की मुक्ति के प्रकरण में जो १० बोध करने वाले कहे गए हैं उनमें से नारदजी निर्गुण हैं और कवि आदि नवयोगेश्वर भिन्न प्रकार के (सगुण) हैं। (१) वैराग्य, (२) भगवान् के धर्म, (३) माया का स्वरूप और उससे तरने का उपाय (नारायण की निष्ठा और कर्म करने से कर्मों का किस प्रकार त्याग होता है) इन सबका निर्णय (४) हरि की कथा का सदा श्रवण और (५) भगवान् का पूजन। ये पाँच, ज्ञान के अङ्ग हैं। ज्ञान से अविद्या दूर होने के कारण यह पहली भगवद्भावरूप मुक्ति हुई जिसके प्राप्त होने से इस प्रकरण में पाँच ज्ञान के अङ्ग, इस स्कन्ध के प्रथम पाँच अध्यायों में क्रमानुसार कहे गए हैं ।।८½।।

कारिका—**अभिप्रायात्तु वैराग्यं पूर्वत्राङ्गं निरूपितम् ।**
प्रक्रिया बोधिका ज्ञेया शेषयोर्बीज भावतः ।।९½।।

कारिकार्थ—ज्ञान प्राप्त होने पर अहन्ता ममता का नाश होता है उस(ज्ञान) का मुख्य अङ्ग वैराग्य है, इसलिए आरम्भ में (पहले अध्याय में) मूसल की कथा कही गई है जिससे यादवों का संसार में वैराग्य होवे ऐसा इस प्रकरण की रचना से जाना जाता है। जो मूसल की कथा यादवों में वैराग्य उत्पन्न कराने के अभिप्राय से नहीं कही गई होती तो नारदजी और वसुदेवजी के संवाद के बाद, छठे अध्याय में देवता लोग भगवान् की स्तुति करते हैं, उसके आरम्भ में या उसके पीछे ही यह कथा कही जाती ।।९½।।

कारिका—**द्वितीयस्य तु मुख्याङ्गं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।१०।।**
चतुर्मूर्त्तिर्हरिः प्रोक्तस्त्रयाणां पूर्वमीरितम् ।
सङ्कर्षणस्य चरितमत्र स्पष्टं निरूप्यते ।।११।।

कारिकार्थ—दूसरा प्रकरण जीव की सायुज्य मुक्ति का है जिसका साधन भक्ति है और मूल परब्रह्म जिनमें सबकी प्रतिष्ठा है उसको ही भक्ति करनी चाहिए परब्रह्म हरि चार स्वरूप से प्रकट हुए हैं—वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण। जिनमें से वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के चरित्र पहले कहे गए हैं अब सङ्कर्षण के चरित्र स्पष्ट रूप में कहे जाते हैं ।।११।।

कारिका—**ज्ञानशक्तिस्तस्य मुख्या वासुदेवस्तु मोक्षदः ।**
अर्थकामौ द्वितीयस्तु धर्मं यच्छति मध्यमः ।।१२।।
उपदेष्टा क्रियायां च निर्दोषत्वाय युक्तितः ।

कारिकार्थ—सङ्कर्षण (बलदेवजी) में ज्ञान शक्ति मुख्य है, जिससे वे ज्ञान देते हैं। उनका चरित्र यहाँ स्पष्ट रूप से बताने के लिए इस प्रकरण में ज्ञान का बोध किया गया है वासुदेव मोक्षदाता हैं, प्रद्युम्न अर्थ और काम (पुरुषार्थ) प्राप्त कराने वाले हैं, अनिरुद्ध धर्म प्राप्त कराते हैं और जीव को दोषरहित करने के लिए कर्म का बोध करते हैं। सङ्कर्षण का शेष चरित्र इस प्रकरण में इस अभिप्राय से कहा गया है कि उनके चरित्र की भी जानकारी मिले तब परब्रह्म के चारों स्वरूपों का चरित्र ज्ञान होने से उनमें निष्ठा प्राप्त होवे और उस भक्ति से सायुज्य मुक्ति मिले ।।१२½।।

कारिका—**अक्लिष्टकर्मा कालादेस्तथोपायं करोति हि ।।१३।।**
तदर्थं मौसलं प्रोक्तं संक्षेपेण पुरोदितम् ।
अन्ते चतुर्णां चरितं सर्वमेवोपसंहृतम् ।।१४।।

कारिकार्थ—अक्लेश कार्यकर्त्ता भगवान् सङ्कर्षण ने कालादि के द्वारा यादवों के वंश का विनाश करने का उपाय किया। यादवों को ब्राह्मणों का श्राप दिलाया जिससे यादवों के कुल का संहार होवे। इस स्कन्ध के पहले अध्याय में मूसल की कथा संक्षेप में कही गई है वही अध्याय ३० के श्लोक ५–२४-३३ में फिर यह बताने के लिए कही है कि सङ्कर्षण ने यादवों के कुल का संहार कराने का उपाय ब्राह्मणों की श्रापरूप युक्ति से किया है इस प्रकार अध्याय ३०वें तथा ३१वें में ईश्वर की दो प्रकार की मुक्ति कही गई है। ममता का नाश करने के लिए प्रद्युम्न अनिरुद्ध और सङ्कर्षण देह का त्याग कर, अपने प्रारम्भ किए हुए नाट्य को पूर्ण कर लेते हैं इस प्रकार अध्याय ३०वें में तीसरे प्रकार की मुक्ति का निरूपण किया है और ३१वें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी इच्छा से अपने मूलस्वरूप में स्थिति करने (श्लोक ११ १२-१३) की कथा कह कर चौथे प्रकार की मुक्ति का निरूपण किया है। इस तरह (स्कन्ध के अन्त में) इन चार स्वरूपों के सब चरित्रों का उपसंहार किया गया है ।।१४।।

कारिका—**द्वयं निर्गलितं ह्यत्र भगवच्चरितेन हि ।**
तदा स्थितास्तु निर्द्वन्द्वाः सुखं प्राप्य परं गताः ।।१५।
नामारूढचरित्रस्य कीर्तनाच्चाऽपरे तथा ।

कारिकार्थ—भगवान् के सम्पूर्ण चरित्रों से दो निर्णय प्राप्त होते हैं—(१) भगवान् के समय में (पाण्डव आदि) जैसे थे वैसे ही द्वन्द्वरहित रहे और आनन्द प्राप्त कर उन्होंने भगवान् की प्राप्ति की। (२) भगवान् के समय के बाद उत्पन्न हुए जीव भी भगवान् श्रीकृष्ण के नाम से प्रगट हुए चरित्र का जो भक्ति से कीर्तन करेंगे, वे भी उसी प्रकार आनन्द प्राप्त कर भगवान् को प्राप्त होंगे ।। १५½।।

कारिका—**लोकदृष्ट्या चरित्रस्य ग्रहणं बोधितं भवेत् ॥१६॥**
अतो विशेषं विज्ञातुं पुनः पृच्छति तत्त्वतः ।

भगवानेव सर्वस्य कर्त्तेत्यत्र निरूपितम् ॥१७॥
उपक्रमेण निर्दुष्टः कथया चाऽपि बोधित ।

कारिकार्थ—पहला प्रकरण—जीव की ब्रह्मभाव मुक्ति अध्याय १ से ५ तक है ।

पहले अध्याय में यादवों को वैराग्य प्राप्त कराने के लिए ब्राह्मणों द्वारा श्राप दिलाने का वर्णन है । यादवों को श्राप कैसे हुआ ऐसा प्रश्न राजा परीक्षित ने श्लोक ८-९ में किया है जिसका उत्तर शुकदेवजी श्लोक १० से आरम्भ करके देते हैं । राजा परीक्षित ने यह प्रश्न इसलिए किया कि जिससे लोक दृष्टि से भी भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र अच्छी तरह समझ में आजावे । इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेवजी ने ऐसे कहा कि भगवान् ही सबके कर्त्ता हैं, क्योंकि उन्होंने ही यादवों का संहार करने की इच्छा की । १०वें श्लोक के पहले भी ५वें श्लोक में भगवान् के ही श्राप के बहाने से कुल का संहार करने के बाबत कहा गया है । इस श्राप को दूर करने के लिए भगवान् समर्थ होते हुए भी उनने बाद में श्राप का अनुमोदन ही किया (श्लोक २४) । दोषरहित भगवान् ने ही कुल के संहार की इच्छा की ऐसा आरम्भ में चौथे श्लोक में भी कहा गया है और श्राप की कथा कहकर भगवान् ने ही श्राप के बहाने से कुल का संहार किया ऐसा कहा गया है । इन सब (शाप दिलाना, संहार करना इत्यादि) के कर्त्ता भगवान् स्वयं ही हैं ॥१७½॥

कारिका—**ज्ञानं पुरा भगवता वसुदेवाय बोधितम् ॥१८॥**

गुरुत्वभावनाभावाद्विस्मृतस्तत्पुनर्हरिः
नारदं स्थापयित्वाऽऽह मन्यते तं यतः पिता ॥१९॥

कारिकार्थ—भगवान् ने वसुदेवजी को पहले ज्ञान दिया था (स्कन्ध १०, अ. ८२, श्लोक २२-२५) परन्तु वसुदेवजी ने भगवान् को पुत्रभाव होने के कारण गुरु नहीं माना और इस प्रकार की बुद्धि वसुदेवजी की होने से वे ज्ञान को भूल गए, इसलिए भगवान् ने नारदजी को गुरु स्थापित करके वसुदेवजी के पास ज्ञान देने के लिए भेजा क्योंकि वसुदेवजी नारदजी का आदर करते थे और भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पुत्र समझते थे इससे गुरु की भावना उनके हृदय में प्रगट नहीं हुई ॥१९॥

कारिका—**गोपिकावद्बहिर्दृष्टौ व्यसनत्वं हि भासते ।**
ससारे निखिले तस्य त्यागेच्छा च प्रजायते ॥२०॥
अतः सम्यक्प्रबोधाय नारदोऽत्र निरूपितः ।

कारिकार्थ— जब तक वसुदेवजी की बाहर की दृष्टि रही तब तक गोपियों की तरह वे भी दुःखी होते थे (श्लोक ६) जिससे सब संसार का त्याग करने की भी उनको इच्छा हुई इसलिए उनको ज्ञान देने की आवश्यकता भी थी। इसलिए भगवान् उनको अच्छे प्रकार से ज्ञान का उपदेश देने के लिए नारदजी को गुरु बताकर उनके द्वारा वसुदेवजी को ज्ञान का उपदेश दिलाते हैं ।।२०½।।

कारिका—**पुष्टिमार्गस्थितं मत्वा कदाचिन्नैव मन्यते ।।२१।।**
अतो मर्यादया सिद्धान्नव योगीश्वरान् जगौ ।

तेर्गुणातिक्रमे जाते नारदोक्तं हि भासते ।।२२।।

कारिकार्थ—नारदजी पुष्टिमार्गीय हैं इस प्रकार जानकर कदाचित् वसुदेवजी उनके उपदेश का आदर न करें इसलिए मर्यादा मार्ग से सिद्धि प्राप्त किए हुए नौ योगेश्वरों ने निमि को जो उपदेश दिया सो नारदजी ने वसुदेवजी को कहा क्योंकि नव योगेश्वरों के दिए हुए उपदेश से वसुदेवजी गुणों का अतिक्रमण कर गुणातीत हो जाए और नारदजी का उपदेश उनकी बुद्धि ग्रहण कर सके ।।२२

कारिका—**नवानां भूमिकाः प्रोक्ताश्चतस्रो ह्यधिकारतः ।**
अतोऽध्यायैश्चतुर्भिर्हि तदुक्तं विनिरूप्यते ।।२३।।

कारिकार्थ—निमि का अधिकार देख उसके अधिकारानुसार नौ योगेश्वरों ने चार विभाग से उसको उपदेश दिया जो दूसरे से पाँचवें अध्याय (अर्थात् ४ अध्यायों) में है वही नारदजी ने वसुदेवजी को उपदेश दिया है ।।२३।।

कारिका—**तत्र सर्वोत्तमो यस्तु तस्य कार्यद्वयं मतम् ।**
भगवद्धर्मकरणं ततो भागवतो भवेत् ।।२४।।

अथवा भगवद्भक्तैस्तद्धर्मास्तु समाचरेत् ।

कारिकार्थ—नव योगेश्वरों में से उत्तम कवि ने भगवान् के चरणकमल की सेवा करनी, भगवान् को सर्व समर्पण करना इत्यादि उत्तम भक्तों को भगवान् के प्रति आचरण करने के धर्मों का ज्ञान दिया (श्लोक ३३-४३) भगवान् के धर्म का पालन करने वाले भगवान् के भक्त को किन लक्षणों से पहचाना जाए और उसके वाद उनके साथ भगवान् के धर्मों का आचरण करने की जानकारी दूसरे योगेश्वर हरि ने दी (श्लोक ४५-५५) इस प्रकार प्रथम श्रेणी के सबसे उत्तम भक्त को धर्मों का पालन करने की विधि इस अध्याय में योगेश्वर कवि और हरि ने राजा निमि को बताई इस प्रकार नारदजी ने वसुदेवजी को कहा ।।२४½।।

कारिका—उत्तमस्य तु चत्वारि कर्त्तव्यानीति रूप्यते ।।२५।।
आदौ मायापरिज्ञानाद्वैराग्यं सुदृढं मतम् ।
ततस्तत्तरणोपायं गुरुसेवादिकं चरेत् ।।२६।।

ततो ब्रह्म परं ज्ञात्वा यज्ञान् कुर्यादहर्निशम् ।
वैदिकांस्तान्त्रिकान् वाऽपि तदर्थं वेदनिर्णयः ।।२७।।

कारिकार्थ—दूसरी श्रेणी के उत्तम भक्तों के आचरण करने के धर्मों का वर्णन तीसरे अध्याय में कहा गया है इस अध्याय में (१) योगेश्वर अन्तरिक्ष निमि को माया का स्वरूप बताते हैं (श्लोक ३-१६ तक) यह माया के स्वरूप का ज्ञान वैराग्य दृढ़ करता है बाद में (२) योगेश्वर प्रबुद्ध गुरु की सेवा इत्यादि से माया को तर जाने का उपाय बताते हैं (श्लोक १८-३३) नारायण में आसक्तिवाला माया से सहज ही में पार हो जाता है, इस प्रकार ३३वें श्लोक में बताते हैं। अनन्तर (३) योगेश्वर पिप्पलायन परब्रह्म नारायण के स्वरूप का वर्णन करते हैं। (श्लोक ३५-४०) और चौथे योगेश्वर आविर्होत्र वैदिक और तान्त्रिक इत्यादि यज्ञों को सदा करे, उन कर्मों से ही कर्म का त्याग अथवा नैष्कर्म्य प्राप्त करने के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं और वेद का ऐसा ही निर्णय होना बताते हैं (श्लोक ४३-५५) दूसरी कक्षा के उत्तम भक्त को (१) माया का स्वरूप जानना (२) उससे पार होने का उपाय करना (३) परब्रह्म का स्वरूप जानना (४) वैदिक तान्त्रिक इत्यादि यज्ञ कर उन कर्मों से नैष्कर्म्य प्राप्त करना, ये चार कार्य करने के हैं ।।२७।।

कारिका—तत्राऽशक्तस्य सततं कथाश्रवणमीर्यते ।
सर्वावतारैर्यज्जातं तस्मिश्चेत्तः सुखी भवेत् ।।२८।।

कारिकार्थ—तीसरी श्रेणी के मध्यम भक्तों के करने के कर्म चौथे अध्याय में कहे गए हैं जो तीसरे अध्याय में कहे हुए कार्य करने में आसक्त हों उनको भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों के चरित्रों की कथा श्रवण करने से सुख होता हो तो उनको सदा इन कथनों का श्रवण करना चाहिए। यह बोध द्रुमिल योगेश्वर ने राजा निमि को किया ।।२८।।

कारिका—ततोऽपि प्रथमो यस्तु प्राकृतः स निगद्यते ।
तस्या भजननिन्दायां सन्निवेशः पुरा भवेत् ।।२९।।

ततो युगानुरूपेण भजेत् स्वस्याऽधिकारतः ।

कारिकार्थ—भागवत (भक्त) की चतुर्थ कक्षा को 'ततोऽपि' इत्यादि डेढ़ श्लोक में कहते हैं। पूर्व में बताए हुए अधिकारियों में भी जो प्रथम अधिकारी (हीनाधिकारी) वह प्राकृत अधिकारी कहा जाता है। वह हीनाधिकारी भी यदि भगवद्भजन की निन्दा नहीं करता है तो पहले उसका

भगवन्मार्ग में आग्रह दृढ़ हो जाता है, तदनन्तर अपने प्राकृत अधिकार के अनुसार युग के अनुरूप वह मुमुक्षु पुरुष भगवान् का भजन करे ।।२९३।।

शंका होती है कि जघन्य अधिकारी की मुक्ति कैसे होगी ? इसके लिए कहते हैं ।।२९३।।

कारिका—**भक्ति चाऽग्रे स्वयं प्राह कृतार्थत्वं च पुष्टितः ।।३०।।**

कारिकार्थ—भगवान् स्वयं ही भक्ति का वर्णन आगे करेंगे तथा पुष्टि (अनुग्रह) से वह प्रथमाधिकारी (प्राकृत) भो कृतार्थ हो जाएगा। यहाँ प्राह पद देहली दीपक न्याय से दोनों जगह सम्बद्ध है तात्पर्य यह है कि भगवान् के द्वारा वर्णित भक्ति करने से तथा भगवान् के अनुग्रह से उस प्रथमाधिकारी की मुक्ति हो जाएगी ।।३०।।

शंका— इस वसुदेव-नारद संवाद (कथा) का उपन्यास ब्रह्मवाद को समझाने के लिए किया है किन्तु यहाँ श्रोता (वसुदेव) यदि शुकदेव जैसा हो तब तो वह संवाद उचित होगा परन्तु वैसा तो यहाँ दिखाई नहीं देता तो फिर इस कथा को ब्रह्मवाद का बोधन करनेवाली कैसे कही जाएगी। इस शंका का उत्तर हैं -

कारिका **ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वात्कार्यमत्र निरूपितम्**
मोहाभावस्तु तेनैव सिद्धमेवाऽखिलं यतः ।।३१।।

कारिकार्थ—श्रोता वसुदेव को ज्ञान तो कारागृहादि में पहले ही सिद्ध था। यहाँ तो केवल ज्ञानी के कर्त्तव्य का निरूपण किया है। ज्ञानी का कर्त्तव्य है श्रवण उस श्रवण से ही मोह का अभाव हो जाएगा तो उससे सकल साधनों की सिद्धि हो जाएगी फिर ब्रह्मभाव में क्या सन्देह है इसकी पुष्टि इस अध्याय की समाप्ति के 'जहतुर्मोहमात्मनः' से होती है। वसुदेव-देवकी ने अपने मोह का परित्याग किया। इस मोह निवृत्ति से ही उन्हें सकल साधन प्राप्त हुए। शंका होती है कि जब वसुदेवजी का मोह निवृत्त हो गया तो उसके अनन्तर उनमें अभिमान की स्थिति कैसे रही। इसका उत्तर यह है कि मोह निवृत्ति के अनन्तर जो अभिमान की स्थिति रही उसमें तो भगवान् की इच्छा कारण थी। बिना अभिमान की स्थिति के आगे कही जाने वाली लीला नहीं हो सकती थी ।।३१।।

भूमिका

दशम स्कन्ध में भगवान् ने लीलाओं द्वारा अविद्या का नाश किया जिससे सकल मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए निरोधात्मक दशम स्कन्ध कारण रूप है और मुक्तिलीलात्मक एकादश स्कन्ध कार्य है, इस प्रकार दोनों स्कन्धों की कारण, कार्य संगति है।

एकादश स्कन्ध में स्वरूप स्थिति रूप मुक्ति लीला का निरूपण ३१ अध्यायों में है। इस स्कन्ध में दो प्रकरण हैं—(१) जीवमुक्ति प्रकरण और (२) ब्रह्ममुक्ति प्रकरण। इन दो प्रकार के प्रकरणों में से पहला ब्रह्मभाव प्राप्ति प्रकरण पाँच अध्यायों में वर्णित है। जीव को अंशभाव की प्राप्ति विद्या द्वारा ही होती है। विद्या के भी अविद्या की तरह पाँचपर्व[1] हैं, अतः एक-एक अध्याय में विद्या के एक-एक पर्व का निरूपण किया गया है, जिससे ब्रह्मभाव प्रकरण का वर्णन पाँच अध्यायों में हुआ है—

प्रथम अध्याय में विद्या के प्रथम पर्व वैराग्य का निरूपण है—भगवान् ने ब्राह्मण द्वारा यादवोंको शाप दिलवाकर स्वकुल की लीला समेटने से अपना वैराग्य प्रदर्शित किया है, वैराग्य विद्या का पूर्व रूप है जिससे अविद्या से उत्पन्न 'प्राणाध्यास' की निवृत्ति होती है।

दूसरे अध्याय में विद्या के दूसरे पर्व सांख्य का निरूपण है। मुक्ति का कारण अद्वैतज्ञान है, इसलिए प्रथम भगवान् और सर्व पदार्थों के स्वरूप का तत्वविवेचनापूर्वक सत्य तथा पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, वह प्राप्त करने के लिए उस सत्सङ्ग में जाना चाहिए जिस सत्सङ्ग में भगवान् के एवं जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान मिलता हो, भगवान् की लीलाओं का वास्तविक भाव, रहस्य, समझाया जाता हो, भगवान् की प्रसन्नता के जो दैन्यादि साधन हैं उनका उपदेश मिलता हो तथा भगवत्कीर्तनादि होता हो, ऐसे सत्सङ्ग में जाकर भगवद्भक्तों के साथ उनका श्रवण एवं मनन करना चाहिए, इस प्रकार के सत्सङ्ग से साङ्ख्य ज्ञान प्राप्त कर जीव अविद्या के पर्व स्वरूप के अज्ञान को नाश करने में समर्थ होता है। स्वरूपाज्ञान की निवृत्ति होते ही स्वस्वरूप के ज्ञान की स्फूर्ति होती है, अर्थात् जीव समझने लगता है कि मैं ब्रह्म का अंश हूँ[2] न कि देह आदि हूँ। मेरा धर्म है अपने अंशी का भजन करना।

१—वैराग्यं सांख्ययोगौतपोभक्तिश्च केशवे।

२—ममैवांशो जीवलोके, भगवद्गीता अंशोनानाव्यपदेशात् ब्रह्मसूत्र।

तीसरे अध्याय में योग का निरूपण है, जिसमें प्रबुद्ध योगेश्वर ने उपदेश दिया है कि 'सर्वतोमनसोऽसङ्ग", अर्थ—सर्वलौकिक विषयों से दूर रहकर मन का निरोध करना, जैसे मन भगवद्धर्म के प्रति प्रेमवाला हो ऐसी शिक्षा ही योगविद्या व उसका पर्व है। इस योगविद्या को प्राप्त करने से अविद्या के पर्व 'अन्तःकरणाध्यास' की निवृत्ति होती है। सारांश यह है कि चित्त की समग्र वृत्तियों को अपने वश में करना योग है, जिसके द्वारा जीव का अन्तःकरणाध्यास टूट जाता है। स्वस्वरूप के ज्ञान में होने वाली रुकावट नष्ट होती है।

चौथे अध्याय में विद्या के तीसरे पर्व तप का निरूपण है, जैसे कि नारायण की तपस्या, अवतारों के चरित्र एवं नित्य हरि कथा श्रवणरूप तप का निरूपण है, विद्या के इस तप रूपपर्व से जब अविद्या के पर्व द्वारा उत्पन्न 'इन्द्रियाध्यास' की निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त के सर्वदोष निवृत्त हो जाते हैं।

पांचवें अध्याय में 'भक्ति' का कथन है एवं देवस्तुति में भगवत्स्वरूप तथा भगवद्भक्ति का निरूपण है और भगवद्भजन न करने वालों की निन्दा द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता बताई है विद्या के इस भक्ति रूप पर्व से अविद्योत्पन्न 'देहाध्यास' का नाश होता है। ※

अध्याय ६ से २९ तक २४ अध्यायों में सायुज्य मुक्ति प्रकरण है २४ तत्वों के अतिक्रमण करने से जब भक्ति सिद्ध होती है तब सायुज्य मुक्ति मिलती है।

तत्व २४ हैं अतः २४ अध्यायों से जीव मुक्ति प्रकरण में सायुज्य मुक्ति प्रकरण का निरूपण है।

अनन्तर ३०-३१ दो अध्यायों में ब्रह्म मुक्ति प्रकरण है ब्रह्ममुक्ति प्रकरण का भावार्थ यह है कि अहन्ता-ममता के आश्रय स्थान मनुष्य रूप का जो नाट्य भगवान् ने कर दिखाया उस नाट्य को उनने समेट लिया।

अहन्ता—ममता इन दोनों के नाश का विषय इस प्रकरण में वर्णित है, अतः इस प्रकरण के दो अध्याय हैं, एक में ममता का नाश और दूसरे में अहन्ता के नाश का वर्णन है।

अध्याय ३० में ममतास्पद यादवों को स्वेच्छा से श्राप दिलवाकर नाश कराया यह कथा कह ममता त्यागरूप अभिनय का वर्णन किया है, जिससे दिखाया कि वास्तव में मुझे ममता नहीं, मैं ब्रह्म हूं अतः मुझ में ममता है ही नहीं, मैं सदैव मुक्त ही हूं।

अध्याय ३१ में अहन्ता के आस्पद (स्थान) देहत्याग से बता दिया कि मेरे में देहाध्यास भी नहीं है, कारण कि मैं सदैव मुक्त स्वरूप हूं, यह सब मेरी नाट्य लीला है, वास्तव में तो मेरी

※—आचार्य श्री की सुबोधिनी' चतुर्थाध्याय एवं पांचवें के दो श्लोकों पर ही प्राप्त हुई है।

यह देहत्याग लीला वास्तविक नहीं है, क्योंकि मुझमें और मेरी देह में भेद नहीं है, जैसे मैं रस स्वरूप हूं वैसे ही यह देह भी रसरूप है. अतः मैं और देह पृथक नही हूँ आनन्दमय होने से दोनों एक ही है, जीववत् देह से मैं पृथक नहीं हूँ जीव सच्चिद्रूप है उसकी देह पाञ्च भौतिक है अतः वे पृथक पृथक हैं।

प्रभास में की हुई मेरी लीला असुरों के व्यामोहार्थ है तथा मनुष्यों को अहन्ता ममता त्याग के शिक्षार्थ है।

महाफल तो 'निरोध' ही है, न कि मुक्ति का आश्रय, मुक्ति व आश्रय तो महाफल रूप निरोधार्थं ही भगवान् कृपा कर लीलार्थ सृष्टि के जीवों को प्रत्यापति रूप से कराते हैं;

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' इस श्रुति प्रोक्त मुक्ति लक्षणानुसार लीला सृष्टि के जीवों की लीलोपयोगी स्वरूप से स्थिति ही मुक्ति हैं, अतः भगवदन्तस्थिति रूप जो मुक्तत्व-भाव है उस भाव से मुक्त हो जाना ही एकादश स्कन्ध का तात्पर्य है द्वादशस्कन्ध प्रोक्त आश्रय तो भगवान् ही है—अतः एकादश स्कन्धीय मुक्ति तथा द्वादशस्कधोय आश्रय दोनों सिद्ध होने के अनन्तर महाफल रूप निरोध दृढ़ होता है जिस निरोध के होने पर ही प्रपञ्चविस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति होके व्यसनावस्था प्राप्त होती है वह व्यसनी क्षण भर भी भगवान् और तदर्थ क्रिया किए बिना रह नहीं सकता है— आचार्य श्री की आज्ञानुसार 'प्राप्तं सेवेत निर्ममः' आज्ञा का पालन कर सच्चात्यागी बन जाता है—उस समय वह रसरूप रसेश्वर के पूर्णानन्द का अनुभव कर उसमें ही मग्न रहता है।

इत्यलम्

श्रीकृष्ण–उद्धव संवाद

(राग केदारो)

क्यौं करि सकौं आज्ञा भंग ।
करुन मय पद-कमल लालच, नहिन छूटत संग ।।
यह रजायसु होत मोसन, कहत बदरी जान ।
कह करौं मम पाप पूरन, सुनि न निकसत प्रान ।।
मैं ऽपराधी ब्रज–बधुनि सौं, कहे वचन विष तूल ।
मोहिं तजि कै अवर को बिय, सहै ऐसे सूल ।।
अब न जौ तुम जाहु ऊधौ, मिटै जुग भृत रीति ।
हौं जु तेरी सकल जानत, महा मोसन प्रीति ।।
सकल ज्ञान प्रबोधि उनसौं, कहि कथा समुझाइ ।
जादवन कौ प्रलय सुनि वे, मरहिंगी अकुलाइ ।।
अति विषाद सु हृदै करि-करि, उठि चल्यौ ह्वै दीन ।
सूर-प्रभु तुम कृपा-सागर, किन भयौं हौं मीन ।।

सूरसागर-एकादश स्कन्ध

हंस अवतार वर्णन

रागविलावल

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ । हरि चरनारविंद उर धरौ ॥
हरि ज्यों धर्यो हंस अवतार । कहौं सु कथा सुनौ चित धारि ॥
सनकादिक ब्रह्मा पे जाइ । करि प्रनाम पूछ्यौ या भाइ ॥
किधों विषय कौ चित गहि रह्यौ । कै विषयनि ही चित कौं गह्यौ ॥
नीर-छीर ज्यों दोउ मिलि गए । न्यारे होत न न्यारे किए ॥
हम तौ जतन कियौ बहु भाइ । तुम अब कहो सु करें उपाइ ॥
ब्रह्मा कौं उत्तर नहिं आयौ । तब सनकादिक गर्व बढायौ ॥
ज्ञान हमारौं अतिसय जोइ । ब्रह्मा रह्यौ निरुत्तर होइ ॥५॥
ब्रह्मा हरि-पद ध्यान लगाए । तब हरि हंस रूप धरि आए ॥
सबनि रूप देखि सुख पायौ । सबहिनि उठि कै माथौ नायौ ॥
सनकादिकन कह्यौ या भाइ । हमकौं दीजै प्रभु समझाइ ॥
को तुम क्यों करि इहाँ पधारे । परम हंस तब वचन उचारे ॥
यह तो प्रश्न जोग है नाहीं । एकै आतम हम तुम माहीं ॥
जौ तुम देह देखि कै पूछौ । तोहू प्रश्न तुम्हारौ छूछौ ॥
पंचभूत ते सब तन भए । कहा देखिकै तुम भ्रमि गए ॥
यह कहि उनकौ गर्व निवार्यौ । बहुरो या विधि बचन उचारयौ ॥
विषय चित्त दोऊ हैं माया । दोऊ जड़ ज्यौं तरुवर छाया ॥
तरुवर डोलैं डोले सोइ । ज्यों जिय लगि चित चेतन होइ ॥
फिरि जब चित्त विषय तन जोवै । चित्त विषै संयोग तब होवै ॥
ऐसी भांति रहैं दोउ गोइ । तिन्है न्यारे करि सकै न कोइ ।
ज्यौं सपने में सुख दुःख जाइ । जानि सत्य राखै चित लाइ ॥
जब जागे तब मिथ्या जानै । ज्ञानी इनकौं नित यों मानै ॥
विषय चित्त दोऊ भ्रम जानौ । आतम रूप सत्य करि मानौ ॥
श्रवनादिक मैं चित्त लगावहु । प्रेम सहित मम रूपहि ध्यावहु ॥
ऐसैं करत विषै हू होइ । अरु मम चरन रहै चित गोइ ॥
जो ऐसी विधि साधन करै । सो सहजहिं मम पद अनुसरै ॥
और जु बीचहि तन छुटि जाइ । तौ लै जन्म भक्त गृह आइ ॥
ह्वाँ हूँ प्रेम-भक्ति को ठान । पावै मेरो परमऽस्थान ॥
सनकादिक सौं कहि यह ज्ञान । परम हंस भए अंतर्धान ॥
जो यह लीला सुनै सुनावै । सूर सो प्रेम-भक्ति कौं पावै ॥

⌘ श्री सुबोधिनी ⌘

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

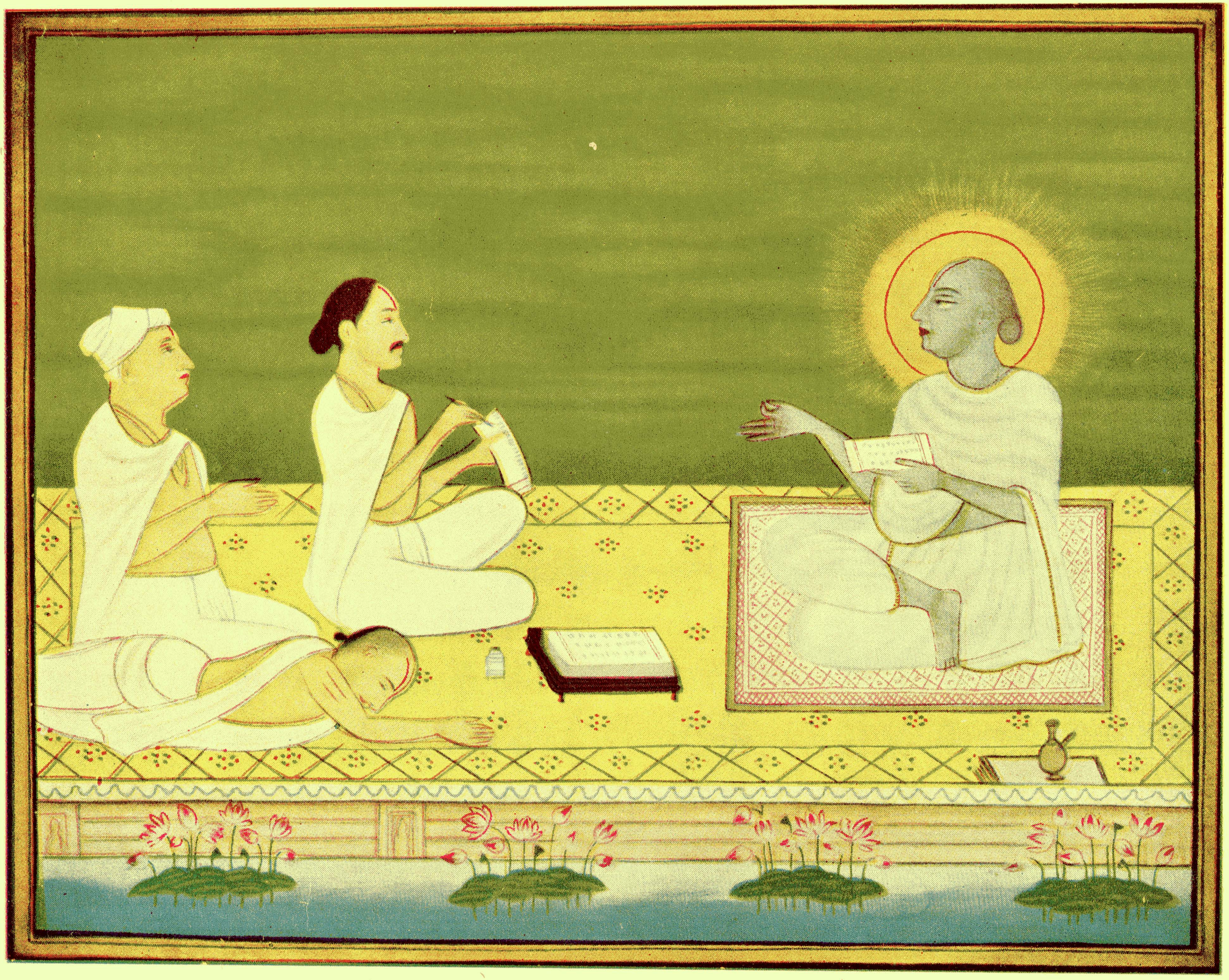

अखण्ड भूमण्डलाचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव) प्रकरण

"अध्याय—" १

भगवान् का मुक्तिलीला विहार तथा यदुकुल का उपसंहार

इस प्रथम अध्याय में भगवान् का स्वरूप व्यवस्थिति रूप मुक्ति-लीला विहार में वैराग्य रूपी बीज का कथन है। विद्या के प्रथम पर्व वैराग्य उत्पन्न करने के लिये, भगवन्मत को जानने वाले विप्रों से यादवों को ब्रह्म शाप की प्राप्ति हुई। मूसल प्रसंग के बहाने से यदुकुल का संहार भगवान् ने ही किया है। पंच पर्वा का मुख्य अंग वैराग्य वह है जो जीव के अन्तः करणाध्यास का निवारण करे। जो कि प्रभु को इष्ट है, उस ही का निरूपण यहां किया जाता है।

स्कन्धार्थ में संङ्कर्षण चरित्र को भूभार हरण बताया गया है।

श्री बादरायणिरुवाच श्लोक—**कृत्वा दैत्यवध कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।। ½ ।।**

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी ने कहा कि श्री कृष्ण ने बलरामजी सहित यदुवंशियों से वेष्टित दैत्यवध (कंस जरासंधादि) कर के—

कारिका—**अथैर्कात्रिंशताध्यायैर्मुक्तिरेकादशे द्विधा ।**
ब्रह्मभावः कृष्णभोगो हरेर्धर्मस्तथाज्ञया ।। १ ।।

कारिकार्थ—आचार्य श्री एकादश स्कन्ध के विवरण करने की इच्छा करते हुए सर्व प्रथम कारिकाओं द्वारा पूर्व स्कन्धों की संगति दिखाते हैं। यहाँ 'अथ' आनन्तर्यवाची है जिससे अवसर संगति बताई है।

एकादश स्कन्ध में ३१ अध्यायों से-(१) जीव मुक्ति (२) ब्रह्म मुक्ति, ये दो प्रकार की मुक्ति लीलाएं कही गई हैं। जिसमें पहले श्लोक में बतलाते हैं कि जीव की मुक्ति दो तरह से होती है

(अ) ब्रह्म भावा मुक्ति* (आ) सायुज्य मुक्ति† अर्थात् कृष्ण के संयोग अथवा हरि के धर्मों से तथा आज्ञा से प्राप्त होती है ॥ १ ॥

कारिका—**अविद्या पञ्चपर्वा हि तन्नाशे प्रथमा भवेत् ।**
प्रकृत्यतिक्रमे चान्या ततोध्यायास्तथा द्वये ॥ २ ॥

कारिकार्थ—दूसरी कारिका में कहते हैं कि जीव की ब्रह्मभावा मुक्ति एवं सायुज्य मुक्ति में प्रतिबन्धक (१) पञ्चपर्वा अविद्या (अ) देहाध्यास, (आ) इन्द्रियाध्यास (इ) प्राणाध्यास, (ई) अन्तःकरणाध्यास, (उ) स्वरूप विस्मृति (२) प्रकृति है । अविद्या के नाश होने पर जीव ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है । अविद्या पञ्चप्रकारा होने से इसका वर्णन पाँच अध्यायों में किया गया है । प्रकृति के २४ तत्त्व हैं अतः इसका वर्णन २४ अध्यायों (६ अध्याय से २९ अध्याय) में किया गया है । इन तत्वों के अतिक्रमण (लाँघने) पर जीव कृष्ण–सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है ॥ २ ॥

जनकोष्चोद्धवश्चैव सात्विको राजसस्तथा ।
पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वाद विपरीता गतर्गुणैः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—तीसरी कारिका में उद्धवजी ने राजस अधिकारी होते हुए भी उत्तम फल प्राप्त किया ? और जनक सात्विक होते हुवे भी उत्तम फल क्यों न ले सके ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि फल देने में–पुष्टिमार्ग में अनुग्रह मार्ग की मुख्यता है । पुष्टिमार्ग की गति गुणों से विपरीत है, कारण कि पुष्टिमार्ग में भगदनुग्रह ही फल दाता है । इस कारण से वहाँ गुणों का बल नहीं चलता है । अतः भगवत्कृपा से राजस उद्धवजी को भगवत्सायुज्य प्राप्त हुआ और जनक सात्विक होते हुवे भी ब्रह्मभाव मुक्ति ही प्राप्त कर सके क्यों कि वहाँ भगवदनुग्रह नहीं था ॥ ३ ॥

कारिका—**मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।**
जीवब्रह्मविभागेन द्विधा द्वयमुदीर्यते ॥ ४ ॥

कारिकार्थः—चौथी कारिका में-शेष ३० व ३१ वें–दो अध्यायों में जिस प्रकार ब्रह्ममुक्ति सीला की है उसका वर्णन करते हैं, 'अन्यथा रूप का त्याग कर ब्रह्म की स्वरूप में स्थिति'–ब्रह्ममुक्ति है अर्थात ब्रह्म ने भू–भार दूर करने हेतु मनुष्य नाट्य-लीलोपयोगी व्यूह सहित जिस रूप को धारण किया था, मनुष्य को जिस रूप में अन्यथा प्रतीत होती थी उसका नटवत् स्वेच्छा से त्यागकर

---

* ब्रह्मभावा मुक्ति में जड़ में तिरोहित चिदानन्दांश एवं जीव में तिरोहित आनन्दांश प्रगट होकर सर्वत्र सच्चिद नन्दता प्रदर्शित होती है । अर्थात् हरि के सच्चिदानन्द धर्म इनमें प्रगट होते हैं जिनका वर्णन १ से ५ अध्यायों में 'धर्मान् भागवतान् श्लोक से 'ब्रह्मभूया व कल्पते' में किया गया है ।

† सायुज्य मुक्ति जो कि भगवदाज्ञा से होती है जिसका स्पष्ट वर्णन (भा.स्क.११अ.२९के४१ से ४४) तक है । 'गच्छोद्धव मयादिष्टःमामेष्यन्ति ततः परम्' किया है ।

भगवान् ने स्व स्वरूप जो कि निगुर्ण व्रजोद्धारक है उसमें स्थिति की; इसी को 'ब्रह्ममुक्ति' कही गई है। भगवान् ने यादवों में प्रविष्ट अपने प्रद्युम्नादि अंशों का भी गुणाभिमान त्याग करा कर स्व स्वरूपों में स्थिति कराई है। जीव और ब्रह्म मुक्ति के पृथक् विभाग होने के कारण ही दो प्रकार से वर्णन किया है ॥ ४ ॥

कारिका—**तामसा राजसाश्चैके तत आद्ये द्वयं मतम् ।**
अंशाश्च भगवांश्चेति द्वितीयोपि द्विधा मतः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—पाँचवी कारिका में तामस भक्त और राजसभक्त दोनों पुष्टि (अनुग्रह) के कारण एक प्रकार की कोटि में आ जाते हैं। यथा-दशम स्कन्ध में तामस गोपीजनों ने सर्वात्मभाव वाले होने से ब्रह्म सायुज्य प्राप्त किया और यहां राजस उद्धवजी को सर्वात्मभाव से ब्रह्म सायुज्य प्राप्त हुआ अतः तामस राजस दोनों की एक कोटि हो गई, अर्थात् यहाँ पुष्टिमार्ग में गुणों का आधिक्य नहीं अपितु भगवदनुग्रह का प्राबल्य है ॥ ५ ॥

श्लोक—**भुवोवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥१॥**

श्लोकार्थ—अत्यधिक कलि (कलह) उत्पन्न कर भूमि का भार उतारा ॥ १ ॥

कारिका—**ततः पञ्चभिराद्या स्यात् चतुर्विंशतिभिः परा ।**
एकैकेनेश्वरश्योक्त त्याज्यांशाभावतः परे ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—छठी कारिका में कहते हैं कि जीव ब्रह्मभावा मुक्ति का वर्णन ११ वें स्कन्ध में १ से ५ अध्याय तक किया है। सायुज्य मुक्ति का वर्णन ६ से २४ अध्यायों में किया है। ब्रह्ममुक्ति प्रकरण भी दो प्रकार का होने से प्रत्येक का पृथक्–पृथक् अध्याय में वर्णन किया है। तथा–३० वें अध्याय में अपने प्रद्युम्नाँशों की मुक्ति का वर्णन है। ३१ वें अध्याय में ईश्वर मुक्ति वर्णित है। एक अध्याय में वर्णन करने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुवे आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जिस प्रकार जीव मैं प्राकृत त्याज्य अंश है इस प्रकार ईश्वर में प्राकृत–त्याज्य अंश नहीं है। अतः एक ही अध्याय में वर्णन हुआ है ॥ ६ ॥

कारिका—**ममाहम्मतिनाशार्थं प्रक्रियाद्वितयं मतम् ।**
तयोरभिनयः पश्चात् भगवतेति च ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—सातवीं कारिका में कहते हैं कि अहंता ममता के नाशार्थ दोनों प्रकरणों में दो–दो प्रक्रियाएँ कही हैं। जीव की अहंता ममता नाश होने के पश्चात् ही उसकी मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है। भगवान् ने तो अहंता ममता त्याग का केवल नट की भांति नाट्य कर दिखाया है, वस्तुतः ईश्वर में अहंता ममता जो प्राकृत गुण हैं, वे हैं ही नहीं ॥ ७ ॥

कारिका—**तश्च प्रथमेध्याये बीजद्वयमुदीर्यते ।**
ब्रह्ममुद्धिनिजेच्छातो वैराग्येणेतरस्य च ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—आठवीं कारिका में कहते हैं कि ११ वें स्कन्ध के प्रथम अध्याय में दोनों के बीज कहे हैं। यथा–ब्रह्म अपनी मुक्ति (स्वस्वरूप में स्थिति) स्वेच्छा (अपनी इच्छा) से करता है तथा जीव की मुक्ति (अहन्ताममतादि प्राकृत गुणों के बन्धन से छूटकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है) वैराग्य से होती है ॥ ८ ॥

कारिका—**चतुर्धामुक्ति पक्षस्तु तदिच्छात इतिस्थितिः ॥ ८½ ॥**

कारिकार्थ—अर्द्ध कारिका में कहते हैं कि—चार प्रकार की मुक्ति का वर्णन जो तृतीय स्कन्ध में हुआ हैं, वह भगवान स्वेच्छा से वा अपने भक्तों की इच्छा से करते हैं, अर्थात् भगवान् अपनी इच्छा से जिस जीव को जैसी मुक्ति देना चाहते हैं उससे तथावत् (उस प्रकार के) साधन कराके वा कृपा से वह मुक्ति दे देते हैं अथवा भक्तों की जैसी मुक्ति लेने की इच्छा हो वैसी दे देते हैं। वास्तव में, जो भक्त सेवा-रस में आनन्दित हैं वे मुक्ति की इच्छा ही नहीं करते हैं ॥ ८½ ॥

इस प्रकरण में बीज प्रकार से ईश्वरेच्छा से सात श्लोकों में मुक्ति का प्रकार कहते हैं। ईश्वर की मुक्ति में भू-भार हरण ही बीज है जिसका वर्णन पाँच श्लोकों में करते हैं।

अथ व्याख्या, तत्र बीजप्रकारेणेश्वरेच्छया मुक्तिप्रकारमाह सप्तभिः,
ईश्वरस्य मुक्तौ भूमेर्भारनिराकरणं बीजमिति तदाह पञ्चभिः

कारिका—**एकैकेन त्रिभिश्चेति कायवाङ्मनसा कृतम् ॥ ९ ॥**

कारिकार्थ—कायिक, वाचनिक और मानसिक तीनों से अथवा एक-एक से दुर्योधनादि ने पाण्डवादि सभी को नानाविध दुःख दिये, जिनको निमित्त बना कर भगवान् ने उनके द्वारा भू-भार हरण किया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—तत्र **कायिकमाह कृत्वेति**, नायमनुवादःकिन्त्वपूर्वतया भूभाररूपदैत्यवधो निरूप्यते, "भूमिर्दृप्तनृपव्याजे" त्यत्र राजानो **दैत्या** निरूपिताः, ते यद्यपि कंसजरासन्धादयो भवन्ति तथापि तेषां वधो निरोधशेषत्वेन निरूपित इति भूभारहरणं च तेन जातमिति स्वतन्त्रतया तत् पुनरुच्यते, अनुवादे केवलस्य प्राप्त्यभावः, प्रक्रियातः पृथक्कृत्य फलान्तरसम्बन्धार्थं पुनः कथनं, एक एवार्थो बहुधा निरूप्यते भिन्नप्रयोजनायेति व्यवस्थापितं "वाग् वै देवेभ्य" इत्युपक्रम्य "ते देवा वाच्यपक्रान्ताया" मित्यत्र तथा निर्णीतं, वध्यत्वाय **दैत्येति**, प्रकारः पूर्वसिद्ध एव,**कृष्ण** इति सङ्कर्षणरूपः सङ्कर्षणांशचरित्रस्यैव **स्कंधार्थ**त्वात्, यादृशस्य भूभारनाशकत्वं तदाह बलभद्रसहितो यादवैश्च सहित इति, तत्रापि केशवत्वज्ञापनाय **सराम** इति, भूभारहरणार्थमेवांशावतरणस्य जातत्वात् तदुपयोगं वक्तुं **यदुभिरिति**, तैर्वेष्टितः प्रार्थितो वा भूभारहरणार्थं देवत्वात्, आसन्नस्य तु पीडायां स्वदेह एव स्वस्य भारः किं पुनः पीडकोभार[3] इति,कलहजनने क्रोधावेशेन भारानुसन्धाननिराकरणार्थं सर्वत्र भूमौ **कलिं जनयन्** वेगवत्तरस्यैव तथात्वात्, अतोक्लिष्टकर्मत्वाय **कलिजननं वधो** भूभारहरणायेति प्रसिद्धम्, नैतादृशोर्थः क्वचिद् दशमस्कन्धे निरूपितो येनानुवादशङ्कापि स्याद् "यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा" मित्यत्रै तस्यैवानुवादः, तेन दशमस्कन्धेनुक्तमेव **भूभाररूपदैत्यानां वधरूपं** चरित्रमिहोच्यत इति सिद्धम् ॥१॥

व्याख्या—तीन प्रकार से दिये हुए दुःखों में से पहले को कायिक कहते हैं। यहां जो वर्णन किया जाता है, वह अनुवाद नहीं है। किन्तु अपूर्व प्रकार से भू–भार रूप दैत्यों के वध का निरूपण है, 'भूमिदृप्तनृपव्याज' इस श्लोक में जिन दैत्यों का निरूपण है, वे यद्यपि कंस–जरासन्ध आदि हैं, तथापि उनका वध वहां (दशम् स्कन्ध में), निरोध शेषत्व से हुआ है। जिससे वहां भू–भार हरण निरोध शेष से है, इसलिए यहां फिर स्वतन्त्रता से कहा जाता है; निरोध शेष से नहीं। किन्तु भू–भार हरण शेष से कहा गया है अतः यह अपूर्व है।

प्रक्रिया[1] से पृथक् कर फलान्तर सम्बन्ध के लिए फिर कहा जाता है, भिन्न–भिन्न प्रयोजन के लिए एक ही अर्थ बहुत प्रकार से श्रुतियों में निरूपण किया गया है; जैसे कि 'वाग् वै देवेभ्य', यहाँ से प्रारम्भ कर 'ते देवा वाच्यप्रक्रान्ताया', वहाँ यों निर्णय किया गया है—

दैत्य वध्यत्व के लिए जो प्रकार है वह पूर्व सिद्ध ही है–यहाँ श्री कृष्ण सङ्कर्षण रूप हैं। क्यों कि एकादश–स्कन्धार्थ सङ्कर्षणांश ही हैं अर्थात् भगवान् ने एकादश स्कन्ध की लीला सङ्कर्षणांशरूप से की है, जैसे स्वरूप का भू–भार नाशकत्व है। वह बताने के लिए कहते हैं कि भगवान् बलभद्र और यादवों के साथ पधार रहे हैं। वहाँ केशवत्व स्वरूप बताने के लिए 'सरामः' पद दिया है। पृथ्वी के भार का हरण करने के लिए ही अंश रूपों का भी अवतार हुआ है। उनका उपयोग बताने के लिए 'यदुभिः' पद दिया है। उनसे आप वेष्टित है अथवा यादव–देव हैं उन्होंने भू–भार हरण की प्रार्थना की थी।

भू–भार हरण के लिए प्रार्थना की क्या आवश्यकता थी? कारण कि, प्रभु इस विषय को जानते ही हैं। इस शङ्का के निवारण के लिए कहा है कि आसन्य की पीड़ा में अपनी देह ही भार है, फिर पीड़क का भार क्या? अतः भार लेश के भी परिहार के लिए प्रार्थना आवश्यकीय है। उस भार को किस तरह शीघ्र उतारा जावे इस विचार से भगवान् ने 'सर्वत्र भयंकर कलह उत्पन्न करा के यह भार उतारा जाय', यह युक्ति निकाली। इस प्रकार का अर्थ दशम् स्कन्ध में कहीं भी नहीं है जिससे एकादश स्कन्ध में अनुवाद है यह शङ्का हो, 'यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञां' यहां इसका ही अनुवाद है। इससे दशम् स्कन्ध में नहीं कहा हुआ भू–भार रूप दैत्यों के वध रूप चरित्र का वर्णन यहाँ कहा है, यों सिद्ध हुआ अर्थात् यहाँ कहा हुआ चरित्र दशम् का अनुवाद नहीं है ॥१॥

श्लोक—**ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।**
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान् हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥२॥

---

१ —इस पंक्ति का आशय प्रकट करते हुवे प्रकाशकार कहते हैं कि यदि यहां का वर्णन निरोध शेष से हो तो काल-नेमि की तरह इनका मोक्ष न होवे, कारण कि यहां तादर्थ्य का अभाव है। वैसा होने पर फिर उत्पत्ति होने से पुनः पृथ्वी भार से पीड़ा को प्राप्त हो जाय, जिससे पृथ्वी द्वारा, की हुई प्रार्थना व्यर्थ हो जावे।

इस प्रकार उनकी मुक्त होने पर फिर उत्पत्ति न होने से पृथ्वी की कार्य–सिद्धि होती है। इसलिए यहाँ का वर्णन अनुवाद नहीं।

श्लोकार्थ—दुर्योधनादि शत्रुओं ने पाण्डवों से कपट द्यूत आदि कर इनका बहुत प्रकार से अपमान किया, जैसे उनकी स्त्री द्रौपदी की केशों से खेंचकर सभा में लाकर नग्न किया, और अपमान के शब्द कहे इत्यादि कुकृत्यों से पाण्डवों को क्रोधित किया, तब भगवान् ने इनको निमित्त बना कर पृथ्वी के भार रूप राजाओं का नाश करा के भूमि का भार उतारा ॥२॥

सुबोधिनी—एवं **कायिकमुक्त्वा वाचनिकमाह य** इति, अक्लिष्टकर्मत्वाद् **ये** स्वतो भगवत्समक्षमागता[४] आधिदैविकरूतास्ते भगवता हता ये तु दुर्योधनादयो भगवति विरोधमकृत्वैव परस्परं विरुद्धा भगवति तु समास्तत्र ये भगवद्वाक्यं कुर्वन्ति तैरन्ये मारिता इति निरूप्यते, अस्य विस्तारो **भारते** प्रसिद्धः, अनेकैरपराधै**र्बहु कोपिताः**, लाक्षागृहदाहादेस्तुल्यत्वदशायामजातत्वाद् **दुर्द्यूता**दिकमुक्तं, **द्यूतस्य** कपटरूपत्वे ज्ञाते **को**पो भवति ततोपि **हेलनेन** षण्ढतिलाः पाण्डवा जाता इति **वा**चनिकोपराधः, **द्रौ**पदीकेशाकर्षणं कायिकोपराधो मानसो वा, प्रथमः कायिक इति केचित्, केशाकर्षणस्य भावान्तरज्ञापकत्वात् साधनफलयोर्बहुकालत्वज्ञापनाय निर्देशप्रतिनिर्देशौ, कालान्तरे क्रियावश्यम्भावाय **सुबह्वि**ति, **शो**भनत्वं हृदयस्थितिः, **पाण्डोः सुता** इति वीरपुत्रत्वमविस्मरणाय, स्वतःप्रतिक्रियासामर्थ्याय **सपत्नै**रिति तुल्यैरित्यर्थः, **दुर्द्यूतादावादिशब्दः** सजातीयबहुत्वाय, भूमौ कलेरुत्पादितत्वान् **निमित्तार्थमितरेतर**तोन्योन्यसापेक्षयोः प्रवेशः **समेतत्वं, ये कोपिता** यैश्च **कोपितास्त इतरेतर**शब्दवाच्याः, उभयेषां प्रार्थनया **निमित्त**त्वज्ञापनाय तस्मिन् निमित्त तु **कोपिता** एव, अन्येषामानुषङ्गिकत्वात्, पाण्डवा एव कौरवाणामुपरि युद्धार्थमागता इति, **नृप**व्याजान**नृपान्** वा, रूढिरेव वा, दैत्यवधे देवानां सुखित्वाद् भारस्याधस्तात् स्थापनं नृपाणां वधे तु ततोपि **निरहरत्**, तेषामसद्भावनिराकरणेनापि कार्यसिद्धौ तेषामेव निराकरणमीश्वरेच्छाया[२] नियन्तुमशक्यत्वादुपपन्नमित्याह**ेश** इति, **गी**तोपदेशेनैतदिति सिद्धम् ॥२॥

व्याख्या—अब 'ये कोपिताः' श्लोक से वाचनिक अपराध कहते हैं, भगवान् अक्लिष्ट कर्मा होने से जो भगवान् के समक्ष समर में नहीं मारे गये वे तो भगवान् ने स्वयं मारे और जो दुर्योधन आदि भगवद्विरोधी नहीं थे परस्पर विरुद्ध हुए थे, भगवान् के साथ तो समान भाव वाले थे, उनमें से जिन्होने भगवदाज्ञा मानी उनसे दूसरों (भगवदाज्ञा न मानने वालों) को मर वाये, अर्थात् पाण्डवों ने भगवदाज्ञा मानी सो उनसे दूसरे जिन कौरवों ने भगवदाज्ञा न मानी उनका नाश कराया, जिसका विस्तार महाभारत में किया गया है। कौरवों ने अनेक अपराध कर पाण्डवों को बहुत क्रोधित किया, जो अपराध जैसे लाक्षागृह आदि तुल्य दशा में अर्थात् पांडवों की 'बाल्यावस्था में किये थे' उन से क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु द्यूत (जूआ) कपट से खेला गया है, इसका ज्ञान होने पर पाण्डवों को क्रोध आया, उससे भी विशेष क्रोध अपमान के शब्दों से हुआ, जैसे 'षण्ढतिलाः पाण्डवाः' पाण्डव नपुंसक हैं इनमें कोई शक्ति नहीं है, ये तेल निकाले गये तिलों के तुषों के समान है इत्यादि वाचनिक अपराध कौरवों ने किया, द्रौपदी के केशों का खींचना, कायिक अपराध है अथवा मानस है, कोई कहते हैं कि प्रथम कायिक है, केशों के आकर्षण का अन्यभाव (मानस भाव) सिद्ध करते हैं,

इस कर्म अर्थात् साधन[1] और फल[2] का बहुत काल के बाद प्रकाश हुआ, जिससे अवश्यम्भावी क्रिया हुई (युद्ध हुआ)। पाण्डवों के हृदय की स्थिति सुयोग्य थी, 'पाण्डोःसुताः' पद का भावार्थ बताते हैं कि वे वीर के पुत्र थे इसलिए शत्रुकृत अपमान भूल नहीं गये और वे स्वतः शत्रुओं से बदला लेने की सामर्थ्य वाले हैं, इसलिए मूल श्लोक में 'सपत्नैः' विशेषण दिया है, जिसका आशय है कि पाण्डव भी कौरवों जैसे बलिष्ठ हैं उनसे कम नहीं हैं, मूल श्लोक में 'दुर्द्यूत' के साथ आदि शब्द देने का भावार्थ यह है कि ऐसे अन्य भी क्रोध उत्पन्न करने के बहुत कर्म दुर्योधनादि ने किये हैं।

भगवान् ने इस प्रकार, भार उतारने के लिए भूमि पर कलह उत्पन्न किया, जिस कलह को युद्ध का निमित्त बनवाया, भगवान् ने कलह क्यों उत्पन्न कराया ? जिसका उत्तर देते हैं कि दोनों (पाण्डवों और कौरवों) की प्रार्थना से यों किया। कलह उत्पन्न न होता तो युद्ध का निमित्त न होने से युद्ध न होता, तो भूमि पर भार–भूत राजादि का नाश न होता। अतः पृथ्वी की प्रार्थना सिद्ध करने के लिए भगवान् ने यह लीला की। कौरवों के कुकर्मो से पाण्डव कुपित हुए दूसरे (कौरवों) की आनुषङ्गितता है, पाण्डवों ने ही कौरवों पर युद्ध के लिए आक्रमण किया, कौरव तो 'नृप' हैं, जिस पद का भावार्थ है 'नृन्पाति इति नृपः' मनुष्यों की जो सर्व प्रकार से पालना (रक्षा) करते हैं वे नृप हैं, इसलिए वे धार्मिक हैं उनका नाश कैसे करवाया ? इस शङ्का का निराकरण आचार्य श्री करते हैं कि वे (कौरव) वैसे नहीं थे, ये नट की तरह नृप बन बैठे हैं वास्तविक नृप नहीं है। अतः यहाँ नृप पद रूढ़िमात्र है यौगिक नहीं है।

प्रथम श्लोक में 'भारं अवतारयत्' कहा, इस दूसरे श्लोक में 'निरहरत्' कहा जिसका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि, दैत्यों के वध से देव सुखी होंगे। अतः भार को नीचे उतारा अर्थात् पृथ्वी से भार उतार दिया।

राजाओं के असद्भाव के निराकरण से भी कार्य की सिद्धि हो सकती थी तो फिर भी राजाओं का निराकरण क्यों ? भगवदिच्छा ऐसी थी, भगवदिच्छा को कोई रोक नहीं सकता, इसलिए यों करना उचित था, इसलिए प्रभु का नाम यहाँ 'ईश' दिया है। यह सर्व गीता के उपदेश से इस प्रकार सिद्ध हुआ[3] है ॥२॥

आभास—भारानुसन्धानोपायान्वेषण कार्यकारणानि वदन् मानसं त्रिभिराह, तत्र भारानुसन्धानमाह भूभारेति—

आभासार्थ—भार के अनुसन्धान के उपाय ढूंढने के कार्य और कारण कहते हुए 'भूभारेति' तीन श्लोकों से "मानस" कहते हैं।

१—कौरवों के अपराध २—पाण्डवों का क्रोध

३ प्रकाशकार कहते हैं कि—अन्यथा विश्वरूप दिखाकर युद्ध में प्रवृत्त न करते।

श्लोकः—**भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।**
मन्येवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

नैवान्यतः परिभवोस्य भवेत् कथञ्चिन्
मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ— अपनी भुजाओं से रक्षित यादवों से पृथ्वी के भार रूप राजाओं की सेना को कटवाकर, जिसका कर्तव्य (लीला) कोई भी जान नहीं सकता वैसे प्रभु ने विचार किया कि, लोग समझते हैं कि पृथ्वी का भार उतर गया, किन्तु मैं यह नहीं मानता हूं कारण कि, जिसके भार को सहन करना अशक्य है ऐसा यह यदुकुल अब तक वैसा का वैसा ही विद्यमान है ॥३१॥

सुबोधिनी—मुख्यानां स्वतः पाण्डवैश्चैव हतत्वादंशानामपि सकार्यत्वाद् **यदुभिः पृतनानिरा**करणमुक्तं जरासन्धबाणशाल्वादीनां **पृतनाना**मेव **भार**त्वं प्रकृतोपयोगात्, **यदू**नां करणत्वाय **गुप्तबाहु**त्वमाह **गुप्तैः स्वबाहुभिरि**तिरूपकं, भारावतारणार्थमागतो गतो वा न गतो वा **भार** इति**चिन्तां** कृतवान्, ननु सर्वजनीनो भारः कथमेवं सन्दिग्ध इत्यत आहा**प्रमेय** इति, सांशो भगवानेव भार इति न सर्वजननीनः, **अप्रमेय**त्वाद् भगवतो रक्षार्थमागतै राजभटैः सर्वस्वभक्षणमिव जातमित्याह **मन्य** इति, पूर्वस्थितस्य भारस्य सहेतुकस्य गतत्वेपि निराकरणकर्तृणामेव हेतुत्वात् पुनरुपस्थितः, विजातीयत्वान्न समानविभक्तिकत्वं, साधकानां बाधकत्वादाश्चर्यम**हो** इति, पूर्वस्मादपि विशेषमाहा**विषह्य**मिति, देवैर्भूम्या च निराकरणं लुप्तमप्यशक्यमत **आस्त** एव **भारः** सिद्धः ॥३॥

व्याख्या—'भू-भार' श्लोक से भू-भारानुसंधान कहते हैं—मुख्यो का (कौरव एवं पूतनादिका) पाण्डवों ने तथा स्वयं प्रभु ने नाश किया, अंशों ने भी नाश कार्य किया। इसलिए कहा है कि यादवों ने सेनाओं का नाश किया, जरासंध बाण-और शाल्यादि जो की सेना थी वह ही भार रूप थी। उन के नाश के लिए ही यादवों का जन्म हुआ है। यादव ही उनके मारने में साधन थे। अतः उनको रूपक की तरह अपने द्वारा रक्षित अपनी भुजाएँ कहा है। भगवान् विचार करने लगे कि मैं भार उतारने के लिए प्रकट हुआ हूँ, वह भार सम्पूर्ण उतरा है या नहीं ? भार तो उतरा यह सर्व मानते हैं फिर संशय क्यों ? इस पर कहते हैं कि भगवान् की लीला को कोई समझ नहीं सकता है क्योंकि 'अप्रमेयः' अप्रमेय है, 'सांश' यादवादि अं ों सहित भगवान् ही भार हैं इसलिए यह विषय भगवान् के अप्रमेय होने से साधारण जनता नहीं समझ सकती है, रक्षा के लिए आये राजभटों की तरह ये (यादव) ही सर्व स्वभक्षक हुवे हैं। इसलिए मैं नहीं मानता हूँ कि भार उतरा है।'

पूर्व स्थित सहेतुक भार के नाश होने पर भी जो उस भार के निराकरण करने वाले थे वे ही फिर भार के हेतु रक्षक के स्थान पर भक्षक बनने से अब भार उपस्थित है, अतः आश्चर्य है। यद्यपि इन (यादवों) में उनकी तरह उद्यतपन नहीं हैं, तो भी बहुतायत होने से भार रूप हैं, आगे के

(कौरवादिकों के) भार से भी यह विशेष हैं जिससे सहा नहीं जायेगा, तथा इस भार का निराकरण देवताओं अथवा पृथ्वी से भी नहीं हो सकेगा। अतः अब भार है।[1]

श्लोक—अन्तः कलिं यदुकुलस्य विधाय,
वेणुस्तम्बेन वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥

श्लोकार्थः—यह यदुकुल, जो मेरे आश्रय में स्थित है जो मेरे ही उच्च पूर्ण संबंध के कारण, नित्य सर्व प्रकार की धन और जन, बल आदि सम्पत्ति से परिपूर्ण हो रहा है। उसका परिभव दूसरे किसी से किसी तरह भी नहीं होगा, चाहे वे देवादि हो या भूमि हो, इसलिए जैसे बांस का वन परस्पर संघर्ष (रगड़) से अग्नि उत्पन्न कर उससे जलकर भस्म हो जाता है, वैसे इसमें कलह उत्पन्न कराऊँ, जिससे परस्पर के संघर्ष से इनकी भी वैसी दशा हो। यों कर फिर मैं भी अपने शांति धाम (स्वरूप) में स्थिति करूँ। ॥४॥

सुबोधिनी—निराकरणोपायमाह **नैवेति**, स्वतः परतो वा निराकरणं, परस्य तत्र दुर्बलत्वदिष्टसाधनताज्ञानस्य च प्रवर्तकत्वादसम्भावितं चेतनकर्तृकमित्याहास्य कुलस्य, निषेधनित्यत्व**मेव**कारार्थः, **अन्यत** इति यदुकुलव्यतिरिक्तादितिसामान्यनिषेधः, वृष्ट्यादीन्यपीन्द्र प्रेरितानि नभवन्ति दूरापास्तो नाशः **परिभवोपि न भवेत् कथञ्चि**दित्यकीर्त्यादिजनकत्वेन, "सम्भावितस्या" कीर्त्या स्वतोपि मरणं सम्भवतीति तन्निराकरणं, **परिभवो**पमाननं, तद्धि स्वगतदोषेण गुणाभावेन वा भवति, तत्राहमेव **सम्यगाश्रयो** यस्येति न दोषसम्भावना "शय्याशनाटनालापे" ति पूर्वमुक्तत्वान् न तेषां मदादिः सम्भवति न वा गुणाभावो **विभवोग्रहन**त्वाद् **विभवाः** सर्वसम्पदस्तैः सर्वतः पूर्णमूर्ध्वं बन्धनमिव यस्येति, **नित्य**मिति मत्स्वरूपत्वात् कालकृतोपि पराभवो नास्तीत्यर्थः, न च प्राकृतसम्बद्धं वैकुण्ठे नेयमत उपायमाहा**न्तः कलि**मिति, **यदुकुलस्यान्त**र्मध्ये कलहमुत्पाद्य **वेणुस्तम्बस्य** मध्ये **वह्नि**मिव, अमङ्गलत्वान्नोक्तं तेन दग्ध्वेति दृष्टान्ताच्च लभ्यते, अलौकिकस्य भगवदुत्पादितस्य **कलेः** सर्वनाशकत्वमाशङ्क्य तन्निराकरणायाह **शान्तिमुपैमी**ति, क्रमपाठादेव तत इति गम्यते, तदनन्तरमन्यन्न दाह्यं, पुनरत्रैव स्थितः किञ्चित् कुर्यादित्यत अहोप**मिधामे**ति देहलीप्रदीपवन्, स्वस्थानं गमिष्यामीत्य**न्तः कले**रुत्पादनमुपाय इति सिद्धम् ॥४॥

व्याख्या—'नैवान्यतः' श्लोक से यादवों के निराकरण का उपाय कहते हैं—यदुकुल का निराकरण स्वतः हो या अन्य से हो, इनमें अन्य तो दुर्बल है, क्योंकि यदुकुल का भगवान् से सम्बन्ध है। इस उच्च सम्बन्ध से यदुकुल सर्व प्रकार से बलिष्ठ है। इसलिए कोई भी चेतन (देवादि) इसका

१-**प्रकाशकार**—ये यादव भगवान् की भुजाएँ हैं। भगवद्रूप होने से इसका भार जैसे बाल प्रभु का भार यशोदा मैया सहन न कर सकी वैसे पृथ्वी भी सहन न कर सकेगी।

निरास नहीं कर सकता है। 'एव' पद का यह भावार्थ है कि कभी भी इसका चेतन से निराकरण नहीं होगा। 'अन्यतः' पद का सामान्य निषेधार्थ है कि यदुकुल के अतिरिक्त किसी से भी परिभव नहीं होगा। चेतन से न होगा तो अचेतन से होगा, फिर सामान्य निषेध कैसे कहा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उससे (अचेतन से) भी नहीं होगा। अचेतन वृष्टयादि (वर्षादि) है, जिसके प्रेरक इन्द्र है। नाश तो दूर रहा, किन्तु इसका कोई पराभव भी न कर सकेगा, 'कथञ्चित्' पद का स्वारस्य प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यों भी न समझना कि ये यादव, अपयश के कर्म करने से वा गुणाभाव से एवं स्वगत दोषों से स्वतः नाश होंगे। 'सम्भावितस्थ चा कीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' सत्पुरुष की अपकीर्ति मर जाने से भी विशेष मृत्यु है। क्यों कि इनको मेरा पूर्ण आश्रय है, जिससे इनमें दोषों की सम्भावना ही नहीं है, और मेरे साथ सर्व प्रकार से ऊठे-बैठे खाये, सोये और फिरते हैं, अतः इनमें किसी प्रकार कोई अवगुण आ नहीं सकता है, और न इनमें अहङ्कारादि व गुणाभाव उत्पन्न हो सकेगा। कारण कि, मत्स्वरूप होने से लक्ष्मी ने इनका त्याग नहीं किया। ये आगे ही वैभवादि से परिपूर्ण एवं गुणवान हैं। जिससे नित्य ही वैसे के वैसे रहेंगे अतः काल भी इसका पराभव न कर सकेगा।

यदि यों है और आपके स्वरूप हैं तो, जैसे हैं वैसे ही इनको वैकुण्ठ में ले जाईये, तो कहते हैं कि नहीं, क्योंकि मेरे स्वरूप होते भी इनमें किञ्चित् प्राकृत सम्बन्ध भी है, जिसका निरास करना है। अतः इसका उपाय करना आवश्यक है। वह उपाय है 'इनमें परस्पर महान् कलह उत्पन्न कराऊँ, जिससे जैसे वेणुः स्तम्ब (बासों के बन) में बासों के आपस के सङ्घर्षण (रगड़) से उत्पन्न अग्नि ही उनको भस्म करती है, वैसे ये भी हो। अनन्तर मैं भी अपने स्वरूप में स्थिति कर शान्ति पाऊँ। भगवदुत्पादित कलि सर्व का नाश करेगा ? इस शङ्का के निरास के लिए ही कहा है कि मैं स्वरूप में स्थिति कर शान्ति पाऊँगा, जिससे वह कलह दूसरों का नाश नहीं करेगी। यादवों के प्राकृत सम्बन्ध के नाशार्थ कलह ही उपाय है—यों सिद्ध हुआ ॥४॥

श्लोक—**एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।**
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—सत्य सङ्कल्प वाले ईश्वर ने बुद्धि से ऐसा निश्चय करके, ब्राह्मणों के शाप के बहाने से अपने कुल को अपने पास खींच लिया ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—तस्योत्पत्तौ हेतुं वदन् कार्यमाहैवमिति, अशक्योपायान्तरादिपक्षनिराकरणायाहैवमेव निश्चितः, **बुद्धये**ति लोकशास्त्रनिराकरणं, 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादे' **बुं**द्धिरपि तादृशीच्छाशक्तिर्वा, **राजन्नि**त्यपि ब्रह्मशापो न निर्वायस्त्वयैवानुभूयत इति, "**सत्यसङ्कल्प**तो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति" "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ" **ईश्वरो**त ऋषीणां गर्वभावायोद्धवः संरक्षितो वज्रनाभादयश्च, **शापो** वक्ष्यमाणप्रकारः, **व्याजेने**ति ब्रह्मप्रकरणत्वाय, उप**संहार** एव न प्रलयः, **स्वे**ति दोषाभावाय, सर्वप्रकारसमर्थनायान्ते **वि**भुरिति ॥५॥

व्याख्या—यदुकुल के संहरण की उत्पति में हेतु कहते हुए अब 'एवं व्यवसितो' श्लोक से कार्य का वर्णन करते हैं। इनकेसंहरणादि का कोई उपाय नहीं है। इसलिए यह उपाय ही निश्चित्त किया। लोक एवं शास्त्र से जो उपाय हो सकेगे उनका निराकरण करने के लिए कहा कि यह 'उपाय' भगवान् ने अपनी बुद्धि से ही उत्पन्न किया है। आप आनन्द मात्र कर मुखोदरादि है। अतः आपकी बुद्धि वा इच्छा शक्ति भी वैसी ही है। प्रचलित पाठ में 'बुद्धि' के स्थान पर 'राजन्' पद् है। जिसको ग्रहण करने पर इसका आशय प्रकट करते हैं, कि ब्राह्मण का शाप मिटाया नहीं जाता, जिसका तुम ही अनुभव कर रहे हो, ईश्वर का सङ्कल्प सदैव सत्य होता है 'आप सत्य सङ्कल्प होने से अन्यथा न करेंगे' ईश्वर होने से कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। जिससे ऋषियों को यह गर्व न हो कि हमारे शाप से यदुकुल का संहार हो गया। इसलिए प्रभु ने उद्धवजी और वज्रनाभादि यादवों की शाप से रक्षा करली। 'व्याज' पद का भाव बताते हैं कि यह ब्रह्म प्रकरण है अर्थात् यादवों के संहरण में भगवान् की इच्छा शक्ति ही कारण है। ब्राह्मण शाप तो केवल मिष है।

यादवों का नाश नहीं हुआ मात्र अपने में उनके स्वरूप को समा लिया है। कुल के साथ 'स्व' के (यादवों में जो प्राकृतांश था उसका नाश कराया। अपने अशं स्वरूपों को अपने में समा लिया) पद संयुक्त करने का आशय बताते हैं कि उनमें कोई दोष 'वेषम्य नैर्घण्य' नहीं है। श्री कृष्ण सर्व समर्थ है इसलिए अन्त में 'विभु' विशेषण दिया है ॥५॥

आभास—एवं मनसा भूभारहरणमुक्तं रूपान्तरस्वीकरणस्यैतत्प्रयोजनत्वान् निष्पन्ने कार्ये मुक्तिमाह द्वयेन, जीवब्रह्मणोर्हि सा, जीवानामपि स्वमिश्रतया मुक्ति-कथनाय निरूपणमतो वर्तमानभविष्यद्भक्तमुक्ती प्रकारभेदेन कथयन् स्वपदारोहणमाह **स्वमूर्त्येति**।

आभासार्थ यों मन से भू-भार हरण किया। रूपान्तर स्वीकार करने का भू-भार हरण ही प्रयोजन था। उस कार्य के पूर्ण हो जाने पर दो श्लोकों छठे और ७वें से मुक्ति का वर्णन करते हैं, वह मुक्ति एकादश स्कन्ध में जीव तथा ब्रह्म दोनों की साथ में ही वर्णित है, इसलिए प्रथम वर्तमान तथा होने वाले भक्तों की मुक्ति का प्रकार भेद कहकर अपने स्वरूप में स्थिति का प्रकार कहा है।

श्लोक—**स्वमूर्त्यालोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।**
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रकट अवस्था में अपने अंश रूप जीवों के जगत् की शोभा में आसक्त नेत्रों को अपने स्वरूप लावण्य के द्वारा उन्हें खेंच कर अपने में निरुद्ध करते हैं एवं निज अलौकिक वचनों से उनके चित्त को बाह्य प्रपञ्च के स्मरण से हटा कर अपना ही स्मरण कराके अपने में निरुद्ध करते हैं, तथा अपने रमण स्थानों में विचरण करने वालों का मन अन्य स्थानों से आकृष्ट कर अपने में निरुद्ध करते हैं—इस

प्रकार उनकी ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति को बाह्य प्रपञ्च से हटाकर मुक्ति करते हैं ।।।६।।

श्लोक—**आच्छिद्य कीर्ति सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।**
तमोनुयानमिष्यन्ती तरिष्यन्तीत्या त् स्वं पदमीश्वरः ।। ७ ।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने प्राकट्यकाल में जो जीव विद्यमान थे केवल उनकी मुक्ति का विचार नहीं किया, किन्तु भविष्य में होने वाले जीवों का भी उपाय सिद्ध कर पश्चात् निज धाम पधारे, अर्थात् स्वस्वरूप में स्थिति की । भविष्य में होने वाले जीवों के लिए अपनी पवित्र तथा बड़े-बड़े महापुरुष भी जिसका गान करे ऐसी कीर्ति का पृथ्वी पर श्रीमद् भागवत द्वारा विस्तार किया, और आज्ञा की, कि, इससे भविष्य की प्रजा संसार से छूट मुझे प्राप्त करेगी ।।७।।

सुबोधिनी—ज्ञानक्रियाशक्ती **आच्छिद्य** यशः प्रसार्य वैकुण्ठं गत इत्युक्तं भवति, सहजप्रवृत्तिर्ज्ञानस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपप्रपञ्चे नाम प्रपञ्चे च परिनिष्ठिता, नामप्रपञ्चे विचारस्य सहकारित्वान्न श्रवणमात्रेण निर्धारोत आलोचनात्मकस्य **चित्त**स्यैव प्राधान्यं,**बहिः**ष्ठे तु भगवत्या**च्छि**त्तिरेव युक्ता, यथास्थितौ तु न मुक्तिः, भगवता स्मृतानां न ज्ञानापेक्षा, अतोज्ञानतरणमेवावशिष्यते, लोके येन यदा**च्छिद्यते** तत् तदर्थमेव भवतीति वनकाष्ठच्छेदनादौ सिद्धं, तदनुपयोगदशायां तु पतिव्रतावत् तूष्णीम्भावः, तथा च भगवन**मूर्त्या**च्छिन्नानि भगवन्मूर्त्यर्थमेव भवन्ति, **लोका**त् तिरोधानेपि तच् चक्षुः पश्यति तादर्थ्यात् कदाचित् तूष्णीम्भावो वेश्वरात् परं **न** तैरन्यद् भवतीतिमुक्तिः सिद्धा, विषयच्छेदकस्य तदधीनच्त्वाय, **सुश्लोका**मिति प्रवृत्यवश्यम्भावाय,**सुष्टु श्लो**का **व्या**सादिकृता यस्यामिति, अनायासेन हि ज्योत्स्नया तरणं, तथोपायः कृत इत्यर्थः, **नु** निश्चयेन, **कौ** पृथिव्यां, **इती**तिकार्यसमाप्तिः, भविष्यदधिकार एव सर्वं इति **के**चित्, ततश्च छेदने कः प्रयास विशेषणं, **अलौकिकोयमुपाय** इति न काचिच्छङ्का, गोपिकास्तु दृष्टान्त इति विद्यमानमुक्तिः;, आलोकः सूर्यमण्डलमलोकोन्धकारः **लोकास्तु** भवनजनात्मकाः तेजःश्यामतासंस्थानविशेषश्चावगम्यते, मूर्तिप्राकट्ये हि त्रिभ्योपिते धर्माः पुनरावृत्तिरहिता भवन्ति, एकवचनं जातिसूचकं, रूपप्रपञ्चे नालोचनाद्यपेक्षा, नाम्नि तु विशेषमाह **ताः स्मरता**मिति, यद्यकेनैवच्छेदनं कुर्यात् नामप्रपञ्चच्छे न भवेत् सजातीयप्रतीतिजननात् क्रिया चोभयत्र लोके वेदे च सहभावेनैव ज्ञानेन च्छिन्ना भवेत्, तथा च भगवति केवला न प्रवर्तेत पदैः स्थानैर्वृन्दावनादिभिः, **क्रिया** च प्राणादिसाध्या पिपासादिहेतुः, **आच्छि**द्येति पूर्वेण सम्बन्ध उत्तरसम्बन्धस्तु त्रयाणां जीवजड़ब्रह्मणामेक नान्य उपयोस्तीति सिद्धं, स्व. **पदमगा**दिति तत्रैव स्वरूपस्थितिः, सर्वनिर्वाहा**येश्वर** इति तथा च प्रथमपक्षे बीजत्वं सिद्धं द्वितीये वैराग्यमेव बीजमिति ।। ६ ।। ७ ।।

व्याख्या—आपने स्वरूप से जीवों के ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति को बाह्य प्रपञ्च से खेंचकर, एवं यश का विस्तार कर वैकुंठ पधारे यों कहा है ।

जीवों के ज्ञान की स्वाभाविक प्रवृत्ति, बाह्य (बाहर के) और आभ्यन्तर प्रत्येक भेद से, 'रूप प्रपंच' और 'नाम प्रपंच' में चारों तरफ से पूर्णतः स्थिर है। 'नाम प्रपंच' में विचारों की सहकारिता है, उन विचारों का निर्धारण चित्त के बिना केवल कर्णों द्वारा श्रवण से हो नहीं सकता। अतः इसमें अर्थात् विचार करने में चित्त की प्रधानता होने से दोनों इन्द्रियाँ (श्रवण और चित्त) दी गई हैं।

शङ्का–जिनको फल लेने की इच्छा है, वे योगादि साधनों से मुक्ति आदि प्राप्त कर सकते हैं, फिर ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के खेंच लेने की क्या आवश्यकता थी? जिसके उत्तर में निम्न कारिका कही हैं।

कारिका—**अधिकारश्च मार्गश्च नेश्वरेण विचार्यते ।**
अन्तः स्थितं यदा ब्रह्म तदा योग उदीर्यते ॥ १ ॥
इन्द्रियान्तःप्रवेशार्थं तथा साङ्ख्यं तथापरम् ॥ १½ ॥

कारिकार्थ—ईश्वर जब अप्रकट हो तब योगादि साधनों की आवश्यकता होती है, इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने के लिए साङ्ख्य तथा अपर साधन है।

व्याख्या—भगवान् जब स्वयं प्रकट हैं तब प्रभु को जीव के इन्द्रियादि को 'नाम' और 'रूप' 'प्रपंच' से हटाकर अपने निरुद्ध करना ही उचित है। यदि जीवों की इन्द्रियाँ 'नाम' तथा 'रूप' प्रपंच में स्थिर हों तो उनकी मुक्ति नहीं हो सकती, जिनका भगवान् ने स्मरण किया है उनके लिए ज्ञानादि की आवश्यकता नहीं है कारण कि भगवान् ही उनके उद्धार के लिए प्रमेय बल से स्वयं स्वरूप लावण्यादि से साधन बन जाते हैं। इस विषय को दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे वन में जाकर जो कोई वृक्ष से काष्ठ का छेदन करते हैं (लकड़ी काटते हैं)। वह काष्ठ उनके लिए ही होता है। यदि उनके काम न आवे तो वह लकड़ी यों ही पड़ी रहती है। जैसे पतिव्रता स्त्री उपयोग में न आवे तब मौन धारण कर लेती है। वन काष्ठ-छेदन की तरह जीवों का संसार से आच्छेदन (पृथक होना) भगवन्मूर्ति से हुआ है। अतः वे जीव भगवत्स्वरूपार्थ ही होते हैं। भगवान् लोक से तिरोहित हो स्वरूप स्थित हो तो भी भगवत् दृष्टि उन पर ही पड़ती है। क्योंकि वे जीव तो उस समय भी भगवन्मूर्ति के ही सेवा तथा दर्शन में आसक्त रहते हैं। कदाचित् प्रभु ईश्वर (सर्व समर्थ) होने से 'तूष्णीं भाव' धारण करले (चुप्प साध लेवे) तो भी उन जीवों से भगवत्सेवातिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता है। इसलिए उनकी इस प्रकार मुक्ति सिद्ध ही है।

जो भगवान् विषयों को भी छेदन करने में समर्थ है, उनको विषयों के अधीन जीव को खेंच लेने में कौनसा प्रयास होगा? कुछ नहीं, यह अलौकिक उपाय है। इसलिए इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है तथा इसके लिए गोपीजनों का दृष्टान्त विद्यमान है। यों इन वर्तमान जीवों की मुक्ति

१–यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,

भगवान् ने अपने अलौकिक दिव्य स्वरूपादि से की है। जो मुक्ति इस प्रकार प्रमाण सिद्ध विद्यमान ही है।

आलोक—सूर्य मण्डल, भुवन जननात्मक लोकों, तथा अलोक (अन्धकार) इन सबों का जो तेजस् संस्थान रचना विशेष एवं श्यामता है, वे धर्म भी, भगवन्मूर्ति के लावण्य के आगे निःसार हो जाते हैं। सारांश यह है कि जब वर्तमान जीव भगवन्मूर्ति के अलौकिक लावण्य के दर्शन का आनन्द लेते हैं, तब सूर्य मण्डलादि के लावण्य की कुछ भी गणना नहीं रहती है। यहां एक वचन जाति सूचक है। इस प्रकार रूप प्रपंच में आलोचन की अपेक्षा नहीं रहती है। क्योंकि भगवत्स्वरूप लावण्य से ही कार्य सिद्धि हो जाती है। रूप प्रपंच से आसक्ति छूट जाती है, किन्तु नाम प्रपंच में विशेष कहते हैं कि, 'ताः स्मरतां' जो एक से ही छेदन करे तो "नाम-प्रपंच" से आच्छेदन नहीं हो सके। क्योंकि सजातीय प्रतीति को उत्पन्न करने से क्रिया तो लोक और वेद में सहभाव ज्ञान से ही आच्छिन्न होती हे केवल रूप-लावण्य से नहीं। अतः प्रभु अपने वाक्-सुधा वचनों से अपनी वाणी को स्मरण करनेवालों के चित्त को 'नाम-प्रपंच' से आच्छेदन कर अपने में निरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार द्विविध ज्ञानेन्द्रिय, (श्रोत्र एवं चित्त) के छेदन से कार्य सिद्धि 'रूप' और 'नाम' प्रपंच का आच्छेदन होने से कार्य सिद्धि हो गई। अर्थात् निरोध हो गया। तो फिर क्रिया के आच्छेदन की क्या आवश्यकता है? इस शंका का निवारण करते हैं कि, क्रिया तो अन्दर और बाहर, इन्द्रियों के सहभाव रूप ज्ञान से छेदन होती है। और जो इस प्रकार भगवान् में प्रवृत न हो सके, उनकी आवश्यकता के लिए कहते हैं कि प्राणादि साध्य है जिसका हेतु पिपासादि है, इस प्रकार आच्छेदन कर लिया अन्यथा प्राणों का तादर्थ्य न होवे। क्रिया का आच्छेदन भगवत्पदरूप वृन्दावनादि तीर्थों में निवास करने से ही होता है। उत्तर सम्बन्ध तो जीव,जड़ और ब्रह्म के एकता रूप लक्षण वाली मुक्ति के लिए हैं। एक से ही तीनों का (जड़,जीव और ब्रह्म) का कार्य कैसे सिद्ध होगा? इस शंका निवारण के लिए कहते हैं कि, भगवान् का यश भी भगवत्स्वरूप के समान है। अतः एक ही भगवद्गुण (यश) गान से सर्व सिद्धि हो जाती है। यदि ऐसा है तो मुक्ति का वैलक्षण्य कैसे? इस पर कहते हैं कि, काल तथा साधन से उसमें भेद है। वह कीर्ति सुन्दर गाने योग्य है। कारण कि, ज्ञानावतार, महर्षि वेदव्यास कृत है। अतः उसमें प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है। एकत्वरूप ज्ञानादि साधनों के होते हुए कीर्ति (गुणगान) की क्या आवश्यकता है? इस शंका का 'अनायासेन' पद से निवारण करते हैं कि, ज्ञानादि साधन सिद्ध करने में परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ भगवद् यशो-गान में परिश्रम नहीं किन्तु गान करते हुए आनन्द उत्पन्न होता है। पृथ्वी पर यही गुणगान चांदनी की तरह अन्तःकरण में आनन्द उत्पन्न कर भगवद्रस पिलाता है। जिससे कार्य सम्पूर्ण सिद्ध हो जाता है। कारण कि, कलियुग में इसके अतिरिक्त और कोई सरल साधन नहीं है। अन्य युगों में ज्ञान, तप आदि उपायों से जो फल प्राप्त होता था। वह कलियुग में हरिकीर्तन से होता है। जैसा कि कहा है "कलौ तद्धरिकीर्तनात्" 'स्वं पदं अगात्' का आशय है कि वहां ही स्वरूप में स्थिति करली। ईश्वर पद का स्वारस्य कहते है, सब कुछ आप कर सकते हैं, अतः यहाँ सर्व निर्वाह के लिये 'ईश्वर' कहा है। प्रथम पक्ष में बीज की सिद्धि हुई। दूसरे पक्ष में वैराग्य ही बीज है॥ ६-७॥

आभास—तत्कारणं पूर्वत्र शापरूपं शापं पृच्छति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—राजा दो श्लोकों से शुकदेवजी से पूछते हैं कि इनके (यादवों के) शाप का क्या कारण है ?

श्लोक—**राजोवाच—ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।**
ब्रह्मशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—राजा पूछते हैं कि-हे (द्विजश्रेष्ठ) जो ब्राह्मणों के भक्त न हों, दाता न हों, और वृद्धों की सेवा न करते हों उनको तो ब्राह्मण शाप देते हैं। ये यादव तो ब्राह्मण भक्त, उदार (दानी) और सदैव वृद्धों की सेवा करने वाले, उनको ब्राह्मणों ने शाप क्यों दिया ? ॥ ८ ॥

श्लोक—**यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।**
कथमेकात्मनां भेद एतत् सर्वं सुदस्व मे ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—जो यादव भगवान् की भांति एवं परस्पर एक आत्मा रूप थे, उनको ऐसा शाप ब्राह्मणों द्वारा क्यों मिला ? जो परस्पर लड़ मरे, यह सर्व वृत्तान्त मुझे कहिये ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—स्वतो न कथनं भक्तस्यानुचितमित्यसम्भवेन पूर्वपक्षः प्रश्नश्चेतिद्वयं, तत्र **पूर्व**-पक्षमाह **राजे**ति, गुणत्रयं नैर्गुण्यं चेति**चतु**ष्टयं शापविरोधि, तत्र **ब्रह्मण्य**ता सात्विक उत्कृष्टो धर्मः शापविरोधी च राजसे **वदान्य**त्वं शापविरोधी च **वृद्धोपसेवनं** च तामस उत्कृष्टः, आयासरूपत्वात् तामसत्वं शापविरोधी च, **नित्यमि**ति सर्वत्र, भक्तिधनसेवानां विद्यमानत्वात् **कथं शापः** ? **कृष्णचेतसा**मिति निर्गुणावस्था शापाप्रभवश्च, असम्भावितत्वात् पूर्वपक्षः सिद्धः ॥ ८ ॥

प्रश्नमाह **यन्निमित्त** इति निमित्तस्याप्रसिद्धात्वान् निर्निमित्तपक्षस्य प्रकृते चाभावाद् ब्राह्मणेषु यादवेषु वा **निमि**त्तोत्पत्तिर्दृष्टादृष्टभेदेन निमित्तसम्भवात् प्रकारप्रश्नः, सजातीयकृतं न वदेदितिशंकानिराकरणार्थं **द्विजसत्तमे**ति भक्तिज्ञानसम्पन्न अदृष्टापेक्षया दृष्टस्य बलिष्ठत्वाच्छापेपि जाते **कथमेकात्मना**मन्योन्ययुद्धं ? **एत**दुपयोगि **सर्वं** वक्तव्यमित्यर्थः, क्रियाफलं कर्तृगामीत्यात्मनेपदं, अस्याः कथायाः सर्वोपकारित्वाभावेपि सन्देहवारणान् मदुपकार इत्याह **म** इति ॥ ९ ॥

व्याख्या—बिना पूछे भक्त को कह देना उचित नहीं। अतः राजा पूर्व पक्ष और पक्ष दोनों कहते हैं उनमें पहले पूर्व पक्ष कहते हैं जो तीन गुणों को धारण कते हैं और निर्गुण भी हैं, उन को शाप प्राप्ति नहीं होनी चाहिये। क्यों कि, ये चारों गुण शाप के विरोधी हैं।

यादवों में जो ब्रह्मण भक्ति हैं—वह सात्विक उत्कृष्ट गुण हैं। जो गुण-शाप का विरोधी हैं। वृद्धों की सेवा करना उच्च कक्षा का तामस गुण भी इनमें है, जिससे भी इनको शाप नहीं

मिलना चाहिये था। इनमें नित्य ब्राह्मण भक्ति, दानार्थधन एवं परमगहन सेवाधर्म था, तो भी इनको ब्राह्मणों ने चाप कैसे ग्रौग क्यों दिया ? ग्रौर उनका चित्त सदैव कृष्ण में ग्रासक्त होने से ये निर्गुण भी थे, तो इनके लिये शाप बन ही नहीं सकता। यह सर्वथा ग्रसम्भव है। इस प्रकार–राजा ने पूर्व पक्ष सिद्ध कर बताया ॥ ८ ॥

ग्रब इस 'यन्निमित्तः' श्लोक से प्रश्न करते हैं। शाप का निमित्त तो कोई प्रकट देखने में नहीं ग्राता है। बिना किसी निमित्त शाप देना सम्भव नहीं है। ब्राह्मणों में वा यादवों में दृष्ट तथा ग्रदृष्ट भेद से कोई निमित्त ग्रवश्य हुग्रा होगा ? यों प्रश्न का प्रकार कहा। यदि कहीं सजातीय होने से नहीं करना चाहिये यदि ऐसा हो इसके उत्तर में कहते हैं कि, ग्राप भक्ति ग्रौर ज्ञान सम्पन्न होने से ब्राह्मणोत्तम है। ग्रतः ग्रापको ग्रवश्य मेरा मनोरथ पूर्ण करना चाहिये।

ग्रदृष्ट की ग्रपेक्षा दृष्ट बलवान् होता है। ग्रतः शाप होने से परस्पर एकात्मभाववाले थे, इनका परस्पर युद्ध कैसे हुग्रा ? इस प्रश्न के उत्तर में जो उपयोगी हो वह सर्व कहना, क्रिया का फल कर्त्ता में जाता है। इसका बोध कराने के लिए 'वदस्व' ग्रात्मनेपदी की क्रिया दी है। 'मे' पद का स्वारस्य स्पष्ट करते हुवे ग्राचार्य श्री ग्राज्ञा करते हैं, कि राजा के ग्रन्तः करण का भाव यह है कि इस कथा से सर्वोपकार न होगा तो भी मेरा सन्देह मिटाकर मेरा ही उपकार किजिये ॥९॥

ग्राभास—कथायाः क्रूरत्वं द्योतयति, शापे हेतुमाह।

ग्राभासार्थ--कथा की क्रूरता तथा हेतु बताते हैं।

बादरायणिबिभ्रद्रुवाच श्लोक—**वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं**
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गल ग्राप्तकामः।
ग्रास्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी ने कहा कि समग्र सौन्दर्य का निधि–रूप स्वरूप धारण कर, एवं सुन्दर मंगल कुकर्मों को करते हुवे, ग्राप्त काम (पूर्ण काम) उधर कीर्त्ति भगवान् ग्रपने धाम द्वारिका पुरी में पहुंच कर- ग्रपने शरणस्थ भक्तों में रमण करते हुवे ग्रपने शेष कार्य का स्मरण कर; कुल के संहार की इच्छा करने लगे ॥ १० ॥

सुबोधिनी—बिभ्रदिति, ऐच्छतेतिहेतुः, द्वितीय-पक्षस्य पुष्टिमार्गस्थत्वभावाल्लौकिकदूषण-परिहारेण वक्तव्यं, ग्रयं च पुनर्द्वितीयपक्ष एव श्रोता पुष्टिमार्गे प्रवेशाभावाच्छापव्याजेनेत्युक्त प्रश्नानुपपत्ते रतो मर्यादास्कन्धत्वाल्लौकिकन्यायेन वदति, "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचि" दितिवचनादेतादृशमपि श्रवणं चित्तशुद्ध द्वारा ज्ञानसाधकमिति कथनं, उत्तमाधिकारित्वं संहितापेक्षया न पुष्टिमार्गापेक्षयातो लोकन्यायेन कथनं न दोषाय, लोक विरक्तिकारणानि प्रकृते

न सन्तिकुरूपत्वं कर्माशक्तिरभूषणतया स्थितिर कामपूरणं गार्हस्थ्यसुखाभावोकीर्तिश्चे ति, एतन्नि-राकरणेन सर्व एव निराकृताः, **सकलसुन्दराणां** सम्यङ् **निवेशो** यस्मिन्, **भुवी**त्युभयत्र **संहारेच्छायां** देवगुह्यं किञ्चिदिति **स्थितकृत्यशेष** इति **सङ्कर्ष-**णकार्यैकदेशः **स्थित** इत्यर्थः ॥१०॥

व्याख्या—'शुक उवाच' न कह कर 'बादरायणिरुवाच' कहा। जिसका रहस्य प्रकट करते हुवे आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यह नाम देने से कथा की क्रूरता प्रगट होती है। क्यों कि शुक-देव बादरायणि है अर्थात् आपके पिता कण्टकों वाले बन्दरों के पेड़ों में निवास करते थे। अतः यह करण क्रूर है तो भी कह दी है। 'ऐच्छत' क्रिया से कथा कहने का कारण कह दिया है। शाप का निमित्त पहले कह ही दिया है। तो पुनः कहने की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि, द्वितीय पक्ष पुष्टि मार्गीय न होने से लौकिक दूषणों के परिहारार्थ कहना ही चाहिये। मर्यादा मार्ग में लौकिक दृष्टि से दूषण दिखाई देते हैं। यह एकादश स्कन्ध "मर्यादा स्कन्ध" है। अतः लौकिक न्याय से कहते हैं। वह (शाप निमित्त) कहना आसुरों[१] को मोह कराने के लिए है। वहाँ सत्पुरुषों को भी हो जाता है ऐसा यह चरित्र है, तथापि इसके श्रवण से चित्त शुद्धि ज्ञान प्राप्ति होती है। इसलिए शुकदेवजी ने यह चरित्र कहा है।

यहाँ उत्तमाधिकारित्व संहिता (वेद) की अपेक्षा से हैं पुष्टि मार्ग की अपेक्षा से नहीं। अतः लोक न्याय से कहने में दोष नहीं। लोक में जो कुरूपत्व, कर्म करने में अशक्ति, आभूषणों धनादि का न होना, काम मनोरथों की अपूर्णता, गृहस्थाश्रम में सुखाभाव और अपयश ये छः दोष वैराग्य के कारण होते हैं। वे यहाँ (भगवान् में) नहीं है जिससे कि कहा जावे कि इनसे वैराग्य हुआ है। भगवान् में तो सर्व प्रकार की सुन्दरतादि, सुख–कीर्ति, समस्त पूर्णरूपेण सम्पन्न है, फिर अपने कुल के संहरण की इच्छा में कुछ देव गुह्यता अवश्य है। श्री सङ्कर्षण स्वरूप से शेष कृपा कुल संहरण रहा था। इसलिए ही आपने स्थिति की है ॥१०॥

श्लोक—**कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।**
कालात्मना निवसता वसुदेवगेहे पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः ॥११॥

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण रीति से मङ्गल करने वाले, पुण्यों को बढ़ाने वाले और गाने से जगत् के मल का अपहरण करने वाले, कर्मों को–मुनियों द्वारा-वसुदेवजी से करा-कर कालात्मा प्रभु आप वसुदेव के घर में बिराजे और कर्म कराने वाले वे मुनि आज्ञा प्राप्त कर पिण्डारक तीर्थ पर गये ॥११॥

सुबोधिनी–इच्छारूपं बीजमुक्त्वा प्रयत्नमाह, लोके ह्युत्पन्नस्यर्णत्रयापाकरणमावश्यकमित्य**नि-**रुद्धांशाविर्भावेन यज्ञार्थं ब्राह्मणानाहूय तैर्नित्य–काम्यप्रायश्चित्त**कर्माणि कृत्वा** पूर्वरूपस्थाने परित्यज्य वैपम्यनैर्घृण्यपरिहाराय कुले प्रवेशाथ **वसुदेवगृहे** स्थित्वा संहारार्थं **सङ्कर्षणा**विर्भावं

१—तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्'

च कृत्वा सर्वमेधात्मसमारोपणयोः कृतत्वान् नितरां प्रस्थापिता ब्राह्मणाः प्रागुदीचीं दिशं तीर्थविशेषं तीर्थाभिगमनविधिनागमन्नित्यर्थः, **पुण्यमेव नितरां वहन्ति** "यज्ञेन यज्ञ" मितिन्या- येन विधिपरिपालनेन **धर्मसम्पत्तिरेव नित्यैः, सुमङ्गलानि** पशुपुत्रारोग्यसाधकानि भगवतो दोषाभावाच् छिक्षार्थं कृतानि सङ्कीर्तनोपयोगीनि जातानि विधानकालानपेक्षतया प्रायश्चित्तानर्ह-दोषदूरीकरणसमर्थानि भगवत्प्रेषितब्राह्मणगमन-मेवेच्छापूरकमिति कार्यं सिद्धं, आविर्भूतः सङ्कर्षणांशो ब्राह्मणेषु यादवेषु देशकालयोश्च प्रविष्ट इति न किञ्चिद् दूषणम् ॥११॥

व्याख्या – लोक में जो जन्म लेते हैं उन पर तीन ऋण[1] रहते हैं। उनके उतारने के लिये वैसे कर्म करने आवश्यक हैं, जिससे वह उऋण हो जावें। अतः अनिरुद्धांश प्रकट कर यज्ञ हेतु ब्राह्मणों को बुलवा कर, उनके द्वारा नित्य, काम्य और प्रायश्चित कर्म करा कर आविर्भूत अनिरु-द्धांश का तिरोहन कर एवं अपने स्थान द्वारका का भी त्याग कर वसुदेव के घर आकर निवास किया।

वैषम्य एवं नैर्घण्य दोषों के परिहार–हेतु कुल में अधर्म (जिसके द्वारा संहार होता है वह) सरल रीति से इनमें प्रवेश करे। तदर्थ वसुदेव के[2] घर में निवास कर संहार के लिए सङ्कर्षणांश का आविर्भाव कर, भगवान् ने ब्राह्मणों में अपनी बुद्धि (इच्छा) तथा स्वरूप को स्थापित किया, और ब्राह्मणों को पिण्डारक तीर्थ पर विधिपूर्वक भेजा।

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस श्रुत्यनुसार विधिपूर्वक कार्य करने से धर्म–सम्पदा ही बढ़ती है सदैव पशु, पुत्र और आरोग्य को सिद्ध करने वाले शुभ कर्म होते ही रहते हैं। ये सब कर्म भगवान् ने लोक शिक्षार्थ ही किये हैं, जिससे इन कर्मों के गान करने वाले लोगों के सब पापादि दोष निवृत् हो जाते हैं। जो पाप प्रायश्चित्त द्वारा नहीं समाप्त होते वे भी इनके गान करने से सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

ब्राह्मणों का तीर्थ पर जाना इच्छा–परक होने से कार्य सिद्ध हुआ।

ब्राह्मण, यादव, देश और काल में सङ्कर्षणांश प्रविष्ट हो गया। इस कारण कोई दूषण नहीं ॥ ११॥

आभास—यागविशेषे तत्तदृषीणामुपयोगात् ससदस्यानां दशानां गणनामाह,

आभासार्थ—जिन ब्राह्मणों को यज्ञादि के लिए बुलाया था, तथा जिनका यज्ञ में उपयोग हुआ उन दसों की सदस्य सहित गणना करते हैं।

१—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण

२—वसुदेव कश्यप रूप होने से प्रजापति हैं। अतः यहाँ स्थिति करने से सर्वत्र प्रवेश का सौकर्य हो।

श्लोक—**विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।**
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वशिष्ठो नारदादयः ।। १२ ।।

श्लोकार्थ—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ट और नारदादि ऋषि थे । जो भगवदेच्छा पूर्त्यर्थ पिण्डारक तीर्थ पर जाकर निवास करने लगे ।। १२ ।।

सुबोधिनी—यागविशेषे तत्त दृषीणामुपयोगात् ससदस्यानां दशानां गणनामाह नारदादयः सदस्याः ।।१२।।

व्याख्या—इन ऋषियों का यज्ञ विशेष में उपयोग किया गया था । अतः इनके नामों की सदस्य सहित गणना की है ।।१२।।

श्लोक—**क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।**
उपसङ्गृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—वहाँ उच्छृङ्खल यादव कुमार मिलकर खेलते हुवे इन ऋषियों के पास आकर नम्रता से पूछने लगे ।।१३।।

सुबोधिनी— कालाविष्टा यादवा भगवदिच्छापूरणाय ब्राह्मणावज्ञां कृतवन्त इत्याहोद्देशप्रकारवञ्चनैः श्लोकैः, तत्रोद्देशमाह, **क्रीडन्त** इति राजसावेशः, **तानुपव्रज्येति**धाष्टर्य, **कुमारा** तदीर्घदर्शना भावः, **यदुनन्दना** इति पित्राद्यसम्मताः, **तानुपसङ्गृह्य** नमस्कृत्येति सहजसात्त्विकत्वं, **अविनीता** इति तामसाविर्भावः, आकारगोपनं भगवदाविष्टब्रह्मतेजसा ।।१३।।

व्याख्या—काल के आवेश वाले यादव, भगवदेच्छा पूर्ण करने हेतु, ब्राह्मणों की अवज्ञा करने लगे । इस प्रकार उद्देश प्रकार और वञ्चना इन श्लोकों से कहते हैं—इनमें प्रथम उद्देश कहते हैं—'क्रीडन्तः' इस पद से राजस गुण का आवेश प्रकट किया है । 'तान् उपव्रज्य' (उनके समीप जाकर) इस पद से उनकी धृष्टता दिखाई है । 'कुमाराः' पद देने का भाव यह हैं कि दीर्घ दृष्टि (सूक्ष्म दृष्टि) वाले नहीं है । इस कार्य के करने का परिणाम क्या होगा इससे अनभिज्ञ थे । 'यदुनन्दन' पद का आशय यह है कि जो कर्म ये करना चाहते थे, उसमें बडों की सम्मति नहीं ली थी । वे सब मिलकर ब्राह्मणों को प्रणाम करने लगे । यह कार्य इनकी सात्त्विकता प्रकट करता है । 'अविनीता' 'उच्छृङ्खलता' इससे तामसपन प्रकट होता है । पुरुष को स्त्री–वेष में ले जाना, यह जो आकार की गुप्तता की; इसमें भगवदाविष्ट ब्रह्मतेज ही करण है ।।१३।।

श्लोक—**ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।**
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मणों ! आप विप्र होने से जिज्ञासुओं की इच्छा पूर्ण करने वाले हैं । अतः श्याम नेत्र वाली यह गर्भवती स्त्री आपसे पूछती है कि (वास्तव में,

वह स्त्री नहीं थी। इन यादव कुमारों ने जाम्बवती के पुत्र साम्ब को स्त्री का वेष पहनाकर झूठा उदर बढ़ाकर ऋषियों को छलना चाहा था) ॥१४॥

सुबोधिनी—धनार्थिनो याजकाः कामुका भविष्यन्तीति स्त्रियं वञ्चनप्रकारं कृतवन्त इत्याह, पुराणान्तरे पार्वतीसहितो महादेवोवतीर्ण इति मातृनाम्ना तु मुग्धत्वं गर्भिणी सुन्दरी चेयं **वो** युष्मानर्थात् किं जननीयं मयेति **पृच्छति** ॥१४॥

व्याख्या—धनेच्छुक ब्राह्मण कामुक होते हैं। अतः स्त्री द्वारा उनको ठगना व उनका तिरस्कार करना चाहा। अन्य पुराण में इस प्रकार कहा है कि पार्वती सहित महादेव ने साम्ब में आकर प्रवेश किया है, इससे वह बताया है महादेवजी संहार कर्त्ता है। अतः साम्ब इस संहार कार्य में साधन बना। 'जाम्बवती' सुतम् कह कर साम्ब का भोलापन (बालपन) भी प्रकट किया। जिसने स्त्री बनना स्वीकार कर लिया ॥ १४ ॥

श्लोक—**प्रष्टुं विलज्जती युष्मान् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।**
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—स्वयं पूछने से लजाती है। अतः हमारे द्वारा पूछती है। आपके दर्शन कभी निष्फल नहीं होते हैं। अतः कृपया बताइये कि यह पुत्र कामना वाली क्या उत्पन्न करेगी? ॥ १५ ॥

सुबोधनी— वञ्चनामाह, पादद्वयमुत्तरार्धं चेति वाक्यत्रयं, अर्थात् साक्षात् प्रष्टुं, **प्रब्रूतेतिस्व** प्रार्थना, उभयोरौत्सुक्यपूरणं पादद्वयेन, भावः स्पष्टः ॥१५॥

व्याख्या— इस श्लोक में मुनियों को छलने का प्रकार कहा है – साक्षात् स्वयं पूछने में शरमाती है। अतः हम से पूछवाती है कि 'क्या उत्पन्न करेगी?' कहिये।, यह प्रार्थना हम करते हैं। क्यों कि आपके दर्शन निष्फल नहीं जाते हैं। दोनों में आपके उत्तर सुनने की उत्सुकता है। विशेष भाव स्पष्ट है ॥ १५ ॥

आभास—निमित्ताभासमाश्रित्य कृष्णाविष्टाः शापं दत्तवन्त इत्याह।

आभासार्थ—सङ्कर्षणरूप कृष्ण के आदेश वाले मुनियों ने निमित्ताभास को लेकर कुपित हो यदु-कुमारों को श्राप दिया। इस प्रकार इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।**
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! उन यादव बालकों से बक्रोक्ति द्वारा अपमानित व ठगे हुवे मुनि लोग उनको कहने लगे कि हे मूर्खों! यह तुम्हारे कुल का नाश करने वाले मूसल को पैदा करेगी ॥ १६ ॥

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

यदुवंशको ऋषियोंका शाप

सुबोधिनी— एवं वक्रोक्तया परीक्षारूपया वञ्चिताः, मननं वृत्तान्तज्ञाने हेतुरन्यथाल्पापराधेधिकदण्डोनुचितः, तेषामल्पकर्तृत्वेपि भगवदीयविषयत्वाद् दण्डो वोक्तः स्यात् मुनीनां दृप्तत्वं वा भवेत्, मन्युवशानामेवान्ते विभूतित्वात् **कुपिता** इत्युक्तं, **वः कुलस्य नाशकं** नित्यसापेक्षत्वादसमर्थसमासः, कोपावेशादज्ञानप्रवेशे **मन्दा** इतिसम्बोधनं बुद्धिरहिताः, **अमन्दा** इति वा, त्वरिता इति हास्ये, तामसाद् राजसोयमितिविशेषः, अल्पीयांस इति वा व्रीहय इवेति, अत एव **वो मुसलमवघातजनक** "मत्ता चराचरग्रहणा" दितिन्यायेन भगवद्भोजनसाधनं फलपाकान्तत्वं च, यादवानां **कुलनाशनमिति** तस्य स्वभावकार्यं व्रीहिमात्रस्य यथावघातहेतुः, एवं सति न समासदोषः, महत्त्वे फलवद्भोगो भवेत् **मन्द**त्वादोदनभावेनेतिविशेषः, भावाज्ञातार इति च सम्बोधनमत एवाग्रे कृतार्थत्वभावनात एवोद्धवपश्चात्तापे निन्दा युज्यते, अंशतस्तस्याप्यज्ञानं मौसलविषये दाहादिसम्भावनयायस्मयत्वं विद्यमानमपि नोक्तं दर्शनादेव ज्ञातुं शक्यत्वात् तस्माद् यज्ञपुरुषस्यायुधविशेषरूप**मुसलो**त्पत्तिज्ञापकं वचनं शाप इति सिद्धम् ।। १६ ।।

व्याख्या—इस प्रकार परीक्षा रूप वक्रोक्ति से ठगे हुवे मुनि अर्थात् जो मननशील थे और यह मननशीलता वृत्तान्त ज्ञान में हेतु है। नहीं तो, अल्प अपराध में अधिक दण्ड देना अनुचित था। उनके अल्पकर्त्तापन में भी भगवदीय विषयपन होने से 'दण्ड' कहा अथवा इससे मुनियों का दर्प प्रकट हुआ। 'मुनि' कुपित हुवे जिससे अभिमान पूर्वक श्राप दिया। इससे यह बताया है कि मुनियों ने विभूति रूप होने से इस प्रकार किया अर्थात् शाप दिया कि तुम्हारे कुल का नाशक मूसल पैदा करेगी। नित्य सापेक्ष होने से असमर्थ समास है। कोपावेश के कारण अज्ञान का प्रवेश होने से यादव कुमारों को 'मन्दाः' यह विशेषण देकर कहा कि तुम बुद्धि हीन हो। कोप के प्रभाव में 'अमन्दाः' आपने हास्य किया है। क्यों कि उन लोगों को शीघ्रता थी। 'तामसात् राजसोऽयमिति विशेषः' अज्ञान् से प्रवेश की अपेक्षा यह शीघ्रत्व का विचार, कोप सजातीय होने से विशेष है। व्रीहि की(चावल)तरह अल्प यह। अतः यह 'मुसल' अवघातजनक होने से 'फलयार्कषयन्त मत्ता चराचरग्रहणात्' इस श्रोतन्याय से भगवान् के भोजन के साधन बनेगा। इस मूसल का स्वभाव सिद्ध कार्य होगा कि यादवों के कुल का नाश करना। 'व्रीहि' मात्र का यथावघात हेतु है। यह होने पर समास दोष नहीं। महत्व में फलवद्भोग होवे। मन्द होने से ओदन भाव से, इस प्रकार विशेष है। 'मन्दाः' यह सम्बोधन भाव न जानने वाले है। यह बताने के लिए कहा है। इसलिए ही उद्धवजी की पश्चात्ताप पूर्वक यादवों की[1] निन्दा करनी बन सकती है अंश से तो उसको भी मूसल विषय में अज्ञान था। दाहादिसम्भावना से अयस्मयत्व (लोहादि) होते हुए भी नहीं कहा, दर्शन से जाना जा सकता है। इसी से यज्ञ पुरुष के आयुध विशेष रूप मूसल की उत्पत्ति ज्ञापक वचन श्राप है। यह सिद्ध हुआ ।। १६ ।।

आभास—सप्तभिरग्रिमकथामाह ।

आभासार्थ—सात श्लोकों से आगे की कथा कहते हैं, जिसमें पहले इस 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से शापार्थदर्शन कहते हैं।

१—दुर्भगा बत लोकोऽयं सुतरां यदवोऽपि हि । ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ।

श्लोक—**तच् छ्रुत्वा तेतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।**
साम्बस्य ददृशुस्तत्र मुसलं खल्वयस्मयम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—मुनियों के श्राप के वचन सुनकर वे यदुकुमार अत्यन्त भयभीत हुवे। शीघ्र ही साम्ब के उदर पर लपेटें हुवे वस्त्र जिनसे साम्ब गर्भवती देखने में आता था, उसे खोल दिया; तो उस उदर में लोह का मूसल देखने में आया ॥१७॥

सुबोधिनी—शापार्थदर्शनं गृहनयनं राजनिवेदनं लोकभयं तन्निवारणाय मुसलनाशोंशांशिविनियोगाय तस्य रूपद्वयस्थितिरिति तदर्थाः, तत्र प्रथमं शापार्थदर्शनमाह, कार्ये जाते संकर्षणावेश गतत्वात् सर्वनाशानुसन्धानेन महाभयं, ब्राह्मणानां ज्ञापकत्वान् न पश्चात्तापः, तेषां वाक्ये प्रामाण्यस्यावधारितत्वात् संवादात् पूर्वमेव भयोत्पत्तिः, अचेतनत्वान् म्रियमाणस्येव **विमुच्य** दृष्टवन्तः, उदरोच्छूनत्वाय सविवरबन्धने तदाकाश आविर्भूतस्ताहशस्योदरभावनात् नाभिद्वारा वा प्रकटं, अन्यथा 'जनयिष्य' तीतिवचनं बाधितं स्यात्, 'आकृतिवचनाः शब्दा' इत्य**यस्मय**त्वस्यापि **मुसल**त्वं दाहादिप्रतीकारनिराकरणाय तथात्वं, **उत्तरोत्तरं** प्रतिश्लोकार्थकरणं भगवदावेशात्, **अयसो** मृत्युरूपत्वं "सीसेन क्लीबादि" त्यत्र निर्धारात् ॥१७॥

व्याख्या— मुनियों के दिये हुवे शाप का अर्थ मूसल रूप से प्रकट दर्शन देने लगा। जिसके दर्शन से १- उनका डरना २- मूसल को घर ले जाना, ३- राजा को बताना, ४- लोक भय, ५- उसके निराकरण के लिए मूसल का नाश, ६-७- अंशांशि के विपत्ति-योग के लिए उसकी दो रूपों में स्थिति होना आदि। उनमें से प्रथम, शाप के अर्थ का दर्शन हुआ— जिसका वर्णन इस श्लोक में हुआ है। कार्य हो जाने पर अर्थात् श्राप के मूसल की उत्पत्ति हो जाने पर, सङ्कर्षणावेश के प्रकट हो जाने से, अब सर्वनाश होगा। इस तरह जान अत्यधिक भय उत्पन्न होने लगे ब्राह्मणों को स्वल्प अपराध पर महादण्ड दिये जाने पर भी पश्चाताप क्यों न हुआ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'ज्ञापकत्वात्' ब्राह्मण, पूर्व से ही, भगवान् की इच्छा ही ऐसी है ऐसा जानते हैं। इसलिए उनको पश्चाताप न हुआ। उनके वाक्यों में प्रमाणिकता निश्चित थी। संवाद से पहले ही भय की उत्पत्ति होने लगी। मूसल जड़ होने से मरे हुवे की तरह वस्त्रों को खोलते ही मूसल को देखने लगे। वस्त्रों से लपेटे उदर में आकाश उत्पन्न हो गया अर्थात् मूसल की जितना वहाँ पोल (स्थान) होगा। जिसमें साम्ब के उदर की नाभि से वह लोहमय मूसल उत्पन्न हुआ। देखा। यदि इस तरह न होता तो, 'जनिष्यति' यह वचन असत्य होता। शब्द आकृति के वचनों को कहते हैं। अतः लोहमय न भी मूसल है। दाहादि के प्रतिकार के निराकरण के लिए ऐसा कहा है। उत्तरोत्तर प्रत्येक श्लोक का कहना भगवदावेश से हुआ है। 'अयसो मृत्युरूपत्वम्' लोहमृत्यु रूप है। 'सीसेनक्लीबात्' वहाँ इसका निर्णय किया हुआ है ॥१७॥

श्लोक—**किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।**
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥

श्लोकार्थ—तब वे कुमार परस्पर कहने लगे कि मन्दभागी हमने यह कैसा मूर्खतापूर्ण कार्य किया ? लोग क्या कहेंगे ? इस प्रकार विह्वल हुवे अनुचित होते हुए भी मूसल को घर ले गये ॥१८॥

सुबोधिनि—ईश्वरेच्छयायुक्तमपि गृहान् नीतवन्त इत्याह, दृष्टप्रकाराभावाद् **भाग्यैरेव कृतं**, अन्येषां वा पूर्वं साक्षित्वेन स्थितानां वचनं, **नोऽस्मत्सम्बन्धिभिर्मन्दभाग्यैः, भगवता सह बहिः स्थितिरुत्तमा न त्वव्यक्तेन्तःप्रवेशः**, अतो **मन्दत्वं** लोकापवादोऽप्यधिक इतिकर्तव्यतामौढ्यं **विह्वलत्वं** तत्तद्गृहेषु प्रदर्शनार्थमत्याश्चर्यवत् स्थापयन्तीति **गेहानित्युक्तम्** ॥१८॥

व्याख्या—कुमारों का मूसल घर ले जाना उचित नहीं था तथापि वे ले गये। इसका कारण ईश्वरेच्छा ऐसी थी। दृष्ट के प्रकार के अभाव से ऐसा जाना जाता है कि भाग्य ने ही ये करवाया अथवा ये वचन उनके हैं जो प्रथम साक्षी की भाँति वहाँ उपस्थित थे। हम मन्दभाग्य वालों ने यह क्या किया ? भगवान् के साथ बाहर स्थिति करना उत्तम है, कि अव्यक्त (अक्षर वा प्रकृति) में स्थिति श्रेष्ठ है। अतः हमारी मूर्खता है। लोकापवाद (निन्दा) भी अत्यधिक होगा। इससे बहुत विह्वल होने लगे। कर्त्तव्यता का पूर्ण ज्ञान न रहा, जिससे प्रत्येक गृहों में जाकर दिखाने लगे और आश्चर्य प्रकट करते हुवे कहने लगे कि देखिये ! हमारी मूर्खता से यह क्या पैदा हो गया ? कुछ समय घरों में भ्रमण कर तत्पश्चात् सभा में राजा के समीप ले गये ॥१८॥

श्लोक—**तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।**
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१९॥

श्लोकार्थ—मुख की मलिन श्री वाले वे कुमार, मूसल को सभा में ले जाकर, सब यादवों की सन्निधि में राजा उग्रसेन को सर्व वृत्तान्त सुनाने लगे ॥१९॥

सुबोधिनी—"त्यजेदेक" मितिन्यायेन सैवत्यक्तव्या सलस्य वा परित्याग उचितो भगवते निवेदनं वा, त्रयमप्यकृत्वा राज्ञे निवेदनं कृतवन्त इत्याह, **साम्बनिमित्तत्वाद्** भयात् कृष्णे न निवेदनं, **तं** मुसलं चकारात् **साम्बं** च, न्यायविचारकं राजद्वारं सभास्थानं **सदः**, राजदण्डभयादपि **परितो म्लाना मुखश्रीर्येषां, उग्रसेनोपि** राजसभायां यदुभिः सह तिष्ठति, एवं राजनिवेदने सर्वेषां ज्ञानं वृत्तं भवति, तथा च सर्वेषां वैराग्यमुचितं, परमकृपालोर्भगवत एका कृतिरनेककार्यकर्त्रीत्यंशानामवतीर्णानां सायुज्यं ब्रह्मभावो वा देय इत्येवङ्करणम् ॥१९॥

व्याख्या—शास्त्रों में कहा है कि कुल की रक्षा हेतु 'त्यजेदेकं' एक वस्तु का त्याग कर देना चाहिये। इन यदुकुमारों को कुल की रक्षार्थ अपकीर्ति का भय छोड़ देना योग्य था अथवा मूसल का त्याग कर देना था। नहीं तो, वह सब भगवान् को बता देना था। इन तीनों में से एक भी न कर राजा से निवेदन किया, इसका आशय प्रकट करते हैं कि इस मूसल प्रकट करने में साम्ब कारण था। इस भय से भगवान् श्रीकृष्ण को कुछ भी नहीं कहा। न्याय करने वाली राजसभा है इसलिए वहाँ कहना चाहिये अन्यथा राजा दण्ड देंगे इसलिए भी उनके मुख की श्री मलीन हो गई थी। राज-

सभा में उग्रसेन भी यादवों सहित विराजते हैं। अतः इस प्रकार राजा के समीप जाकर निवेदन करने से सबको ज्ञात हो जायेगा। ऐसा करने से सबको वैराग्य उत्पन्न होगा।

परम कृपालु भगवान् एक कार्य से अनेक कार्यों की सिद्धि करते हैं। इस प्रकार अपने अवतीर्णांशों को सायुज्य वा ब्रह्मभाव देना चाहिये। इस इच्छा से ऐसी लीला करवाई है ॥१९॥

श्लोक—**श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।**
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! ब्राह्मणों का अमोघ श्राप सुनकर और श्रापरूप मूसल को प्रत्यक्ष देखकर द्वारकावासी भयभीत हुवे एवं आश्चर्य में पड़ गये कि 'यह क्या हुआ' ? ॥२०॥

सुबोधिनी—न च शापनाम्ना प्रकटस्य मुसलस्यान्यथाभावः सम्भवति भगवान् गुरुर्गतिश्च वर्तते तथापि न ज्ञानोपासनादिद्वारा मोक्षप्रयत्नः किन्तु सर्वे लोकाः सन्त्रस्ता एव जाता इत्याह, **शाप**संवादी **मुसलः**, संवादिवाक्यमपि श्रुत्वा न प्रमोत्पत्तिः किन्त्वाश्चर्यरसे विनियोगं कृतवन्तः, **भयं** च सन्दिग्धे, **द्वारकौकस** इति देशदोषाभावाय, तथा च केषामपि नालौकिके प्रवृत्तिरिति सिद्धम् ॥२०॥

व्याख्या—श्रापरूप उत्पन्न मूसल का अन्यथा भाव नहीं हो सकता, यद्यपि भगवान् गुरु तथा गति हैं, तथापि यादवों ने ज्ञानोपासना द्वारा उस गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया, अपितु समस्त भयभीत हो गये।

श्रापानुसार मूसल उत्पन्न हुआ एवं तदनुसार ब्राह्मण-वाक्य भी सुने, तथापि उनमें ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, अर्थात्, उनको ऐसी शुभ बुद्धि न आई कि प्रभु श्रीकृष्ण जो सङ्कट-हर्त्ता गति हैं उनकी शरण में जायें। किन्तु केवल आश्चर्य-रस में मग्न हो गये। संदिग्ध दशा में भी रहने से भयोत्पन्न होता है, 'द्वारकौकसः' पद से यह भाव प्रकट किया है। 'द्वारका' मुक्ति द्वार है अतः वहाँ रहने से देश दोष का अभाव है। ऐसा होते हुवे भी किसी को भी श्रीकृष्णचन्द्र से अलौकिक फल प्राप्त करने की इच्छा न हुई। प्रत्युत उनको ऐसी लौकिक बुद्धि उत्पन्न हुई कि मूसल को चूर्ण कर समुद्र में फेंकने से श्राप निवृत्त हो जायेगा ॥२०॥

श्लोक—**तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः सआहुकः।**
समुद्रसलिले प्रास्यल् लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वृद्ध पिता आहुक की संमत्ति लेकर यदुराज उग्रसेन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछने के बदले (बजाय) मूसल को घिस कर चूर्ण करवा डाला। और उस चूर्ण को समुद्र के क्षार-जल में इसलिए डलवा दिया कि यह वहाँ गल कर नष्ट हो जायेगा— शेष बचे टूकड़ों को भी समुद्र में फेंकवा दिया ॥२१॥

सुबोधिनी—लौकिकोपायस्तु राज्ञा कृत इत्याह, **तदि**तिपाठे तदेति समुदायेनोत्पन्नः प्रत्येकपर्यवसायी यथा भवति तथांशभेदाः सम्पादिताः, वृद्धानुमत्या कृतमित्य**ाहुकेन सहितः** पित्रा सहितो राजा, **समुद्रसलिल** इति क्षारोदके नाशार्थं, **अवशेषित**मशक्यचूर्णीकरणांशं, लौकिकोपायेन तन्निराकरणं कृतम् ॥२१॥

व्याख्या—राजा उग्रसेन ने इस प्रकार लौकिक उपाय किया। वह मुसल जो चूर्णरूप करवा दिया, उस समग्र को वृद्ध आहुक की सम्मति से समुद्र के क्षार-जल में फैंकवा दिया जिससे क्षार-जल इस चूर्ण को गला देगा जो अंश चूर्ण न हुआ उन अवशेषों को भी समुद्र में डलवा दिया इस लौकिक उपाय से कुछ भी सिद्धि न हुई अपितु विपरीत फल हुआ ॥२१॥

श्लोक—**कश्चिन् मत्स्योऽग्रसील् लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।**
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—इन अवशिष्ट लोहे के टुकड़ों को तो कोई मत्स्य निगल गया, जो चूर्ण था, वह जल से खिचता२ समुद्र तट पर आ गया उसमें से ऐरक जाति की घास की उत्पत्ति हुई ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—तद् विपरीतं जातमित्याह, न हि ब्रह्मवाक्यरूपमुसल**चूर्णानि** समुद्रे मग्नानि भवन्ति, शेषित**लोह**ग्रसनं त्वग्रिमकार्याय, न तु समुद्रे तस्यापि मज्जनं, न वायो भक्ष्यं, ज्ञानाभावाय तथोपायः, अतिनिःसत्त्वतृणा**न्येरकाः** कट उपयुज्यन्ते, **वेलायां लग्न**त्वाद् वालुकायाममूला इव, **लोहचूर्णा**नामे**रका**त्वेन लौकिक्युपपत्तिः प्रष्टव्येत्याह **किले**ति, प्रसिद्धिरेवर्षीणां तादृशी, साक्षादुपयोगपर्यन्तं हि विनियोगो वक्तव्यः, स चूर्णानामुक्तः ॥२२॥

व्याख्या—ब्राह्मणों के वचन से उत्पन्न श्राप रूप मुसल का चूर्ण गलकर समुद्र में डूब नहीं सकता। शेष बचा हुआ लोहे का टुकड़ा तो भविष्य के कार्य हेतु सिद्धयर्थ था इसलिए वह भी मत्स्य-उदर में गला नहीं। यादवों में ज्ञान नहीं था, इसी कारण ऐसा लौकिक उपाय किया, जो व्यर्थ ही हुआ। जिस तृण में किसी प्रकार सत्त्व नहीं ऐरका नाम का घास चूर्ण से उत्पन्न हुई, जिससे कट बनाये जाते हैं। किनारे पर लगी होने से बालुका में बिना मूल के वह घास होती है। ऐरका घास की लौकिकी उत्पत्ति के समान उत्पत्ति हुई। ऋषियों में इस घास की बहुत प्रसिद्धि है। चूर्णों का जब तक उपयोग हुआ तब तक विनियोग कहना चाहिये ॥२२॥

श्लोक—**मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।**
तस्योदरगतं लोहं सशल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—मछुआरों ने समुद्र में जाल डालकर अन्य मछलियों के साथ उस मच्छ को भी जाल में पकड़ लिया। उसको चीरने पर उदर से लोह मय टुकड़ा निकल आया, जिससे व्याध ने अपने तीर की अनी बना ली ॥ २३ ॥

सुबोधिनी—शल्यस्याह, स इति कालकन्यारूपः, एतदर्थमेव कालकन्या जरारूपेणावतीर्णा, **सङ्कर्षणां**शस्य कालस्यासनरूपत्वात् स्वरूपास्थित्यर्थं तदासनं तत्कन्यया दत्तं, आवेशे गते तु पश्चात्तापो व्याधस्य, शिष्टं स्पष्टम् ॥२३॥

व्याख्या—इस श्लोक में कहते हैं कि तथावत् उसका भी विनियोग हुआ। वह लोहमय टुकडा काल-कन्या रूप होने से नाशार्थ ही जरा रूप प्रकट हुई है। काल सङ्कर्षणाँश का आसन रूप होने से, स्वरूप की स्थिति हेतु काल-कन्या ने काल को यह (व्याध) आसन दिया है। आवेश निकल जाने पर व्याध को पश्चात्ताप हुआ शेष स्पष्ट है ॥२३॥

श्लोक – **भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोपि तदन्यथा ।**
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् सर्वज्ञ हैं तथा श्राप नाश में समर्थ हैं तथापि ब्राह्मण के श्राप की नाशेच्छा नहीं की, क्योंकि इस समय आप कालरूप थे। अतः उस श्राप का अनुमोदन ही किया ॥ २४ ॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तं भगवच्चरित्रत्वेनोपसंहरन् दृढीकरोति, **भगवा**निति पूर्णत्वेन सर्वकर्तृत्वमुक्तं, तेनैतत् सर्वं भगवच्चरित्रमित्युक्तं भवति, लौकिके तु परिहारे नाज्ञानाशक्ती निमित्तं किन्तु **सङ्कर्ष**णत्वमेवेति वदति, तत्र साम्बस्यापराधित्वाद् भयान् निवेदितं भगवने न कैरपि तथापि **ज्ञातसर्वार्थः** स्वत एवः ते चेन् मोक्षार्थ**मुद्धव**वद् यतेरंस्तदा**न्यथा कर्तुं**मपि शक्तः, ननु स्वत एव किमित्यन्यथा न कृतवान्? तत्राह **तदन्यथा कर्तुं नैच्छत्**, स्वांशानामंशत्वे सायुज्ये वा विद्यमानावस्थानिवृत्तेस्तुल्यत्वात् प्रकारे परं विशेषः, **तत्** साम्प्रतं **वासुदेव**कार्यकरणाभावाद**न्यथा कर्तुं नैच्छत्**, तत्र हेतुः **कालरूपी,** तस्य **विप्रशाप**त्वं विधेयं रूपं पूर्वेण सम्बद्धं, **ईश्वरोपी**त्यन्यथेश्वरपदं व्यर्थं स्यात्, **ईश्वरानुमोदनेन सेवककृतं दृढं भवती**ति, तस्माद् वैराग्यार्थमुपायो रचित इति सिद्धम् ॥२४॥

व्याख्या ऊपर कहा जा चुका है कि सर्व चरित्र भगवान् का ही है। उपसंहार में उसी को दृढ़ करते हैं। आप श्री कृष्ण भगवान् हैं, अर्थात् षड्धर्म-संयुक्त होने से पूर्ण हैं, जिससे अखिल कर्त्ता आप ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ। यह समस्त भगच्चरित्र ही है। यादवों को लौकिक–रीति से परिहार बुद्धि हुई वह अज्ञान द्वारा नहीं अपितु सङ्कर्षणत्व ने ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न की। यह साम्ब का अपराधी होने के भय के कारण किसी ने भी भगवान् को निवेदन नहीं किया, तथापि भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। वे यादव यदि उद्धव की भाँति मोक्षार्थ प्रार्थना करते तो प्रभु अन्यथा भी कर सकते थे। समझ लो, उन्होंने प्रार्थना न भी की तो भी आपने ये अपने हैं, ऐसा समझ कर क्यों नहीं शाप निवारण किया? इस पर कहते हैं कि 'विप्र-शापं अन्यथा कर्त्तुं न ऐच्छत्' भगवान् ब्राह्मण-श्राप को अन्यथा नहीं करना चाहते थे, क्योंकि, आपने काल रूप होने से उसका अनुमोदन ही किया। आप ईश्वर हैं अतः आपकी इच्छा से सेवकों ने जो कार्य किया, वह विधेय रूप ही है, अन्यथा 'ईश्वर' पद व्यर्थ हो जावे। सेवक जो कार्य करता है, उसका जब स्वामी अनुमोदन करता है, तब वह कार्य दृढ़ हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वैराग्यार्थ उपाय रचा है। ॥२४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्ध के प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के जीव मुक्ति (ब्रह्मभाव) प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।
।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।
।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित (हिन्दी अनुवाद सहित)

सुबोधिनी टीका

जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव) प्रकरण

"अध्याय—" २

वसुदेवजी के पास श्रीनारदजी का आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरों का संवाद सुनाना

श्लोक—**गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।**
अवात्सीन् नारदोभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कुरुद्वह ! नारदजी कृष्ण की लालसा—वाले थे, अतः गोविन्द भगवान् की भुजाओं से रक्षित द्वारकापुरी में निरन्तर निवास करने लगे, क्योंकि वहाँ दक्ष से प्राप्त शाप नारदजी को स्पर्श नहीं कर सकता था; जिससे निर्भय निर्विघ्नता से भगवदाश्रित हो भजन करने लगे ।।१।।

कारिका:—**वैराग्यहेतौ संसिद्धे हृदये रागसम्भवात् ।**
आन्तरस्य बलिष्ठत्वान् न वैराग्यं फलिष्यति ।।१।।

कारिकार्थ:—वैराग्य का हेतु सिद्ध हो, किन्तु यदि हृदय में राग के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जावे तो, वह वैराग्य, फलदायी नहीं होता है, क्योंकि अन्तःकरण बलिष्ठ है, अतः प्रथम अन्तःकरण को ही शुद्ध बलवान बनाने की आवश्यकता है, जिससे उसमें राग की सम्भावना ही न होवे, ऐसा होने पर ही जीव बिना रुकावट मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।।१।।

कारिका:—**पूर्वं गुरुस्तथा शास्त्रं वक्तव्यं मुक्तिहेतवे।**
गुरुर्हरिर्भक्तिमार्गसेवको विहितो महान् ॥२॥
भगवद्वचनं शास्त्रं सेवकानां तु सेवके।
प्रपन्न एवाधिकारी शास्त्रमार्गेण यो भवेत् ॥३॥

कारिकार्थः—इसीलिए मुक्ति प्राप्त्यर्थ सर्व प्रथम गुरु, अधिकारी तथा शास्त्र कहने चाहिये, इस प्रसङ्ग में दो प्रकार के अधिकारी हैं, एक उद्धवजी दूसरे वसुदेवजी। उनके अधिकारानुसार गुरु भी दो प्रकार के हैं। उद्धवजी महान् हैं अतः उनके गुरु तो हरि ही हैं, और वसुदेवजी के गुरु भगवत्सेवक नारदजी हैं। भगवत्सेवकों का जो सेवक है, उनके लिए भगवद्वचन ही शास्त्र (प्रमाण) है। यहां वे ही अधिकारी हैं जो शास्त्रानुसार शरणागत हुए हैं ॥२-३॥

कारिका:—**केवलेन निरोधेन निरुद्धा ये न ते तथा।**
ज्ञानेन सहितौ तस्माद् वसुदेवोद्धवौ मतौ ॥४॥
वसुदेवस्य संसिद्धं बीजं च ज्ञानकर्मणी।
शास्त्रेणाचार्यराहित्यान् न ज्ञानं फलति स्फुटम् ॥५॥

कारिकार्थः—जो (गोपीजन) केवल भगवत्प्रमेयबल द्वारा निरोध से निरुद्ध हुई हैं, वे अन्य प्रकार के अधिकारी हैं, इसीलिए वसुदेवजी तथा उद्धवजी ज्ञान द्वारा संसार विरत हो भक्त (निरुद्ध) हुवे हैं। वसुदेवजी का बीज, ज्ञान एवं कर्म द्वारा फलित हुआ है। जब तक गुरु की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् जीव गुरु प्रपत्ति ग्रहण नहीं करता है केवल शास्त्राधार एवं बुद्धिबल से ज्ञान फल प्राप्ति चाहता है तो उसमें ज्ञान फल स्फुट उत्पन्न नहीं होता हैं ॥४-५॥

कारिका:—**उद्धवस्य प्रपत्तिस्तु महती लौकिकत्वतः।**
गोपिकाज्ञानसन्देशस्तस्या एव तु पोषकः ॥६॥
निरोधः सुदृढः कृष्णे ममतासहितो महान्।
अतोत्र वसुदेवस्य ममतानाशनं तथा ॥७॥
अहन्ता तूद्धवस्यापि यथा नश्येत् तथा कथा ॥७½॥

कारिकार्थ—उद्धवजी की शरणागति महती होने पर भी लौकिक थी, कारण, उस शरणागति का पोषक वह सन्देश था जो भगवान् ने उद्धवजी द्वारा गोपीकाओं को भेजा था। यह परार्थ होने के कारण उद्धवजी को यहां ११ वें स्कन्ध में पुनः उसके दृढार्थं उपदेश दिया गया है जो आवश्यक था। इस प्रकार इस स्कन्ध में वसुदेवजी की ममता नाश हो तथा उद्धवजी का अहम्भाव (मैं बड़ा ज्ञानी हूँ इत्यादि) नाश हो, तदर्थं वैसी कथा कही है, जिससे उनका भगवान् में सुदृढ़ निरोध सिद्ध हुआ है ॥ ७½ ॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं वसुदेवस्य भगवद्भर्मेभक्त्सायुज्यं वक्तुं गुरुप्रपत्त्यर्थं कृष्णममताया दृढत्वादन्यत्र स्थित्यभावाच्च **नारदं** अतो गुरुत्वेन भगवान् चिन्तितवान्, तस्य स्थितिमाह **कृष्णसेवायां हि बहवो विघ्ना दैत्याः पापानि च**, तत्र नारदस्य पापाभावेपि दैत्याः क्षोभकाः सन्ति बाह्याभ्यन्तर-

भेदेन, **प्रकटश्च भगवान् सेव्यः**, तत्राध्यात्मिकादिदैत्यानां हृदये विद्यमानत्वात् प्रकटेपि भगवति **सेवा** न सम्भवति, तत्र तु भगवद्भुजैर्यदुभिर्गुप्तायां दैत्यप्रवेशाभाद् **द्वारवत्यामिति** च भगवन्निर्गमनस्थानत्वेन सहजदैत्यनिवासाभावाच्च, नराणां जीवानां समूहं द्यति खण्डयतीति **नारदो** ब्रह्मभावप्रापक इत्यर्थः, उक्तार्थवचनविश्वासाय सम्बोधनमित्यसकृदवोचाम, कदाचिद् गमनं वैकुण्ठे कदाचित् प्रकटो हृदयेत आहाभीक्ष्णमिति, सर्वदा **कृष्णोपासनायां लालसः**, स्पष्टं दक्षशापोपि **न नारदं** स्पृशति **द्वारकायां** शापादेरप्रवेशात्, अनेनैतज् ज्ञापितं यदि **नारदवद्** यादवा भगवत्सेवां कुर्युस्तदा शापो नाभिभवेदिति, अतो **भगवत्सेवा देवादीनामपि दुर्लभा सर्वानर्थनिवारिका मुक्तानामप्यभिलषितेति** प्रकरणारम्भे मोक्षतुल्यत्वाय निरूपितं, ननु **नारदस्य नारदत्वं** प्राप्तस्य क्रममुक्तेर्नियतत्वात् स्वतःफलाद्यभावाच्च प्रेक्षावतः कथं लालसेति चेदिन्द्रियसाफल्यायेति ब्रूमः, अधिकारे कार्यकरणं न मुख्यं फलमिन्द्रियाणां देवतात्वाभावात् ॥१॥

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने वसुदेवजी को प्रथम ज्ञानोपदेश दिया था किन्तु वसुदेवजी की भगवान् में भगवत्व तथा गुरुत्व भावना नहीं थी, क्योंकि वह श्री कृष्ण को अपना पुत्र समझ बैठे थे और वसुदेवजी की वह पुत्र ममता दृढ़ थी जिससे कृष्णोपदिष्ट ज्ञान वसुदेवजी में फली भूत नहीं हुआ। भगवान् की वसुदेवजी को सायुज्य मुक्ति देने की पूर्ण इच्छा थी। अतः भगवान् ने निश्चय किया कि वसुदेवजी का गुरु नारदजी को बनाऊँ, कारण कि, नारदजी जीवों की अविद्या नाश करने में प्रवीण हैं और नारदजी अब उस पवित्र द्वारकापुरी में आकर रहे हैं, जहां बुद्धि को आसुरी बनाने वाले दैत्य प्रवेश नहीं कर सकते हैं। यों तो बाह्य आभ्यन्तर भेद मे दैत्य ऐसा क्षोभ करते हैं, जो भगवान् के प्रकट विराजते हुए भी आध्यात्मिक दैत्य हृदय में विद्यमान होने से उनकी सेवा करने नहीं देते हैं। इस प्रकार कृष्ण सेवा में बहुत विघ्न आते हैं, द्वारका में दैत्यों के प्रवेश न हो सकने का कारण यह है कि द्वारका की रक्षा भगवान् अपनी भुजाओं से (यादवों से) कर रहे हैं, यह द्वारका भगवन्निर्गमनस्थान होने से स्वाभाविक है कि यहां दैत्यों के निवास का अभाव है, अर्थात् दैत्य रह नहीं सकते हैं। नारद शब्द का तात्पर्य है कि जीव भाव को हटाकर ब्रह्मभाव प्राप्त करना, 'कुरूद्वह' इस सम्बोधन देने का आशय है कि नारद पद के अर्थ में आपका विश्वास है। 'अभीक्ष्णं' पद का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि नारदजी में भगवान् कृष्ण के दर्शन की दृढ़ लालसा थी, इसीलिए कभी बैकुण्ठ में जाते तो कभी उनके हृदय में प्रकट हो जाते, नारदजी को जो दक्ष का शाप था वह भी द्वारका में स्पर्श नहीं कर सकता था, यों कहने का भावार्थ यह है कि जैसे नारदजी कृष्ण का आश्रय ले सेवादि करते थे यों यदि यादव भी करते तो शाप से मुक्त हो जाते, यादव ने ऐसा नहीं किया, जिसका कारण है कि भगवत्सेवा देवादि को भी दुर्लभ है, एवं सर्व अनर्थों को नाश करने वाली है, न केवल इतनी महत्ता है किन्तु जो मुक्त हुवे हैं वे भी चाहते हैं कि हम को भगवत्सेवा कब प्राप्त होगी ? उसके लिए सदैव लालायित रहते हैं, मात्र इसलिए प्रकरण के आरम्भ में मोक्ष से समानता बताई है। नारदत्व को प्राप्त नारद के लिए क्रम मुक्ति नियत होने से तथा स्वतः फलत्व आदि का अभाव होने से प्रेक्षावान् को कैसे भगवत्सेवा की लालसा हुई ? इस शङ्का निवृत्यर्थ आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि नारदजी यों समझते थे कि यद्यपि मुझे मुक्ति प्राप्त होगी उसमें सन्देह नहीं हैं, किन्तु मुक्ति में इन्द्रियों की सार्थकता नहीं होती है, इन्द्रियों का होना निरर्थक हो जाता है, अतः नारदजी ने इन्द्रियों की सार्थकता के लिए भगवत्सेवा की लालसा की है,

अधिकार होवे हुए कार्य करना इन्द्रियों का मुख्य फल नहीं है, मुख्यफल तो भगवत्सेवा ही है जिसमें इन्द्रियों की सफलता है ॥ १ ॥

आभासः—एतदेव शुकोसम्भवद्युक्तिमत्त्वेन द्रढयति ।

आभासार्थः—शुकदेवजी इस विषय को दूसरे श्लोक में दृढ़ करते हैं।

श्लोकः—**को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।**
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥२॥

श्लोकार्थः—हे राजन् ! कौन ऐसा है जो इन्द्रियोंवाला चारों तरफ से मृत्यु से घिरा हुआ होते हुए भी, मुकुन्द भगवान् के चरण कमल का भजन नहीं करता है, जब कि देवों में उत्तम देव भी उनका भजन करते हैं ॥२॥

सुबोधिनी-इन्द्रियाणि वर्तन्तेस्मिन्निति नेन्द्रिय वत्त्वं न ह्यश्वरक्षकोश्वान् भवत्यतः परवशेन्द्रियो **न भजत** इत्यदोषः,यस्य पुनरिन्द्रियाणि सन्ति स कथं न भजते ? प्रयोजनाभावादिति चेन् न, मोक्षदाता च स सुसेव्यश्च,मोक्षस्यावश्येष्यमाणत्वाय **सर्वतोमृत्युरिति**, **अमराणामपि** मुक्तिरपेक्षिता किं पुनः **सर्वतोमृत्यूना**मित्यर्थः, अन्तिमजन्मन्**युत्तम**त्वम् ॥२॥

व्याख्या भगवत्सेवा मुक्ति से भी विशेष अखण्ड एवं अनन्त रसदायी है। इससे ही इन्द्रियों की (मनुष्य जन्मकी) सफलता होती है, इन्द्रियवाला किसको कहना चाहिये ? जिसके उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं, कि 'इसको' अर्थात् जिस के पास इन्द्रियां हैं इससे वह इन्द्रियोंवाला नहीं कहा जा सकता है यथा जो मनुष्य सेवक किसी राजा या सेठ के अश्व की रक्षा करता है इस से उस सेवक को यह अश्वपति है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह सेवक अश्व से जो चाहे वह कार्य नहीं ले सकता है, इससे कार्य न ले सकने से वह दोषी नहीं, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियां अपने वश में नहीं हैं वह परवश इन्द्रियोंवाला होने से यदि सेवा नहीं कर सकता है इससे वह दोष-वाला नहीं, किन्तु जिसकी इन्द्रियाँ अपनी हैं अर्थात् अपने वश में हैं और उनसे सेवा सिद्ध हो सकती है, वह क्यों नहीं सेवा करता है ? यदि कहो कि सेवा करने का कोई प्रयोजन नहीं है, तो यह कहना अनुचित है। जिस प्रभु की सेवा की जाती है या करनी चाहिये, यह मोक्ष देने वाली एवं सुख सेव्य है, जब देवता भी मुक्ति चाहते हैं तो जिनको चारों ओर से मृत्यु ने घेर लिया है, उनको तो सर्वथा सेवा करनी आवश्यक है। सेवा उससे ही होती है जिसका अन्तिम जन्म है, क्योंकि यही जन्म की उत्तमता है ॥२॥

श्लोकः—**तमेकदा च देवर्षि वसुदेवो गृहागतम् ।**
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥३॥

श्लोकार्थः—किसी दिन वसुदेवजी के घर में पधारे हुए उन देवर्षि को सुख पूर्वक बैठ जाने के अनन्तर पूजा तथा अभिवादन कर यों कहने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—सङ्गतिमाह, प्रायेण **वसुदेवो** यदुकुलशापं **न** श्रुतवान् कृष्णस्थित्या लोकैरनुक्तत्वाद् वैराग्योपयोगाभावाच्च 'निसृष्टा' इतिवचनात् पूर्वभावी वा, कृष्णोपासनलालस' इति **नारद**स्य पुनरागमने हेतुः पूर्वपक्षे निःशङ्कतया स्थितिरुत्तरपक्षे, **कृष्णगृहे** स्थितो **वसुदेवगृहे** समागत इति शापानन्तरभावे तु भगवद्वाक्येन तस्य निर्धार इति सर्वं सुस्थमिवासीत् तदेवं कथा, अलं विस्तरेण, **तमिति पञ्च**रात्रकर्तृत्वेन प्रसिद्धं, सर्वदा, त्वन्यकथापि, **एकदा** सात्त्विके काले, **वसुदेव** इति शुद्धसत्त्वात्मकः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारोलौकिकमन्त्रद्रष्टारो **देवर्षयस्त**तोपि पुष्टिमार्गमन्त्रद्रष्टृत्वाद् विभूतित्वं, **च**स्त्वर्थे, प्रकृते त्वस्योपयोगः, **गृहागत**मिति स्वाधीनता, **पूजित**त्वमुत्तमप्रश्नोपयोगः भगवत्प्रेरणया समागतस्योपासनार्थमपि वैयग्र्यं नास्तीति **सुखमासीन**मित्युक्तं, पुनर**भिवादनं** गुरुत्वबोधकं, बहुकालमारभ्य प्रष्टव्यमिति हृदि स्थित**मिद**मा निर्दिश्यते ॥३॥

व्याख्या:—बहुत करके वसुदेवजी ने यदुकुलक्षय का समाचार नहीं सुना था क्योंकि उनके घर में श्रीकृष्णजी विराजते थे । अतः लोगों ने यह वृत्तान्त नहीं सुनाया कारण कि, यह वृत्तान्त वसुदेव जी को वैराग्य होने में उपयोगी नहीं था अथवा, विशेषण 'निसृष्ठा' इस वचन से या पूर्व भावी ऐसी थी, नारदजी वसुदेवजी के यहाँ फिर आये, जिसका कारण था कि नारदजी को कृष्ण की उपासना की लालसा थी । पूर्व पक्ष में तो निः शङ्कता से स्थिति थी । उत्तर पक्ष में कृष्णगृह में स्थिति के अनन्तर वसुदेवजी के घर आकर विराजे । शाप के अनन्तर क्या भावी बनने वाली है ? जिसका निर्धारण भगवत् वाक्य से ही हुआ जिससे सब ठीक-ठीक हो गया । तब इस प्रकार की कथा है । विस्तार से बस 'तं' विशेषण नारदजी की यह पहचान कराई है कि यह नारदजी वह है जिनने 'पञ्चरात्र' ग्रन्थ बनाया है । सर्वदा तो अन्यकथा भी है 'एकदा' पद का भाव है कि जब सात्त्विक काल था उस वक्त नारदजी वसुदेवजी के घर पधारे थे । 'वसुदेव' यह पद देकर यह सूचित किया है कि यह शुद्ध सत्त्व रूप है । ऋषि वे हैं जो अलौकिक मन्त्र द्रष्टा हैं । उनमें जो देवर्षि हैं वे पुष्टमार्गीय मन्त्रद्रष्टा होते हैं, जिससे वे भगवान् की विभूति रूप हैं । 'च' अक्षर यहाँ 'तु' अर्थ में दिया है । प्रकृत विषय में इनका ही उपयोग है । गृह में पधारे हैं, जिससे स्वाधीनता से पूजित हुवे, यह पूजन उत्तर प्रश्न के लिए उपयोगी है । नारदजी का यहाँ आना भगवान् की प्रेरणा से हुआ है, जिससे उपासनार्थ भी व्यग्रता नहीं । इसलिये कहा 'सुखमासीन' सुख पूर्वक अर्थात् आनन्द से विराजे । सुख से विराजमान होने के अनन्तर अभिवादन किया यह अभिवादन बताता है कि वसुदेवजी की नारदजी में 'गुरु' भावना है । वसुदेवजी जो अब पूछते हैं वह बहुत समय से वसुदेवजी के हृदय में स्थित था, तुरन्त उद्भूत ये प्रश्न नहीं है ॥३॥

आभास—प्रश्नमाह षड्भिर्भगवच्छवाच्याः षडर्था इति षट् श्लोकास्तत्र प्रोत्साहनं त्रिभिः प्रश्नश्च त्रिभिः,

आभासार्थ—वसुदेवजी ६ श्लोकों से प्रश्न कहते हैं । कारण कि 'भग' शब्द वाच्य के छः अर्थ है । जिनमें से तीन श्लोकों से नारदजी को प्रोत्साहन देते हैं और तीन श्लोकों से प्रश्न करते हैं ।

वसुदेव उवाच–श्लोक—**भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।**
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार माता पिता का आगमन, अपनी कृपण चाहे सम्पन्न सन्तति के लिए कल्याण कर है । वैसे ही आप की यात्रा भी सर्व जीवों के हितार्थ ही है, कारण कि, आप भगवान् की प्राप्ति के मार्ग रूप है; क्योकि, भगवद्भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हो कर आप उसके द्वारा सरल रीति से जीव मात्र का कल्याण कर रहे हैं ॥४॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं **नारदस्यै**वासाधारणैस्तं प्रोत्साहयति "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "ये यच्छ्रद्धः स एव सः", गुरुत्वाच्च **भगव**न्निति-सम्बोधनं, जगन्मित्रं हि **नारदः**, **यात्रा**गमनं, राजादिसर्ववैलक्षण्याय **सर्वदेहिया**मित्युक्तं स्वतो निरपेक्षत्वादहिंसाप्रचुरधर्मबोधनात् संसारोद्धार-कत्वाच्च **देहा**भिमानिनामिति मुक्तवैलक्षण्यार्थं स्वत एव विचार्य तेषां सर्वतो हितकरणे दृष्टान्तः, अकृपणानां सर्वतःसम्पन्नानामपि पित्रोरागमनं **स्वस्तये** किं पुनः **कृपणानाम्** ? उभयोर्वियोगे ह्यति**कृपणाः** स्वस्तेः परमोत्कर्षार्थे विशेषण-**मुत्तमश्लोकस्य** मार्गभूतानां तत्र प्रविष्टानां भगवत्प्राप्तेर्नित्यत्वात्, तथा च **नारदस्य त्रयो गुणाः सर्वमैत्री सर्वहितप्रापणं** गोविन्दप्रापणं **चेत्ये**केनैव वयं कृतार्थाः किं पुनस्त्रिभिः ? उपसंहारे बहुवचनं पूज्यार्थे व्यवहारे वावक्रतदो-षपरिहाराय च, आगमनं तु भगवदिच्छयेति न कोपि विरोधः ॥४॥

व्याख्या—वसुदेवजी प्रथम नारदजी के ही असाधारण गुणों से उनको प्रोत्साहित करते हैं, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म रूप हो जाता है, अर्थात्, आप नारदजी ब्रह्म को जानते हो अतः ब्रह्मरूप हो, 'यो यच्छ्रद्धः एव सः' जो जिसमें श्रद्धा वाला होता है वह भी उसका ही रूप हो जाता है, हे नारदजी आपकी भगवान् में ही श्रद्धा है अतः आप भगवद्रूप हैं एवं गुरुपन से (अज्ञानान्धकार नाश कर्त्ता होने से) भगवान् हैं । अतः वसुदेवजी ने स्पष्ट 'भगवान्' विशेषण दिया है, जगत् के मित्र होने से ही आप नारद है, मित्र वह कहा जाता है जो दुःख को मिटावे, आप दुःखदजीव भाव को मिटाकर ब्रह्मभाव का उद्भव करते हैं, अतः आप जगत् के सच्चे मित्र हैं इसलिए आपकी यात्रा है । आपका मित्रत्व राजादि सर्व से विलक्षण है, क्योंकि जो हित आप कर सकते हैं राजादि में वैसे हित करने की शक्ति नहीं है । आप किसी विशेष व्यक्ति का हित करते हैं, यों नहीं है । किन्तु सर्व प्रकार के देहधारियों के हितकारी हैं कारण कि, सर्वथा स्वतः निरपेक्ष हैं, किसी प्रकार की आपकी अपेक्षा नहीं है । आप अहिंसापूर्ण धर्म का ज्ञान देते हैं । संसार के उद्धारकपन से आप अन्यों से विशेष हैं, अन्य तो उनका उद्धार कर सकते हैं जो देहाभिमानी नहीं है । किन्तु आप में यह विशेषता है कि देहाभिमानियों का भी संसार से आप उद्धार करते हैं । आप स्वतः अपनी कृपा पूर्वक इच्छा से ही उनके उद्धार का विचार करते हैं, उनका सर्व प्रकार से हित करने में यह दृष्टान्त है–जब माता-पिता का आगमन सम्पन्न संतति के लिए हितकर है तो कृपण सन्तान के लिए हितकर हो तो इसमें क्या

आश्चर्य है। जिस सन्तान को माता तथा पिता दोनों का वियोग हो तो वह अतिरंक होता है, 'उत्तम श्लोक वर्त्मनाम्' यह विशेषण कल्याण की परमोत्कर्षता दिखाने के लिए दिया गया है। कारण कि जो भगवन्मार्ग में प्रविष्ट है, उनको नित्य भगवद्प्रसानन्द की प्राप्ति होती रहती है। इसी तरह नारदजी में तीन गुण है—१-सबसे मैत्री २-सबका हित करना ३-गोविन्द की प्राप्ति करा देना, इन तीनों में से एक की प्राप्ति से भी जब हम कृतार्थ हैं, तो तीनों की प्राप्ति से कितनी कृतार्थता होगी ? वह अकथनीय है। उपसंहार में (अन्त में) बहुवचन देने का तात्पर्य है कि व्यवहार में जो पूज्यनीय होता है उसके लिए बहुवचन दिया जाता है। इसके देने का यह भी आशय है कि वाणी से कोई दोष हो गया हो तो उसका परिहार हो जाय अर्थात् वह दोष नष्ट हो जाय पधारना तो भगवदिच्छा से हुआ है इसीलिये कोई विरोध नहीं है ॥ ४॥

आभास—कथं नारदागमनेनैवमित्याशङ्क्य देवर्षिविभूतित्वं प्रकटयति,

आभासार्थः—नारदजी के आने से वसुदेवजी ने उनकी इतनी प्रशंसा किसलिए की ? इस शङ्का निवारणार्थ प्रकट करते हैं कि नारदजी भगवद् विभूति हैं।

श्लोक—**भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।**
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥५॥

श्लोकार्थ—देवताओं के चरित्र, भूतों (जीवों) के लिये सुख तथा दुःख दोनों के कारण होते हैं। अच्युत (परिपूर्ण) भगवान् में जिनकी आत्मा संलग्न है ऐसे आप जैसों के चरित्र तो केवल सुख के लिये ही है ॥५॥

सुबोधिनी—देवापेक्षयोत्तमत्वं सर्वेषां सुखैककारित्वेन विभूतित्वमग्रिमश्लोके, देवा हि द्विविधाः प्रवाहमर्यादाभेदेन तत्र प्रवाहदेवा वृष्ट्यादिकर्तारो भवन्ति वृष्ट्यादिकं तु दुःखकरमपि, प्रवाहदेवा अपि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन, **सुखदुःखे च** लौकिकालौकिके, चकाराभ्यामलौकिके परिगृहीते वेदितव्ये, **भूतानि** भूलोकस्थितजीवाः, प्रकरणाद् विशेषः, चरित्रं तु स्वरूपतो महत् सुखदुःखजनकं च मन्त्रद्रष्टृत्वं, मन्त्रास्तु सहजमपि धर्ममपेक्षितमात्रमंशतः प्रतिबध्नन्ति तदत्र सहजभावि दुःखं प्रतिबध्नतीति नात्र तिरोहितमिव सर्वजनीनमित्याह **हीति**, **साधवः** सदाचारामर्यादारक्षका लोकावेक्षार्थं भगवताधिकृता **नारदतुल्याः** पुष्टिमार्गस्था गोपिकातुल्या **अच्युतात्मानः**, मन्त्रा अपि त्रिविधा मर्यादास्था देवगुह्या भगवद्वशीकरणरूपाः, अतो भवन्तो भगवद्विचारितं देवकृतं मर्यादया च दुःखं मन्त्रप्रयोगेन दूरीकृत्य सुखमेव साधयन्तीत्यर्थः ॥५॥

व्याख्या—देवताओं से भी उत्तमपने से तथा सबको सुख के ही दाता होने से अग्रिम श्लोक में नारदजी का देवर्षित्व एवं भगवद्विभूतित्व प्रकट किया है, देव दो तरह के होते हैं, (१) प्रवाही देव (२) मर्यादी देव, उनमें प्रवाही देव वृष्टि आदि करते हैं। वृष्टि आदि देव दुःखकर भी हैं, प्रवाही

देव भी दो प्रकार के होते हैं, (अ) बाह्य (आ) आन्तरिक[1] (भीतर के) सुख एवं दुःख लौकिक भी हैं तथा अलौकिक भी हैं, दो चकार देने का आशय है कि यहां सुख दुःख अलौकिक ही ग्रहणीय समझने चाहिये। वे केवल मानस वैद्य हैं। 'भूतानि शब्द से भू-लोक में स्थित जीव समझने चाहिये, प्रकरण से विशेष है अतः भूत पद से सङ्कुचितता नहीं समझनी चाहिये। यद्यपि देवों के चरित्र महान् होते हैं तो भी सुख तथा दुःख दोनों के देने वाले हैं। मन्त्रद्रष्टा होने से 'ऋषित्व' है, 'हि' पद के भावार्थ को प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि 'मन्त्र' तो सहज धर्म को भी जितनी अपेक्षा होती है उतना अंशतः प्रतिबन्ध करते हैं। वह यहाँ सहभावी दुःख का ही प्रतिबन्ध करते हैं। जैसे मन्त्र आदि, अग्नि के केवल दाहकत्व को ही प्रतिबन्ध करते हैं; न कि स्वरूप से अग्नि को नष्ट कर सकते हैं। वैसे देव भी केवल उन (सुख दुःखादि) का प्रतिबन्ध मात्र कर सकते हैं, किन्तु साधुजन सदाचार एवं मर्यादा के रक्षक हैं। लोक हितार्थ भगवान् ने उनको अधिकार दिया है। जो नारद तुल्य, पुष्टिमार्गीय हैं, गोपीयों के तुल्य अच्युत में ही जिनकी आत्मा प्रवण हो गई है, मन्त्र भी तीन तरह के हैं-१-मर्यादा वाले २-देव गुह्य, ३-जो भगवान् को भी वश कर सकते हैं, इसलिये आप भगवद्विभूति रूप साधुजन तथा महर्षि भगवद्धि चारित, देव कृत अथवा मर्यादा से प्राप्त (कर्मादि से प्राप्त) दुःख को मन्त्र प्रयोग से दूर कर सुख ही सिद्ध करते हैं—अर्थात् दुःख का उन्मूलन कर पूर्ण सुख (आनन्द) का दान करते हैं॥ ५॥

आभास—विभूतित्वं वक्तुं ततोपि विशेषमाह;

आभासार्थ—नारदजी भगवान् के विभूति रूप हैं ऐसा कहने के लिए आगे से भी विशेष इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।**
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥६॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य जिस प्रकार देवों का भजन करते हैं, देव भी उनका उसी तरह भजन करते हैं **अर्थात्** हित करते हैं, क्योंकि देव कर्म सचिव होने से छाया की तरह कर्मों के अनुसार ही फल दे सकते हैं, साधुजन तो दीन वत्सल होने से उनके कर्मों का विचार न कर अपनी दयालुता से उनका हित ही करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—ननु यज्ञे भगवदवयवभूता देवा "यन्न दुःखेन सम्भिन्न"— मितिवाक्यानुसारेण सुखमेव प्रयच्छन्तीति चेन् न, न ह्येकेन यागे कृते तत्सम्बन्धिनां स्वर्गो भवति न वाग्निष्टोमे कृते द्वादशाहस्वर्गो भवति, ननु तेषां भगवदवयवभूतानां कथमेवमत आह **कर्मसचिवाः, राजाधीना हि मन्त्रिणो भवन्तीति** वेदमार्गस्तथैव नात्र किमपि विचारणीयं, वैलक्षण्यमाह **साधवो**

१—भीतर के देव वे हैं जो इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं।

दीनवत्सला इति, चतुर्थः पादः सिद्धान्त इति **सन्त आत्माहमेव चेति** चतुर्थः, पादः न ह्यंशैस्तथाकर्तुं शक्यं यथांशिना, दैन्यमेव करणे हेतुर्**वत्सं लान्ति** जिह्वयाददते इति कार्याकार्यविचाराभावेन सहज-स्नेहवन्तो **वत्सलाः** सामान्यवाक्यं विशेषपरमिति प्रकरणादवगन्तव्यं, तस्माद् भवत्समागममात्रे-णैव भगवदवतार इव सर्वेषां सर्वं सिद्धं भवतीति तत्गुणवर्णनेन प्रोत्साहनमुक्तम् ॥६॥

व्याख्या—यज्ञ में जिन देवों का पूजन होता है वे देव भगवान् के ही अवयव (अङ्ग) हैं, 'यत् न दुःखेन संभिन्नम्' इस वाक्यानुसार जहां स्पर्धादि दुःख नहीं वैसा स्वर्ग पद वाच्य आत्म-सुख ही निष्काम यज्ञ कर्त्ता को प्राप्त होता है, जब ऐसा शास्त्र वाक्य है तो फिर कैसे कहा जाता है कि 'देव दुःख भी देते है' इस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्य श्री श्लोक के पदों का आशय स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि देव भगवदवयव होते हुवे भी कर्म सचिव है, अतः जैसे मन्त्री राजा के आधीन रहकर ही कार्य करते हैं वैसे देव भी कर्माधीन होने से कर्मानुकूल ही फल देते हैं, इसलिये जीव जैसे उत्तम, मध्यम आदि यज्ञादि कर्म करते हैं तदनुसार ही फल दे सकते हैं, अतः इस विषय में दयादि का विचार ही नहीं किया जा सकता है, देवों की अपेक्षा भगवद्भक्त साधुओं में क्या विशेषता है ? वह स्पष्ट करते हैं कि 'साधवो दीन वत्सलाः' साधुजन दीनों पर वत्सों की तरह प्यार करते हैं, उनके कर्मों पर दृष्टिपात नहीं करते हैं। सन्त भगवद्रूप होते हैं। अतः अंशी जो कर्म कर सकता है वह कर्म अंश नहीं कर सकता है क्योंकि अंश अपूर्ण है, इसलिये अंश रूप देव कर्माधीन होने से दया द्वारा किसी जीव का हित नहीं कर सकते हैं, भगवद्भक्त भगवद्रूप होने से भगवत्-सम ही शक्ति एवं गुण वाले है, जिससे वे भगवान् की तरह ही दीन वत्सल होते हैं, अतः वे जो जीव दैन्य युक्त ही साधुओं की एवं भगवान् की शरण लेते हैं, उनकी दीनता मात्र को देख उन पर पूर्ण कृपा करते हैं, जिससे वे जैसे बछड़ा गौ का दूध निर्भय होकर पीता है, वैसे वे दीन साधुओं की कृपा मात्र से भगवद्रस पान करते हैं, ऐसा कहकर वसुदेवजी ने यह सिद्ध कर बताया है कि भगवदवतार की तरह आपके समागम मात्र से ही सब जीवों को सर्व लौकिक अलौकिक सुख सिद्ध होता है। इस प्रकार नारदजी के गुण वर्णन से उनको उपदेशार्थ प्रोत्साहित किया है ॥ ६ ॥

आभास—प्रश्नमाह ।

आभासार्थ—तीन (४-५-६) श्लोकों से प्रोत्साहित कर अब (७-८-९) इन तीन श्लोकों से प्रश्न करते हैं—

श्लोक—**ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव ।
याञ् छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात् ॥७॥**

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहते हैं कि हे ब्रह्मन् ! मुझे ब्रह्मभाव सिद्ध हुआ है तो भी आप से भगवत्सम्बन्धी धर्म पूछता हूं, कारण कि, भागवत धर्मों को श्रद्धा के साथ सुनने के सिवाय मर्त्यधर्मा मनुष्य समस्त प्रकार के भय से नहीं छूट सकता है, चाहे वह ब्रह्मभाव को भी प्राप्त हुआ हो ॥७॥

सुबोधिनी—ब्रह्मभावाभिलाषी विदितस्ववृत्तान्तो विदितसाध्यसाधनभावो **धर्मान्** पृच्छति केवल 'माचार्यवान् पुरुषो वेदे' तिशास्त्रार्थत्वाय भगवतो ब्रह्मत्वभावनायामपि गुरुत्वस्य भगवतानङ्गीकरणान्ता शास्त्रार्थसिद्धिः किन्त्वखण्डज्ञानमुपदिष्टं तेन जीवन्मुक्तिन्यायेन ब्रह्मभावे जातेपि "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे" त्यादिनिरूपितार्थस्यासिद्धे भगवद्धर्माचरणेन तत्सिद्धिरिति प्रश्नः, **नारदस्य** ब्रह्मभावो जात इति तथा सम्बोधनं स्तुतिमात्रत्वाभावाय, स्वस्यानुष्ठेयः स्वविचारितो भविष्यतीति **तथापी**ति भगवदागमनेनैव सिद्धोस्माकमर्थस्त**थापि** शास्त्रार्थपरिपालनाय **पृच्छामो दे**वकीप्रभृतीनामप्ययमर्थोभिलषित इति बहुवचनं, **भागवता**निति प्रमाणतः स्वरूपः फलतश्चेति त्रेधा नियतभगवत्सम्बन्धान्, **तवेति तवा**प्यनुष्ठेयान्, दुःखनिवर्तकत्वं तु तेषामिदानीमेवेत्याह **यान्** छ्रु त्वेति, **उपायपरिज्ञाने हि निश्चिन्तता भवति श्रद्धया तदात्मत्वेन करणं सम्भवति, मर्त्य** इति स्वभावतः सभयत्वं **सर्व**त इत्याध्यात्मिकादिभिः ।।७।।

व्याख्या—जिसने अपना वृत्तान्त जान लिया है और साध्य-साधनभाव को भी समझ लिया है वैसे ब्रह्मभाव के अभिलाषी वसुदेवजी भागवत धर्मों को पूछने हैं, क्योंकि उनको यह निश्चय हो गया है कि शास्त्रों में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' कहा है अर्थात् वह ही तत्त्व को जान सकता है जिसने 'गुरु' किया है । गुरु बिना तत्त्व ज्ञान नहीं आता है। भगवान् में ब्रह्मत्व भावना हो किन्तु जब तक भगवान् अपने को उसका गुरु नहीं मानते हैं तब तक वह शास्त्र के तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है यथा-वसुदेव को भगवान् ने उपदेश दिया किन्तु वसुदेव की भगवान् में पुत्र भावना थी जिससे भगवान् ने गुरुत्त्व स्वीकार नहीं किया, अतः वह उपदेश फलीभूत नहीं हुआ । केवल उस अखण्ड ज्ञानोपदेश द्वारा जीवन्मुक्ति न्याय से ब्रह्मभाव मात्र ही वसुदेवजी को प्राप्त हुआ । किन्तु 'ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा' इस गीता वाक्यानुसार जो अर्थ (फल) सिद्ध होना चाहिए था, वह न हुआ, तब वसुदेवजी ने समझ लिया कि यह फल सिद्धि भगवद्धर्माचरण के सिवाय नहीं होगी । अतः ऐसे भगवद्विभूति रूप ब्रह्मर्षि भगवदिच्छा से प्राप्त हुवे हैं इनसे भगवद्धर्म सीखकर उनका आचरण करूँ तो सर्वतः निर्भय हो पूर्णफल को पा सकूँगा । अतः नारदजी से वसुदेवजी ने भगवद्धर्म सम्बन्धी प्रश्न किया है, नारदजी को 'ब्रह्मन्' सम्बोधन देकर यह सिद्ध किया है कि नारदजी को ब्रह्मभाव सिद्ध हुआ है । अतः यह सम्बोधन केवल स्तुति के लिए नहीं है, यद्यपि आपके आगमन मात्र से हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया है, अपने लिये आचरण मिलने वाला जो भगवद्धर्म है और विचारा हुवा ब्रह्मभाव, ये दोनों ही आप ब्रह्मरूप गुरु के पधारने से ही सिद्ध हो गये हैं, तो भी शास्त्रार्थ के पालनार्थ पूछते हैं। बहुवचन देने का आशय है कि केवल मैं नहीं पूछता हूं किन्तु देवकी प्रभृति हमारे सम्बन्धियों का भी वैसा ही मनोभाव है । 'भागवतान्' बहुवचन से यह आशय दिखाया है कि, प्रमाण, स्वरूप एवं फल इन तीन प्रकार से नियत जो धर्म सम्बन्ध है, उनका आचरण आप भी कर रहे हैं वा आपके लिये भी अनुष्ठेय (करने योग्य) हैं, इन भगवद्धर्मों का दुःख निवर्तकत्व तो अब ही है । अतः कहा है जिनको केवल सुनने से ही मर्त्यधर्मा सर्वतः भय से छूट जाता है । मनुष्य स्वभाव से ही भय से घिरा हुआ है, क्योंकि उसको सदैव यह भीति रहती है कि मैं मरूंगा । इस प्रकार आध्यात्मिकादि चिन्ताओं

से भीति को प्राप्त मनुष्य के लिए निश्चिन्त होने का उपाय भगवद्धर्म श्रवण कर उनका आचरण करना ही है ।।७।।

श्लोक—अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थे भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायय ।।८।।

श्लोकार्थ—मैंने पूर्वकाल में मुक्तिदाता अनन्त भगवान् की प्रजा प्राप्ति-हेतु पूजा की, मोक्ष के लिए नहीं की, कारण कि, उस देव की माया से मोहित हो गया था ।।८।।

सुबोधिनी—ननु दिव्यद्वादशसहस्रवर्षानन्तरं प्रसन्नो भगवान् कथं **कर्दमस्य शुक्ल** इव न गुरुर्जात इति चेत् तत्राह, अलौकिकाज्ञातृज्ञापकस्य **दे**वकीजठराद्गतस्य कुतो न गुरुत्वमित्यत आह **कि**लेति प्रसिद्धार्थज्ञापकत्वेन न गुरुत्वं प्रसिद्धिस्तु जन्मभ्यां सत्यसङ्कल्पत्वादत्रापि पुत्रत्वमेव न गुरुत्वमस्मिन् जन्मनि प्रसिद्ध्यभावादत आह **पुरे**ति, ईश्वरपरिचयाभावादुपदेशोनुचित इत्याशङ्क्य सेवितस्यान्ताभावादस्त्येव परिचयः प्रकारे परं विशेषः **प्रजार्थ** इति **भुवि मुक्तिद**मिति न क्रममुक्तिर्न वोभयार्थे **न मोक्षाये**ति तपसा शुद्धचित्तस्य कथमेवमत आह **मोहित**.इति प्रजासर्गे ब्रह्मणादिष्टौ न चाप्येकः, प्रथमं सङ्कल्पश्च तथेति भगवतापि तथैव विचारितं ततो भगवत्सादृश्यस्याविद्यमानस्य प्रार्थ्यमानत्वाद् विलम्बस्ततस्तपस आधिक्याच् चित्तशुद्धिस्ततो भगवद्विचारितस्यान्यथाभावंसम्भवान् **मायामो**हो यया देवा अपि मुह्यन्ति सा **देवमाया** ।।८।।

व्याख्या—पूर्व काल में जब वसुदेवजी कर्दम थे तब उनने भगवान् की दिव्य द्वादश सहस्र वर्ष तपस्या की थी, इतनी तपस्या के अनन्तर भगवान् उन पर प्रसन्न हुवे, तो भी शुक्ल की तरह उसके गुरु क्यों न हुए ? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि भगवान् का प्राकट्य दोनों जन्मों में पुत्र रूप से हुआ है । भगवान् सत्य सङ्कल्प हैं, अतः जब पुत्र रूप से उत्पन्न हुवे तो, गुरुत्व कैसे स्वीकार करते, 'पुरा' पद का तात्पर्य बताते हैं कि इस जन्म में यह कथा प्रसिद्ध नहीं है, पिछले जन्म प्रसिद्ध थी, अतः 'पुरा' शब्द कहा है । भगवान् की ईश्वरता का परिचय न होने से गुरु होकर उपदेश देना उचित नहीं, यह कहना अपूर्ण है, कारण कि जिसकी सेवा पूजा तपस्यादि की गई है, उसके ईश्वरत्व का तो परिचय है, किन्तु इसमें अन्य प्रकार हैं । वह प्रकार है, ईश्वर परिचय होते हुए भी प्रजा के लिए सेवादि की थी, मोक्ष के लिये नहीं । अतः न क्रम मुक्ति हुई, न मुक्ति हुई । दोनों की प्राप्ति न हुई केवल तपस्या से चित्त शुद्धि हुई । जब तप से चित्त शुद्धि भी हुई तो फिर मुक्ति क्यों न मांगी ? इस पर कहते हैं कि भगवन्माया से मोहित होने के कारण भगवत्सदृश पुत्र के लिए प्रार्थना की । 'प्रजासर्गेब्रह्मणादिष्ठौ' इस वाक्यानुसार भी ऐसी ही बुद्धि हुई । न केवल वसुदेवजी ने ऐसा विचारा किन्तु भगवान् ने भी ऐसा ही विचार किया भगवान् ने विचारा कि मेरे समान तो अन्य कोई है ही नहीं, अब क्या करें ? इस विचार से विलम्ब होने लगा, तपस्या की अधिकता से चित्त शुद्धि तो हुई ही थी तथा भगवान् का विचार भी अन्यथा नहीं हो सकता है अतः देवमाया से मोहित हो पुत्र मांगा और भगवान् ने भी सत्य सङ्कल्प होने से स्व विचारित ही किया अर्थात पुत्रत्व हो स्वीकार किया गुरुत्व नहीं ।।८।।

आभास—ननु कथमिदानीमप्यन्यथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह

श्लोक—**यथा विचित्रव्यसनाद् भवेस्मिन् सर्वतोभयात् ।**
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥६॥

श्लोकार्थ—आश्रित जीवों के सङ्कट निवारक व्रतधारी हे नारदजी ! चारों तरह से जिसमें भय व्याप्त है और जिसमें विचित्र प्रकार के व्यसन मौजूद हैं ऐसे इस संसार से हम इस ही जन्म से छूट कर शीघ्र ही मुक्त हो जावें, ऐसा उपदेश दो ॥६॥

सुबोधिनी—**यथेति**, इदानीं विशेषप्रार्थना 'यास्यथे मद्गतिं परामि तिवचनात् न भगवतः प्रतिबन्धकत्वं, अत्र स्थित्यभावकारणरुच्यभावे हेतुमाह **विचित्रव्यसनादि**ति, भगवतः पुत्रत्वेन स्थितावपि यदा **व्यसनम**न्य पुत्रादिसंसारचिन्ता तदा कदास्य निवृत्तिर्न वा तस्य **व्यसनस्यै**कः प्रकारः, व्यसनाभावार्थं परिगृहीतादपि व्यसनमिति **विचित्र**ता, जन्मान्तरे पुनः साधनसम्पत्तिः कीदृशी भवेदित्य**स्मिन्ने**व जन्मनीत्युक्तं, अधिकारोपि भयहेतुस्तथा वैकुण्ठादप्यागमनमतः सर्वनिषेधायाह **सर्वतोभया**दिति, **अञ्ज**सेत्यनायासेन, आयासे हि चित्तस्योद्वेगात् पुनरावृत्तिर्भवेत्, **अद्धा** साक्षात्, परम्परया साक्षाच्चायं बद्धो बाह्याभ्यन्तरभेदेन तत्रान्यमप्यस्मिन् निक्षिप्य **मोच**नं सम्भवति यथा सत्त्वं तन्निवृत्त्यर्थमाह **साक्षा**दिति, **शास**नं बालकशिक्षा नोपदेशमात्रेण कार्यसिद्धिः, **सुव्रते**तिसम्बोधनं सर्वनिर्वाहाय, आश्रितसर्वकायसिद्धिकरणं **व्रतं** भगवन्तमपि प्रार्थयित्वा सर्वं करिष्यतीति, एवं **त्रिभिः** प्रश्नः सिद्धः ॥६॥

व्याख्या इस जन्म में मुक्ति के लिये विशेष प्रार्थना की गई है। यदि कहो, कि तुम्हारी मुक्ति में भगवान् प्रतिबन्धक हैं तो यह भी असत्य है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने कहा है कि मुझे ईश्वर भाव से चाहे पुत्र भाव से भजोगे तो भी मेरी गति को प्राप्त करोगे अर्थात् मुक्त हो जाओगे, इसलिये वे प्रतिबन्धक नहीं होंगे। इस जन्म में संसार में रूचि भी नहीं है, क्योंकि यह विचित्र व्यसनों वाले हैं, यद्यपि भगवान् पुत्र रूप से विराजमान हैं, किन्तु पुत्र आदि संसार की अन्य चिन्ताओं से व्यसन होता है। इस प्रकार होने पर इस संसार के व्यसनों का अन्त कब होगा ? उस व्यसन का एक प्रकार तो है ही नहीं, व्यसन न हो तदर्थ किये हुए उपाय से दूसरा व्यसन उत्पन्न होता है, यह ही वैचित्र्य है। इस जन्म में मुक्ति हो ऐसा क्यों कहते हो ? इसमें न हुई तो दूसरे जन्म में होगी। जिस शङ्का निवत्यर्थ कहते हैं कि न जाने दूसरे जन्म में किस प्रकार की साधन सम्पत्ति प्राप्त होगी ? उससे मुक्ति हो सकेगी वैसा निश्चय नहीं। इसलिये चाहता हूँ कि इस जन्म में ही हो जावे। प्रजापतित्व यह अधिकार भी भय का कारण है तथा वैकुण्ठ से यहाँ आना भय का कारण है, इस प्रकार इस संसार में चारों तरफ भय व्याप्त है। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि ऐसी शिक्षा दो जिससे शीघ्र बिना परिश्रम इस जन्म में ही हम संसार से मुक्त हो जावें। कारण कि, परिश्रम करने से चित्त में

अशान्ति वा विक्षेपादि होने से फिर संसार में आना पड़ता है। इसलिये प्रार्थना करता हूं कि ऐसा साक्षात् उपाय बताईये जिसमें कष्ट न हो। यह जीव बाह्य (बाहरी) तथा आभ्यन्तर (भीतर के) भेद से बन्धन में पड़ा हुआ है। उस बन्धन से छूटने के लिये सत्वगुण के आश्रय की आवश्यकता है। वह सत्वगुणाश्रय हो तदर्थ भी उपाय बताईये, आप को इस प्रकार प्रार्थना करने का कारण यह है, कि जीवों का कल्याण मुझ से हो वैसा व्रत आपने धारण कर रखा है। जीवों के हितार्थ भगवान् को भी आप प्रार्थना कर मना लेते हैं। आप जानते है कि केवल उपदेश मात्र से कार्य सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार तीन श्लोकों से प्रश्न की सिद्धि की गई है ॥९॥

आभास—परीक्षितोपि सावधानश्रवणसिद्धये शुकवचन।

आभासार्थ—परीक्षित इस विषय को सावधान होकर श्रवण करें, जिससे उसकी सिद्धि हो तदर्थ, बीच में यह श्लोक 'राजन्नेवम्' श्री शुकदेवजी ने कहा है।

श्री शुक उवाच-श्लोक—**राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।**
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन! बुद्धिमान् वसुदेवजी ने जब इस प्रकार देवर्षि नारदजी से प्रश्न किये तब नारदजी को भगवान् के गुणों का स्मरण हो आया जिससे नारदजी प्रसन्न होकर वसुदेवजी को उत्तर देने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—**राजन्निति** महत्त्वसम्बोधनं योग्यकथात्वज्ञापनायोभयोर्गुणकथनं **धीमता देवर्षि**रिति, सर्वथा परमसिद्धान्तकथने हेतुः **प्रीत** इति, **हरेर्गुणैः** पुत्रादिभावेनानुवृत्त्यादिभिः **सम्यक्त्वेन** महानयमिति **स्मारितः**, तस्य पूर्ववृत्तान्तः **सम्यग् ज्ञात** इत्यर्थः ॥१०॥

व्याख्या—राजन्! यह संबोधन परीक्षित की महत्ता प्रकट करने के लिए दिया है। वसुदेव को 'धीमता' विशेषण देकर नारदजी को देवर्षि विशेषण देकर यह बताया है कि दोनों (ही) योग्य हैं। वसुदेवजी उपदेश सुनने के योग्य हैं और नारदजी उपदेष्टा के ही योग्य हैं। इसलिये नारदजी ने सर्वथा परम (अर्थात् उत्तम) सिद्धान्त का उपदेश दिया, जिसमें विशेष अन्य हेतु यह है कि नारदजी को भगवान् के गुण पुत्रादि भाव की अनुवृत्ति हो आई, जिससे प्रसन्न हुवे और यह समझ लिया कि वसुदेवजी सम्यक प्रकार से महान् हैं। उनका पूर्व वत्तान्त अच्छे प्रकार से जान लिया ॥१०॥

आभास—उत्तरत्वेन शास्त्रं वक्तुं स्वयमप्यभिनन्दनमाह त्रिभिः,

आभासार्थ—अब नारदजी वसुदेवजी के प्रश्नों का शास्त्रीय उत्तर देते हुवे प्रथम तीन श्लोकों से उनका अभिनन्दन करते हैं।

श्री नारद-उवाच-श्लोक—**सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।**
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥११॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा– हे सात्त्वतभक्तों में उत्तम ! आपने यह सुन्दर एवं उच्च निश्चय किया है कि, जिनका सर्वप्रकार से विश्व में प्रभाव है उन भागवत धर्मों (वैष्णव धर्मों) को आप पूछ रहे हैं ॥११॥

सुबोधिनी—गुरुशिष्ययोर्मध्ये प्रवचनस्य च स्तुतिर्वक्तव्या तत्र श्रोतुः प्रथमं पुरस्कारः **सम्यगिति**, यदस्माभिर्वक्तव्यं **भगवद्धर्माणां श्रवणानुष्ठाने कर्तव्य इति सर्वशास्त्रार्थनिर्णयोयमिति च भगवन्मार्गेन्यस्य कर्तव्यत्वाभावात्** तदेव त्वयैव निश्चितं, **सात्वता** भगवद्भक्तास्तेषामृषभत्वं निश्चितमार्गवक्तृत्वाद् विशेषतो गुरुत्वार्थं च **पृच्छयते** अनुवादे पुनर्भगवदीयत्वनिर्देशो भक्तया, **विश्वस्मिन्ननुभावो** येषामिति तदभावे मार्गान्तर इव कार्यासिद्धेः, अनेन गुरोरभावे प्रश्ने हेतुरप्युक्तः, **सामान्यतोपि श्रुतास्तथान्तःकरणवृत्ति सम्पादयन्ति** ॥११॥

व्याख्या—गुरु एवं शिष्य के मध्य में जो प्रवचन हो, उसकी स्तुति करनी चाहिये, उसमें प्रथम श्रोता का अभिनन्दन करना है, अतः 'सम्यक्' पद देकर श्रोता को धन्यवाद दिया है कि भागवत धर्मों का श्रवण और आचरण करना चाहिये, यह ही शास्त्रों के अर्थ का निर्णय है। ऐसा परम सिद्धान्त जो हम कहने वाले हैं, आपने भी वह ही निश्चय किया है, अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं। आप भगवद्भक्तों में उत्तम हैं क्योंकि, भगवदानन्द प्राप्ति के लिए जो निश्चित मार्ग है उसको आपने कहा है। यदि कहें कि हमने कहा है तो फिर पूछते क्यों हैं ?जिसका नारदजी उत्तर देते हैं कि "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस श्रुति के अनुसार आप गुरु करना आवश्यक समझते हैं। इसलिये पूछ रहे हैं। गुरु के मुख द्वारा उपदेश लिये बिना केवल शास्त्रों से प्राप्त किये उपदेश से फल सिद्धि नहीं होती है। अनुवाद होने पर भी फिर भगवदीयत्व का निर्देश भक्ति से है। ये भागवत धर्म ऐसे हैं जो समग्र विश्व में इनका प्रभाव है। इन धर्मों के सहयोग बिना केवल अन्य धर्मों से कार्य सिद्धि नहीं होती है किन्तु केवल इन भागवत धर्मों के श्रवण तथा अनुष्ठान से निर्विघ्न कार्य सिद्धि शीघ्र हो जाती है, महाप्रभावशाली भागवत धर्म ऐसे हैं। भागवत धर्मों का ऐसा उच्चतम प्रभाव है, कि सामान्य प्रकार से सुनने पर भी अन्तःकरण की वृत्तियाँ संसार से छूटकर भगवान् में अपने आप निरुद्ध हो जाती हैं ॥११॥

आभास—अलौकिकानुभावत्वं प्रश्नहेतुत्वेनोक्त्वा कैमुतिकन्यायेन तान् स्तौति श्रुत इति,

आभासार्थ—भागवत धर्मों का प्रभाव ही प्रश्न करने का कारण है ऐसा कहकर अब कैमुतिक न्याय से भागवत् धर्मों की स्तुति करते हैं।

श्लोक—**श्रुतोनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।**
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोपि हि ॥१२॥

श्लोकार्थ—सत् धर्म-भागवत धर्मों में से एक धर्म का भी यदि कोई मनुष्य, श्रवण करे, वा कीर्त्तन करे, अथवा ध्यानमात्र करे, वा आदर ही करे तथा केवल अनुमोदन करे तो देवता तथा समग्रविश्व का द्रोही हो तो भी वह जब शीघ्र पवित्र हो सिद्धि पाता है तो जो शुद्ध है वह परम फल पावे इसके लिये कहना ही क्या है ? ।।१२।।

सुबोधिनी—सतो भगवद्भक्तस्यैकोपि धर्मो लोकवेदघातिनः सर्वथा बहिर्भूतान् प्रायश्चित्तानर्हान् बहूनपि श्रुतमात्रः सद्यः पुनातीति किं पुनर्भगवद्धर्माणां माहात्म्यं वक्तव्यमित्यर्थः, यथाजामिले भक्तानां पक्षपातलक्षणः स्वभावो 'भूतानि विष्णोः सुरपूजिता' नीतिन्यायेन **श्रुतः**, **प**वित्रता लोके वेदे च दुर्लभेति फलत्वेन कीर्त्यते, श्रवणानन्तरभाविकीर्तन**मनुपठनं** ध्यानं मानसं, कायवाङ्मनोगोचरस्तथा करोतीति त्रयं, **आदृतो** वेति पूर्वेण सह स्वतन्त्रविकल्प **आदरस्य** प्रेमसहितत्वाद् भिन्नकर्तृकश्रवणादाव**नुमोदनं** मात्सर्याभावाय पदार्थे महती रुचिश्चेत् तथा भवति, हीति नात्र प्रमाणान्तरमपेक्ष्यते, तस्माद् यत्र भगवत्सेवकधर्मोप्येतादृशस्तत्र भगवद्धर्माणां किं माहत्म्यं वक्तव्यमित्यर्थः ।।१२।।

व्याख्या—भागवत् धर्मों में से एक धर्म भी, लोक तथा वेद के द्रोही को और सब प्रकार से पतित होने से प्रायश्चित के भी जो योग्य नहीं रहे हैं ऐसे बहुतों को भी केवल श्रवण मात्र से शीघ्र पवित्र करता है, तो फिर भगवद्धर्मों का माहात्म्य कितना महान् होगा वह कैसे वर्णन कर सके ? जैसे भगवान् के सेवकों ने अजामिल जैसे पापी का भी पक्षपात कर भागवत धर्म का प्रताप दिखाया 'भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि' इस न्याय से सुना है। वैसे तो लोक में तथा वेद में पवित्रता दुर्लभ है, किन्तु भागवत धर्म उसकी चिंता न कर फल सिद्धि कर देता है। श्रवण के अनन्तर जो कीर्तन किया जाता है उसको अनुपठन कहते हैं। ध्यान का आशय है भागवत धर्म में चित्त का पिरोना अर्थात् मन को भागवत धर्म निरुद्ध कर देना। सारांश है कि काया, वाणी और मन तीनों में भागवत धर्म समा जावे, अथवा प्रेम सहित उसका आदर मात्र किया जावे, तथा अन्य कोई धर्म का श्रवणादिता से करे तो उसका भी अनुमोदन करे, जिससे भगवत्सेवकों में भी भगवद्धर्म में रुचि के कारण मत्सरता का अभाव होता है। इसमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। इससे जहाँ भगवत्सेवकों का भी ऐसा उत्तम गुणवाला धर्म है तो वहाँ भगवद्धर्मों के माहात्म्य के लिये क्या कहा जाय ? अर्थात् उनका माहात्म्य अनन्त तथा अगाध है ।।१२।।

आभास—स्वस्यापि कृतार्थतया सभाजमाह त्वयेति,

आभासार्थ—आपने भगवत्स्मरण कराया है जिससे मैं भी कृतार्थ हुआ हूं–जिसका वर्णन इस १३ वें श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ।।१३।।

श्लोकार्थ—तुमने तो आज मुझे, मेरे सेव्य भगवान् नारायण देव का स्मरण कराया है, जो परम कल्याण कारक तथा जिनका श्रवण एवं कीर्त्तन पुण्य दाता है ॥१३॥

सुबोधिनी—भगवद्धर्मप्रश्न सर्वत्र दुर्लभो वैष्णवानामपि सर्वदा विहितं स्मरणादि प्रेमाविर्भावे तु तेनैव पिधानं चित्तं सम्यक्प्रविष्टं स्मरति तद्विचारार्थं जातमिति सम्यक् **स्मारित** इत्यर्थः, **कल्याणं** विवाहादि **पुण्यं** गङ्गास्नानादि तथा चैहिकामुष्मिकपुरुषार्थरूपता भवति **परम**त्वं परमानन्दरूपत्वाद् "रूपनामविभेदे" नेति वक्तुं **श्रवणकीर्तने** इत्युक्तं परस्वसाध्यभेदेन, **भगवा**निति धर्मिनिर्देशः, ऐहिकामुष्मिकानन्तरं फलत्वमपि भगवत आह **देवो नारायण** इति **देव**पक्षपातित्वाद् **देवो** ब्रह्मजनकत्वाय **नारायण** इति सर्वेषामपेक्षितो **मम** तु स्वामी सेव्य इत्यर्थः, सेवायामपि तिरोहित एवेत्यद्येतिविशेषः ॥१३॥

व्याख्या—अन्य लौकिक, वैदिक धर्म पूछने वाले तो प्रायः मिलते हैं, किन्तु भागवत धर्म पूछने वाला जहाँ भी देखते हैं वहाँ दुलर्भ है, उन्होंने भागवत धर्म पूछ कर मुझे अपना सेव्य नारायण सम्यक् स्मरण कराया है। वैष्णवों को तो भगवत्स्मरण सर्वदा करना चाहिये यों शास्त्रों में आज्ञा है। स्मरण करने कराने से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, उस प्रादुर्भूत प्रेम से शिथिल चित्त में फिर भगवत्स्मरण के लिये स्फूर्ति हो आती है। वह स्फूर्ति आज आपने भागवत धर्म पूछकर मुझे कराई है, अतः आप अभिनन्दनीय हैं। विवाहादि लौकिक कार्य लोक दृष्टि में कल्याण रूप हैं, और गङ्गा स्नानादि वेद शास्त्र विहित कर्म पुण्य रूप हैं, इनसे ऐहिक (इस लोक की) और आमुष्मिकीय (पर लोक की) पुरुषार्थ रूपता सिद्ध होती है। 'परम' पद से परमानन्द रूपत्व सिद्ध किया है, 'रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यज्ञ' इस प्रमाणानुसार भगवान् रूप (स्वरूप) नाम (शास्त्र) आदि से जगत् में क्रीड़ा करते हैं एवं इस प्रकार जगत् रूप होकर क्रीड़ा करते हुए स्वांश जीवों को सांसारिक प्रपञ्च छुड़वाकर अपने परमानन्द का दान करते हैं, इसलिये साधन रूप से श्रवण कीर्तन कहे हैं। 'भगवान्' पद देकर 'धर्मो का' निर्देश किया है। ऐहिक (इस लोक) और आमुष्मिक (परलोक) के बाद जो परम फल प्राप्त होता है वह देव नारायण ही है। वह भगवान् देवों का पक्षपात करते हैं, अतः यहाँ 'देव' कहा है और ब्रह्म जनकत्व होने से 'नारायण' कहा है, इस प्रकार सब इनकी अपेक्षा करते हैं। मेरे तो स्वामी होने से सेव्य हैं, सेवा में भी इस समय तिरोहित से हो गये थे, जिसको आज पुनः स्मरण कराया है अतः आप धन्य हैं ॥१३॥

आभास—एवमभिनन्दनमुक्त्वा शास्त्रमारभतेत्रापीत्या "ह्यवाप परमां गति" मित्यन्तं,

आभासार्थ—इस प्रकार नारदजी वसुदेवजी का अभिनन्दन कर अब शास्त्र विषय का आरम्भ करते हैं।

श्लोक—**अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।**
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥

श्लोकार्थ—इस भागवत धर्म सम्बन्धी प्रश्न विषय में महात्मा विदेह तथा ऋषभदेव के पुत्रों का जो संवाद अगले कल्प में हुआ था वह इतिहास रूप में परम्परा से उदाहरण स्वरूप से दिया जाता है ।।१४।।

सुबोधिनी—गुरोः केवलवाक्याच् छास्त्रीयं प्रमाजनकमिति सिद्धं, तत्र कथोपक्षेपमाहात्रेति, **अत्र** धर्मप्रश्ने, अयमर्थः सर्वथा न त्वयैव पृष्टः किन्तु **पुरातनोपि**, अनेन फलस्यापि नियतत्वं ज्ञापितं,कल्पान्तरीयास्त इति सूचित**मुदाहरन्तीति** जन्मान्तरस्था गुरवोन्ये च, भगवतो ब्रह्मणो वा वाक्यं नोदाहृतं मुक्तविषयत्वात्, **पुरातन**मिति **नारद**कल्पापेक्षया, **ऋषभदेवपुत्राणां विदेहस्य** चेतरेतरयोगेन प्रत्येकं प्राधान्यार्थे वा चकारः, अस्य **निमे**र्नवमस्कन्धोक्तादन्यत्वान् न लोचन- प्रतिष्ठितत्वेन दूषणं, श्रोतुर्वंशकथने प्रयोजना-भावादुत्तमत्वमात्रं वक्तव्यं तद् यज्ञमध्यस्थितं वक्ष्यति, देहाभिमानाभावो भगवच्चित्तता चात्राप्युक्ता, तादृशोयं वंशो यत्र भगवता स्वधर्माविर्भावः षड्गुण कृतः शुकवंशवत् सप्तमी हि कक्षा भगवद्धर्मप्रतिपादिका ।।१४।।

व्याख्या—यह सिद्धान्त तो सिद्ध हो गया है कि 'गुरु के मुखारविन्द से प्राप्त उपदेश मात्र से शिष्य को शास्त्रीय तत्व का ज्ञान पूर्णतया समझ में आ जाता है' जिससे वह शीघ्र संसार से विमुक्त हो भगवद्रस का पान करने योग्य बनता है। भागवत धर्म का प्रश्न जो अब तुमने किया है, उसके लिये ऐसा नहीं समझें कि ऐसा प्रश्न मैंने ही किया है, किन्तु यह प्रश्न पुरातन (पराना) भी है, ऐसा कहकर यह सिद्ध कर बताया है कि इसका फल नियत निश्चित है, वे प्रश्न अगले कल्प के हैं, यह सूचित करने के लिये कहते हैं कि दूसरे कल्प के तथा दूसरे जन्म के गुरु और अन्य महापुरुष इस प्रकार के प्रश्न का इतिहास उदाहरण रूप में कथन करते हैं। नारदजी के एवं वसुदेवजी के संवाद विषयक कल्प से यह पुराना है। यह मुक्तों के विषय सम्बन्धी होने से भगवान् अथवा ब्रह्मा के वाक्य उदाहरण स्वरूप नहीं दिये हैं। श्लोक में 'आर्षभाणां च संवादम्' यहां जो 'च' शब्द दिया है जिसके देने का आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि, इस संवाद में ऋषभ के पुत्र और विदेह राजा दोनों की प्रधानता है, अर्थात् दोनों की प्रधानता दिखाने के लिये 'च' दिया है। यह निमिराजा नवम् स्कन्ध में कहे हुए 'निमि' राजा से अन्य है, इसलिये इसमें लोचन प्रतिष्ठितपन का दूषण नहीं आता है, श्रोता के वंश के वर्णन का यहाँ प्रयोजन न होने से केवल उसकी (श्रोता—राजा की) ही उत्तमतादि दिखाने के लिये कहा है कि राजा उस समय यज्ञ में स्थित था, इससे यह भी प्रकट किया है कि राजा को देह का अभिमान नहीं था एवं भगवान् में ही चित्त पिरोया हुआ था। यह वंश वह है जहाँ अपने धर्म का आविर्भाव किया है, इस वंश में शुक वंश की तरह यह आविर्भाव व भगवान् के षड् गुणों सें छः में हुआ है सातवीं कक्षा भगवान् के धर्म की प्रतिपादिका है ।।१४।।

श्लोक—**प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।**
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ।।१५।।

श्लोकार्थ—स्वायम्भुमनु के पुत्र प्रियव्रत को आग्नीध्रनाम वाला पुत्र हुआ उस आग्नीध्र से 'नाभि' उत्पन्न हुआ, 'नाभि' का पुत्र ऋषभ हुआ ।।१५।।

सुबोधिनी—तान् वक्तुं षट्पुरुषानाह **प्रियव्रत** इति, पञ्चमस्कन्धोक्तोयमिति वक्तुं तृतीयादारम्भः, शिष्टं स्पष्टम् ॥१५॥

व्याख्या—षट् धर्मों का वर्णन करने के लिये ही, ऋषभ के पूर्वज षट् पुरुषों को कहा है। यह प्रियव्रत वह है, जिसका वर्णन पञ्चम स्कन्ध में आया है ॥१५॥

श्लोक—**तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।**
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—मोक्ष धर्म कहने की इच्छा से अवतार धारण किये हुए ऋषभ देव को 'वासुदेव भगवान् का अंश है' ऐसा कहते हैं, उस (ऋषभदेव) को, वेदों में पारंगत अर्थात् वेदों के तत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाले एक सौ पुत्र हुए ॥१६॥

सुबोधिनी—सप्तमानामुत्पत्तिं वक्तुं पितुर्माहात्म्यपुरःसरमाह **तमिति**, **शतमध्ये** तेषामप्युत्पत्तिर्वेदाध्ययनं च साधारणमुक्तं, भगवद्धर्माः शतं ततोप्यधिकाः सन्तीति तन्मध्ये नवानामप्युत्पत्तिर्भक्तेस्तथात्वात् ॥१६॥

व्याख्या—उन सातों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए प्रथम पिता का माहात्म्य प्रकट करने के लिये 'तं' पद दिया है। उन सौ पुत्रों में उनकी उत्पत्ति और वेदाध्ययन जो कहा है वह साधारण है। भगवद्धर्म तो १०० और उनसे भी उत्तम एवं अधिक है, उनमें ९ की उत्पत्ति तो नव प्रकार की भक्ति रूप से हुई है ॥१६॥

आभास—अत्र न कोपि प्रवाहपतित इति वक्तुं पुष्टिस्थं द्वाभ्यामाह स्वरूपकार्याभ्यां, रूपनाम्नोरुत्तमत्वं वदन् स्वरूपमाह तेषामिति,

आभासार्थ—इनमें कोई भी प्रवाहमार्गी नहीं है ऐसा कहने के लिए दो से अर्थात् स्वरूप एवं कार्य से पुष्टिमार्ग में जो स्थिति है उनका वर्णन करते हैं। स्वरूप और नाम की उत्तमता दिखाते हुए प्रथम स्वरूप का वर्णन 'तेषां वै' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।**
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—उन एक सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र भरत, नारायण के परायण भगवद्भक्त हुए जिनके उत्तम नाम से 'अजनाभ खण्ड' का नाम 'भरत खण्ड' प्रसिद्ध हुआ है ॥१७॥

सुबोधिनी—**भगवत्परायणत्वे हि रूपोत्कर्षः, यन्नाम्ना महतोपि नाम प्रसिद्धं भवति स नामोत्कर्षः,** **ज्येष्ठस्योत्तमत्वं सर्वेषां** तादृशत्वज्ञापनाय ॥१७॥

व्याख्या—भगवान् में परायण होना स्वरूपोत्कर्ष है, जिसके नाम से बड़ों का भी नाम प्रसिद्ध हो वह नामोत्कर्ष है, भरत भगवत्परायण थे, इससे उनकी स्वरूप से उत्कर्षता थी, 'अजनाभ'

नाम का बड़ा खण्ड, भरतजी के नाम से भरतखण्ड प्रसिद्ध हुआ जिससे भरत के नाम से भी उत्कर्षत्व है, ज्येष्ठ (बड़े) की उत्तमता के वर्णन से सब उत्तम है यह बताया है ॥१७॥

आभास—कार्यमाह स इति,

आभासार्थ—कार्य दिखाने के लिए 'सभुक्तभोगां' श्लोक कहते हैं।

श्लोकः—**स भुक्तभोगां त्यक्तवेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।**
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥

श्लोकार्थ—भरतजी इस पृथ्वी के भोगों को भोग कर, तदन्तर उनका त्यागकर गृह से निकल गए और तप द्वारा हरि की उपासना करते हुए तीन जन्म के अनन्तर उन्होंने भगवदीय पदवी को प्राप्त किया ॥१८॥

सुबोधिनी—भरत एव हि भगवान् बद्धमुमुक्षु-मुक्तावस्थाः प्रदर्शितवांस्त्रयाणामेतदेव रूपमेष क्रियेति, प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माश्च भगवदिच्छया प्रतिबद्धाः, **नारायणपरायणस्य धर्मनिष्ठा न प्रयोजिकेति पदवीं लेभ** इति ततोग्रे गतिर्न ज्ञायत इत्यर्थः, 'नारायणपराः **सर्वे**' इतिवचनात्, **भुक्तभोगा** परित्यक्तेत्युपपत्तिकथनार्थं **भुक्तभोगेति**-विशेषणं, **निर्गत** इति न सन्न्यासो गृहीत इति ज्ञापयति तथा सति हरिणसङ्गे पातित्यं स्यात् ॥१८॥

व्याख्या—भगवान् ने राजर्षि भरत में ही १) बद्ध २) मुमुक्ष और ३) मुक्तावस्था, प्रदर्शित की है, तीनों का यह ही रूप और यह ही क्रिया है। भरत में प्रवृत्ति धर्म तथा निवृत्ति-धर्म भगवदिच्छा से ही उत्पन्न (प्रतिबद्ध) हुए हैं: जो जीव नारायण के परायण हैं, उसको धर्म निष्ठा प्रयोजक नहीं होती है, अर्थात् भगवद्भक्तों को धर्म निष्टा भक्ति में वृद्धि नहीं कराती है, उनको भक्ति वृद्धि भगवत्कृपा एवं इच्छा से ही होती है, क्योंकि भगवद्भक्तों का एक नारायण ही शरण (रक्षक) है, ऐसी उनकी दृढ़ आस्था होती है, 'पदवीं लेभे' पद से यह तात्पर्य प्रकट किया है कि इससे आगे विशेष कोई गति नहीं है, 'नारायण पराः सर्वे' इस वचन से यही सिद्ध है कि उनकी गति नारायण ही है, अन्य कोई नहीं। राजर्षि थे, इसलिये पृथ्वी के सर्वभोग भोगते थे, किन्तु भगवदिच्छा एवं कृपा हुई तब निकल गये 'भुक्तभोगाम्' विशेषण से यह युक्ति पूर्वक सिद्ध किया है कि भगवदिच्छा से जितने भोग भोगने थे वे भोग लिये अब उनको छोड़ कर चले गये। 'निर्गतः' पद से यह सूचित किया है कि भरत ने सन्यास ग्रहण नहीं किया था। यदि सन्यास ग्रहण किया होता तो हरिण के सङ्ग से पतन हो जाता आगे न बढ़ सकते थे ॥१८॥

आभास—अन्येषामपि नवव्यतिरिक्तानां मर्यादायां विनियोगमाह तेषामिति,

आभासार्थ—नौ से पृथक् जो बाकी थे उनका भी मर्यादा में विनियोग हुआ है, यों 'तेषां नव' श्लोक में वर्णन कर सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**तेषां नव नवद्वीपपतयोस्य समन्ततः ।**
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥

श्लोकार्थ—६६ (पुत्रों) में से नौ, भरतखण्ड के चारों तरफ जो नौ द्वीप हैं, उनके अधिपति हुए। ८१ वेद के कर्मतन्त्र अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग के प्रवर्त्तक ब्राह्मण हुए ॥१६॥

सुबोधिनी—रूपमर्यादां हि **नव** रक्षितवन्तोष्ट-दिङ्मध्यभेदात् सत्त्वरजस्तमोगुणा अन्योन्यमिश्रणेन नवविधा भवन्ति ते कर्तरि कर्मणि च प्रविष्टा **एकाशीतित्वं** सम्पादयन्ति, एतावन्त एव हि प्रवृत्तिमार्गे वेदनिष्ठास्तेषां मध्ये **नव नवद्वीपपतयो** जाताः, **अस्येति** पुरःस्थितभूमिनिर्देशो बुद्धिस्थभरतनिर्देशो वा, **कर्मतन्त्रप्रणेतार** इति यजनयाजने प्रदर्शिते, ब्राह्मण्याविर्भावस्तेष्विति **द्विजातय** इत्युक्तम् ॥ १६ ॥

व्याख्या—भरत जी के सिवाय जो ६६ रहे, उनमें से भरतखण्ड के आसपास के नौ द्वीपों के वे अधिपति हुए, शेष ८१ मर्यादा मार्ग के प्रवर्त्तक हुए, अर्थात् नव पुत्रों ने कर्मतन्त्र (राज्य तन्त्र द्वारा) की रचना कर रूप मर्यादा की रक्षा की। ८१ पुत्रों ने कर्म मर्यादा की रक्षा की है, रूप मर्यादा की रक्षा में ६ प्रकार इस तरह होते हैं—आठ दिशाएँ और एक मध्य भाग मिलकर ६ प्रकार हुए हैं, एवं सत्व, रज तथा तम के मिश्रण से ६ प्रकार बनते हैं, वे प्रकार कर्त्ता तथा कर्म में प्रविष्ट होने से ८१ होते हैं, इस प्रकार ये ८१ मर्यादा में स्थित हुए, कर्म मर्यादा में वेद निष्ठ बनकर क्रिया काण्ड का प्रचार कर कर्म मर्यादा की रक्षा की है, इसी तरह ये ८१ क्षत्रिय के पुत्र होकर भी द्विजाति ब्राह्मण कहलाये। यद्यपि ब्राह्मण से उत्पन्न न होने से जन्म से ब्राह्मण जाति के नहीं थे, किन्तु इनमें ब्राह्मण्य देवता का आविर्भाव हुआ था, जिससे ये वैदिक कर्म यजन याजन आदि के प्रचारक ब्राह्मण कहलाए (यह एक विशेष नियम है कि जिसमें भगवदिच्छा से ब्राह्मण्य देवता का प्रादुर्भाव हो वह ब्रह्मण हो सकता है—इसी तरह क्षत्रिय देवता भी जिसमें प्रकट हो तो वह उस समय क्षत्रिय कहलाता है, क्योंकि उस देवता के प्राकट्य से वह उस समय क्षात्र धर्म कर्ता होने से क्षत्रिय है, जैसे परशुराम जाति से क्षत्रिय नहीं थे, इस तरह ब्राह्मण आदि भी समझने चाहिये, तात्पर्य यह है कि जाति और देवता का विषय पृथक् २ है, ब्राह्मण जाति के देह में ब्राह्मण देवता का आविर्भाव परम्परा से वीर्य द्वारा होता ही है, विशेष अवस्था में क्वचित ब्राह्मणदेवता का प्राकट्य होता है अतः वे जाति से ब्राह्मण नहीं है। इत्यलम्।) ॥१६॥

'अस्य' पद भरतखण्ड के आगे, पास में स्थित भूमि का सूचक है अथवा बुद्धिस्थ भरत का सूचक है।

श्लोक—**नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।**
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—शेष बचे हुए नव (नौ) महाभाग्यशाली परमार्थ तत्त्व के उपदेशक, भगवद्धर्मप्रचारार्थ परिश्रम करनेवाले परम भगवदीय, अपरिग्रही (कुछ भी संग्रह न करने वाले) परम हंस हुए ॥२०॥

सुबोधिनी—प्रकृतानाह **नवेति**, भागवतधर्म, दर्शना **नव महाभागवता** इति ज्ञानभक्तिसहिता ऋषयो मन्त्रमिव भागवतधर्मदर्शना इत्युक्तत्वादलौकिकद्रष्टृत्वे षड्ढेतूनाह, ते हि नवधा भक्तिरेव प्रकटेति तुल्यस्वभावा लोके निधिवद् भगवद्धर्मा इति **महाभागा** इत्युक्तं, **प्राप्तो निधिरज्ञानादशक्तया च गच्छे**दित्यज्ञानं त्रिभिर्निवारयति, **मननशीला ह्यवेक्षका**स्तत्र लब्धं परिपालयन्तीति

तत्रापि तारतम्यज्ञानार्थ**मर्थशंसिन** इति परमार्थ-भूतमेव वस्तु शंसते न तु योगबलेन यत्किञ्चिद् दृष्टमपि तस्मात् कथनार्थं धर्माणां सम्यगवधारण-मुक्तं, **श्रमणा** इति सामर्थ्यं येषां मनोवाक्कर्माणि तदर्थमिति नाज्ञानेन प्रमादः, अशक्ति निराकरोति द्वयेन, **परिग्रहेण हि व्याकुलता,** अपरिग्रहे देहाध्यासे सति ततोपि, अतोपरिग्रह आत्मज्ञानं चोक्तं, देहाध्यासस्य सर्वथा बाधितत्वाय **विशारदत्वम्** ॥२०॥

व्याख्या—ये शेष ६ ज्ञानभक्तिसम्पन्न महान् भगवदीय मुनि भागवत धर्म के इसी तरह द्रष्टा हुए जैसे मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुए हैं, यह द्रष्टत्व अलौकिक था, जिसके लिये ६ हेतु कहे हैं।

१—'महाभागाः' इस हेतु से यह सिद्ध किया है कि ये सब समान स्वभाव वाले थे। लोक में भागवत धर्म भी निधि है अतः उसकी रक्षा भी वैसी ही होती है। ये नौ नवधा भक्ति रूप हैं अर्थात् नौ प्रकार की भक्ति इन नवों रूपों में प्रकट हुई है। प्राप्त हुई निधि अज्ञान से अथवा अशक्ति के कारण नष्ट हो जाती है तो यह भी नष्ट हो जायेगी, इस भ्रम के निवारणार्थ तीन विशेषण दिये हैं,

२—मुनयः ये मननशील होने से पूर्ण रीति से उसकी देख-रेख करने वाले हैं जिससे इनको जो प्राप्त होता है उसको नष्ट होने नहीं देते हैं।

३--अर्थ शंसिनः इस पद से यह सूचित किया है कि ये नव, वस्तु की तारतम्यता को पहचानने वाले हैं अतः जो परमार्थ रूप वस्तु है, उसकी प्रशंसा करते हैं एवं उसको ही ग्रहण करते हैं। योगबल से जो कुछ देखा है केवल उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं, अतः धर्मों को सम्यक् प्रकार से धारण करने के कारण उनका उपदेश भी कर सकते हैं।

४—श्रमणाः इन नवों में पूर्ण परिश्रम करने की शक्ति है, जिससे इनका मन, वाणी तथा कर्म भगवदर्थ ही है, एवं इनमें कभी भी प्रमाद उत्पन्न नहीं होता है, कारण कि, अज्ञानी होते ही नहीं है।

५ वातरशनाः और ६ आत्मविद्या विशारदाः—इन दो विशेषणों से सूचित किया है कि इनमें कभी भी अशक्ति (अज्ञान) उत्पन्न नहीं होगा, कारण कि, ये परिग्रह करने वाले नहीं होंगे, जिससे उनके अन्तःकरण में व्याकुलता क्षोभ कुछ भी नहीं रहेगा एवं आत्म विद्या (यह सर्व आत्मा ही है ऐसी विद्या) प्रवीण होने से भी इनमें अज्ञान या द्वैत न होने से देहाध्यास से रहित होंगे। यदि अपरिग्रह करते हुए भी देहाध्यास रह जावे तो भी व्याकुलता एवं क्षोभ नष्ट नहीं होता है, अतः ये देहाध्यास रहित, अपरिग्रही तथा आत्मविशारद परमार्थवस्तु को पहचानकर आचरण एवं उपदेश करने वाले प्रमादरहित, महाभाग्यशाली परम हंस स्थिति वाले नौ योगेश्वर हुए ॥२०॥

श्लोक—**कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।**
आविर्होत्रोथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—१-कवि, २-हरि, ३-अन्तरिक्ष, ४-प्रबुद्ध ५-पिप्पलायन, ६-आविर्होत्र, ७-द्रुमिल, ८-चमस और ९-करभाजन, इन ९, योगेश्वरों के ये नाम थे ॥२१॥

सुबोधिनी—गुरोर्नामपरिज्ञानाय तेषां नामान्याह **कविरित्यादिना**, **अथ**शब्दः प्रकरणविच्छेदकः, "तस्माद् भारत सर्वात्मे" त्यत्र निरूपितं विस्तरभयान् नोच्यते ॥२१॥

व्याख्या—गुरु के नाम की पहचान हो तदर्थ उनके 'कवि' आदि नाम कहे हैं। श्लोक में 'अथ' पद प्रकरण को पृथक् करता है, इस विषय को 'तस्मात् भारत सर्वात्मा' श्लोक की व्याख्या में निरूपण किया है विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहा जाता है ॥२१॥

आभास—तेषामाश्रमधर्मं ज्ञानवैराग्याभ्यां श्लोकद्वयेनाह तत्र ज्ञानेन परिभ्रमणं प्रथममाह त इति,

आभासार्थ—ज्ञान एवं वैराग्य द्वारा उनका आश्रम धर्म दो श्लोकों से कहते है—उसमें प्रथम ज्ञान से परिभ्रमण का वर्णन करते हैं।

श्लोक—त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—वे, ये नव योगेश्वर, सहसद्रूप विश्व को आत्मा से अभिन्न अर्थात् भगवद् रूप देखते हुए पृथ्वी में विचरने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी—सङ्घपरिभ्रमणं निषिद्धमाशङ्क्य भगवद्धर्मदर्शनात् परस्परकथनार्थमप्येत तथात इत्याह **त एत** इति, वैदिकं भागवतज्ञानं चैकविधं भगवत्त्वेन परं विशेषः, साङ्ख्ये तु विकल्पदूरीकरणेनैकरूपानुभवो योगे तु बहिर्दर्शनाभाव एव, तत्र वैदिके वैष्णवे च प्रकारत्रयेण ब्रह्मनिरूपणं ब्रह्मजगज्जीवाप्राधान्यभेदात् तत्र जगत्प्राधान्यज्ञानमाह भगवतोनन्तमूर्तेः कार्यरूपमेकं द्विविध–बुद्धिहेतुभूतं व्यवस्थया न **सदसद्रूपं** किन्तु सर्वत्रैव, तत्र स्वस्याप्यभेद **आत्मनोऽव्यतिरेकः** परिभ्रमणेपि ब्रह्मनिष्ठत्वाय जगत्प्राधान्यज्ञानम् ॥२२॥

व्याख्या—'त एते' पदों के स्वारस्य को प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते है कि ज्ञानियों को एकाकी परिभ्रमण करना चाहिये, कारण कि, उनके लिये शास्त्रों में संघ परिभ्रमण निषेध है, फिर ये जो संघ परिभ्रमण करते हैं सो क्यों ? इस शङ्का निवारणार्थ 'त एते' विशेषणों से बताया है कि ये वे हैं जिनको भगवद्धर्म का दर्शन हुआ है, अतः वे सङ्घ में परस्पर भगवद्धर्मों की ही चर्चा करते हैं, इसलिये इनका सङ्घ परिभ्रमण किसी प्रकार बाधक नहीं है, वैदिक ज्ञान और भागवत ज्ञान दोनों यद्यपि एक प्रकार के ही हैं, तथापि भागवत ज्ञान भगवत्व[1] के कारण विशेष है, साङ्ख्य ज्ञान में विकल्प दूर करने से एक रूप का (मैं ब्रह्म का ही रूप हूँ ऐसा) अनुभव होता है, योग में तो जब बाहर कुछ भी देखने में नहीं आता है तब एक रूप ज्ञान होता है, इस विषय में वैदिक और वैष्णव सिद्धान्त में ब्रह्म का तीन प्रकार से निरूपण है, १-ब्रह्म २–जीव और

१–भगवत्सम्बन्धी होने से।

३-जगत् के प्राधान्य भेद से जिसको समझते हैं कि प्रथम जगत् की प्राधान्यता के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अनन्तमूर्ति भगवान् का एक कार्य रूप है जिसको 'जगत्' कहते हैं, वह रूप बुद्धि में द्वैत का हेतु- भूत बनता है, वह व्यवस्था[1] सदसद्रूप नहीं है सर्वत्र समग्र जगत् में ब्रह्म दर्शन करावे तब इस प्रकार का जगत् प्राधान्य ज्ञान है। न केवल इतना ही किन्तु इस जगत्प्राधान्य ज्ञान में अपना भी भेद नहीं रहता है। आत्मा का व्यतिरेक बिना दर्शन होने से परिभ्रमण के समय भी ब्रह्मनिष्ठपन रहता है, इसलिये ऐसे ज्ञान को जगत् प्राधान्य ज्ञान कहा जाता है ॥२२॥

आभास—वैराग्यमाहाव्याहतेति,

आभासार्थ—इस 'अव्याहतेष्टगतयः' श्लोक में वैराग्य का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्यगन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।**
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथविद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—ये योगेश्वर जो भगवद्धर्म रस में निमग्न हैं, वे बिना किसी प्रकार की रुकावट के सुरलोक, सिद्धलोक साध्यलोक, गन्धर्व, यक्ष, नर, किन्नर, नागलोक एवं मुनि, चारण, भूतनाथ विद्याधर, द्विज और गौओं के लोक इस प्रकार के १४ लोकों में उनके गुणों में बद्ध न होकर मुक्त ही स्वच्छन्दता से विचरण कर रहे हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—वैराग्यमपि त्रिविधं विषयाणां व्यामोहकानां दूरे परित्यागोऽभ्यन्तरे दृढतया समागतानामुपेक्षा रागाभावाय सकृदनुभवोऽनिषिद्धप्रकारेण तत्र तृतीय एतेषु भगवद्धर्मरसाभिनिवेशात्, सिद्धीनामङ्गीकारेण **न व्याहतेष्टा गतिर्येषां**, चतुर्दशलोकाभिप्रायेण गणिता **लोकाः**, तत्रत्यैर्गुणैर्न सम्बद्धा **मुक्ताः**, **काममिति** भगवदिच्छापरिपालकत्वान् नोद्विग्नाः ॥२३॥

व्याख्या—वैराग्य भी तीन प्रकार का होता है, १-व्यामोह करने वाले (विषयों का दूर से ही त्याग करना), २-भीतर में जो विषय दृढ़ता से प्रवेश कर जाते हैं उनकी अपेक्षा कर देना। विषयों में राग का अभाव हो जावे ऐसा सदैव अनिषिद्ध प्रकार से अनुभव हो जाना। इसी प्रकार जो वैराग्य के तीन प्रकार हैं, उनमें से इन योगेश्वरों में तीसरे प्रकार का वैराग्य स्थिर था, क्योंकि, वे भगवद्धर्म के रस में निमग्न हो गये थे, सिद्धियों के अङ्गीकृत होने से जिनकी गति कहीं भी रुद्ध नहीं होती है। लोकों की गणना १४ लोकों के अभिप्राय से की गई है, उन लोकों में विचरण से जो गुण सम्बद्ध हो जाते हैं इसलिये 'मुक्ताः' विशेषण देकर कहा है कि उन गुणों से ये सम्बद्ध नहीं हुए थे, स्वच्छन्द हो कर बिना उद्वेग के विचरण कर रहे थे इसलिये **'कामम्' पद** दिया है। उद्वेग न होने का कारण यह था कि वे सदैव भगवदिच्छा के ही परिपालक थे ॥२३॥

१-व्यवहारिक और परमार्थिक सत्ता से नहीं है, किन्तु सर्वत्र सदसद रूप से भगवान् ही विद्यमान रहे हैं, ऐसी व्यवस्था।

आभास—भारते यज्ञकर्तारः शुद्धा भगवद्धर्मजिज्ञासवो भविष्यन्तीति भगवदाज्ञा-परिपालनाय तत्र समागता इत्याह इति,

आभासार्थ—'त एकदा' श्लोक में दिखाते हैं कि भारत में जो यज्ञ करने वाले हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से वे भगवद्धर्म के जानने की इच्छा वाले होते हैं, योगेश्वरों को ऐसी आज्ञा थी, भगवद्धर्म को जानने की इच्छा वालों को भगवद्धर्म उपदेश हो, ऐसी आज्ञा के पालनार्थ निमि के यज्ञ में आए ।

श्लोक—**त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।**
वितायमानमृषिभिर्जायन्तेया महात्मनः ॥२४॥

श्लोकार्थ—किसी काल में जयन्ती के पुत्र वे महात्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उस निमि के यज्ञ में गये जिसका विस्तार ऋषिलोग कर रहे थे ॥२४॥

सुबोधिनी—सर्वथा गन्तव्यमितिनिर्बन्धो नास्तीति **यदृच्छ**येत्युक्तं, सत्रे हि लौकिकवैदिक-क्रियावेशातिरिक्त कालः सम्भवति "षडहैर्मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ती" तिवत् तत आह **वितायमान**मिति, भ्रमाभावार्य**षिभि**रिति, तथापि गमनमनुचितमिति **जायन्तेया** इति मातृनाम्ना निर्देशः, परं भाग्यं **निमे**रित्याह **महात्मन** इति ॥२४॥

व्याख्या—'यदृच्छया' पद से यह सूचित किया है कि सर्वथा वहाँ जाना ही चाहिये ऐसा आग्रह नहीं हैं, अर्थात् जब भगवद् इच्छा हुई; तब गए । सत्र की पद्धति वेदानुसार ऐसी रखी गई है जिससे आने वाले महात्माओं को उपदेशार्थ अतिरिक्त काल मिल जाता है, (जैसे कि तै. संहिता में 'षडहैर्मासात् सम्पाद्याह रुत्सृजन्ति' इस मन्त्र में कहा है कि ६ दिनों से मासों का सम्पादन कर एक दिवस अतिरिक्त पृथक् कर देते हैं) इसका परिज्ञान योगेश्वरों को था, अतः भगवदिच्छा से भगवदाज्ञा परिपालनार्थ अर्थात् राजा के समीप भगवद्धर्म के उपदेशार्थ वहां पधारे । इस यज्ञ का विस्तार ऋषि कर रहे हैं, इसलिये यहाँ कोई विधर्मी नहीं होगा 'जायन्तेयाः' विशेषण से जाने का औचित्य बताया है, राजा निमि भाग्यशाली है, अतः निमि के लिये 'महात्मनः' विशेषण दिया है ॥२४॥

आभास—समागमः पूजनं च प्रश्नश्चेति त्रिभिः क्रमात् ॥१॥

आभासार्थ—२५ श्लोकों में से तीन श्लोकों में क्रम से समागम, पूजन और प्रश्न कहे हैं ।

श्लोक—**तान् दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान् महाभागवतान् नृपः ।**
यजमानोग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥

श्लोकार्थ—सूर्य सम प्रकाश वाले उन महान् भगवद्भक्तों को देख कर राजा, यजमान, अग्नि[1] तथा विप्र ये सब ही खड़े हो गये ॥२५॥

१—आहवनीय अग्नि, आधिदैविक स्वरूप प्रकट करना ।

सुबोधिनी—तत्र समागममाह **तानिति**, तेषां ब्रह्मवित्त्वं **भागवतत्वं** चेतिविशेषणद्वयं, **नृपत्वादु**-चितमुपस्थानं लोकतो ब्रह्मवित्त्वाद् यजमान-स्याप्युचितं **महाभागवतत्वादग्निविप्रयोः**, सह-भावेनान्ये, अनेन तेषां **सहजोत्कर्षः** प्रतिपादितः ॥२५॥

व्याख्या—यज्ञ में पधारने को 'समागम' कहते हैं—वे ब्रह्म वेत्ता एवं महाभागवत थे-इन गुणों के कारण लोकनीति के अनुसार राजा निमि का उठकर खड़ा हो जाना उचित था तथा निमि यज्ञ में यजमान भी था, आये हुए ये ब्रह्मवेत्ता थे। अतः उनके आने पर यजमान को खड़ा होना योग्य है, महाभागवत थे—इसलिये अग्नि तथा विप्रों को भी उठना आवश्यक था, यज्ञ में जो अन्य थे वे भी सहभाव से खड़े हो गये, इस प्रकार के समादर से इनका उत्कर्ष स्वाभाविक है, यों प्रतिपादन किया गया है ॥२५॥

श्लोक—**विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणः ।**
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्र आसनस्थान् यथार्हतः ॥२६॥

श्लोकार्थ—नारायण के परायण राजा विदेह, उनको भगवद्भक्त तथा ब्रह्मवेत्ता है ऐसा जानकर प्रसन्न हुआ, अतः उनने यथा-योग्य आसनों पर विराजमान कर उनकी पूजा की ॥२६॥

सुबोधिनी—पूजनमाह **विदेह** इति, तेषां ब्रह्मत्वेन भगवत्त्वेन च ज्ञानमतो राजनि विशेषण-द्वयं **विदेह** इति **नारायणपरायण** इति च, अग्रिमविशेषणस्य पूजायामप्युपयोग इति पश्चान् निरूपणं, दृष्ट्वैव **प्रीतस्तेनास्य** तद्गतं सर्वं ज्ञातमिति सम्पन्नं, सम्यक् पूजा यथा भगवतः, बहुकालस्थित्या **आसनस्थानिति**, ज्येष्ठानुक्रमेण यथारुचि पदार्थदानं च, ज्ञात्वा पूजनं तेषामित्युत्कर्षः ॥२६॥

व्याख्या—राजा को इनका ब्रह्मत्व और भगवदीयपन का ज्ञान था, अतः राजा को भी विदेह और नारायण-परायण दो विशेषण देकर इनके पूजा समादर के लिये योग्य बताया है, ऐसा राजा इनको देखकर प्रसन्न हुआ, इससे यह सिद्ध है कि उनमें जो गुण है वे सब, राजा ने जान लिये हैं, इन कारणों से जैसे भगवान् का पूजन किया जाता है उसी तरह सम्यक् प्रकार से पूजन किया, पूजित होकर वे चले नहीं गये और न राजा ने उन्हें बिदादी, कारण कि, इनको उपदेश देने के लिये स्थित होना था और राजा को उपदेश सुनना था, अतः उनको विराजने के लिये आसन दिये, जिन पर वे विराजे, अतः 'आसनस्थान्' कहा है, जैसी योग्यता थी वैसे जानकर क्रम से यथा रुचि पूजादि के पदार्थ अर्पण किए, तथा उनसे उनकी पूजा की, यह भी उनका उत्कर्ष है ॥२६॥

श्लोक—**तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव ।**
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

श्लोकार्थ—अपने तेज से प्रकाशमान एवं रुचि उत्पन्न करनेवाले उन नव ब्रह्म पुत्रों के दैन्य से नम्र राजा परम प्रसन्न हो पूछने लगा ।।२७।।

सुबोधिनी—प्रश्नमाह **तानिति**, प्रष्टव्यः पदार्थस्तेषु वर्तत इति बोधहेतुः, **स्वरुचा रोचमानानिति** रुच्युत्पादककान्तिस्तु ब्रह्मविदो भगवद्धर्मवत्त्वेन, पितुः स्वस्य च मनसा वृता गुरवः सनकादय इति कथं तदुल्लङ्घनेन प्रश्न इत्याशङ्क्य तत्तुल्या एवेत्याह **ब्रह्मपुत्रोपमानिति** तथाप्यनुचिते "नत्विव" न्नित्यनेन समाधास्यते नवेति च, वैकुण्ठस्थिता एवैते चत्वारोपि दुर्लभा लोके कुतो नवेति, बहुकालमनोरथसिद्धिर्भविष्यतीति **परमप्रीत** आसक्त इत्युक्तं, **विनयेन** नम्रता प्रश्ने फलहेतुः, **नृप** इति देशकालादिसर्वचातुर्यं, एवं तस्य प्रश्नपर्यन्तं नारदोक्तिरुक्ता ।।२७।।

व्याख्या - जिन विषयों के प्रश्न करने हैं उनके उत्तर देने में ये समर्थ हैं, अतः मेरे प्रश्नों का उत्तर ये दे सकेंगे, अर्थात् भागवत् धर्म पूरे प्रकार से समझा दगे। इनमें जो रुचि उत्पन्न करने वाली कान्ति है, जिसका कारण यह है कि ब्रह्मविद् होने के साथ इनमें भागवत् धर्म का ज्ञान भी है, जब पिता ने एवं स्वयं ने मन से सनकादिकों को गुरुपन से स्वीकार किया है तो फिर उनका अतिक्रमण कर इनसे प्रश्न कैसे कर रहे हैं ? ऐसी शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि ये नव योगेश्वर भी उन सनकादिकों के समान ही हैं, जिससे श्लोक में इनके लिये 'ब्रह्मपुत्रोपमान्' विशेषण दिया है। यदि कहो, कि तो भी उनका अतिक्रमण कर इनसे पूछना उचित नहीं है, जिसका उत्तर दिया है कि जब ४ सनकादि वैकुण्ठस्थ होने से यहाँ दुर्लभ है तो नवकी प्राप्ति तो असम्भव सी है, अतः जब भगवदिच्छा से ऐसा अवसर मिल गया है तो उसे त्याग देना मूर्खता है। पुरातन काल का यह मनोरथ है, कि हम भागवत धर्म पूछकर उनका ज्ञान प्राप्त करेंगे। वह मनोरथ इनसे अब सिद्ध होगा। इस कारण से कहा है कि 'परमप्रीतः' राजा निमि, बहुत प्रसन्न हुए। प्रश्न करने ही चाहिये ऐसी आसक्ति हो गई है, दैन्य से नम्रता युक्त प्रश्न करने लगा, जिससे प्रश्न निरर्थक नहीं जायंगे, अवश्य फलीभूत होंगे, अर्थात् योगेश्वर उत्तर देकर मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे, 'नृप' पद देकर यह सूचित किया है कि निमि में देशकालादि का सर्व प्रकार का चातुर्य था, इस तरह प्रश्न पर्यन्त नारदोक्ति कही है ।।२७।।

जनक उवाच-**श्लोक—मन्ये भगवतः साक्षात्पार्षदान् वो मधुद्विषः ।**
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ।।२८।।

श्लोकार्थ—जनक कहने लगे कि मैं इस विषय को जानता हूं कि आप मधुसूदन भगवान् के साक्षात् पार्षद हैं एवं भगवान् से ही उत्पन्न हुए सेवक हैं लोगों को पवित्र करने के लिए विचरण कर रहे हैं ।।२८।।

सुबोधिनी—राज्ञः प्रश्नमाह **चतुर्भिः**, अभिनन्दनं द्वयेन द्वयेन च प्रश्नो भगवत्सेवकत्वेन भगवद्धर्मवत्त्वेन च, ज्ञानं तु ब्राह्मणानां सहजत्वान् न स्तूयते, तथैव प्रश्नोपि द्वयेन लब्धपरिपालनालभ्यलाभाभ्यां, तत्र प्रथमं भगवत्सेवकत्वेन तान् **स्तौति मन्य** इति, दर्शनादेव परमहंसा वैष्णवा

इति ज्ञातं, गोत्रादिप्रश्ने न कोपि पुरुषार्थः, आगमनप्रयोजने सन्देहः स्वार्थमागमनं परार्थं वेति, प्रथमो दर्शनादेव निवृत्तः परार्थे च प्राणिनो न स्वतः प्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वप्रवृत्तिश्चेयमतो भगवत्-प्रेरणयास्मदुद्धारर्थे समागतं, तत्र बहिःसेवका राजसवेषधारिणो भवन्ति तैश्चास्वतन्त्रैर्न सर्वं कार्यं सिध्यत्यतः कृत्रिमवैकुण्ठादौ **सनकादय** इवान्येपि तत्सदृशा भगवत्सभायां तिष्ठन्ति पार्षद-सङ्गेपि केचन गच्छन्ति तन्निवत्त्यर्थं **साक्षादिति** मुख्यानित्यर्थः, कस्मिन्नवसरे पार्षदत्वं ? तत्राह **मधुद्विष** इति, मधुकैटभौ हत्वा ब्रह्मणे वेदान् दत्तवान् हयग्रीवरूपेण ततश्च वेदरक्षावसरे सर्वेषां महतामवसरः, अनेन तेषां वचनं न केनापि शास्त्रेण विरुद्धमिति ज्ञापितं, कार्यार्थं भगव-दाज्ञयात्रागमनसम्भावनायामपि परिभ्रमणम-युक्तमित्याशङ्क्याह, **विष्णोर्भूतानीति**, **पालकस्य सेवका यं गच्छन्ति तं स्वसमानं कुर्वन्तीति भूता**-न्यथा वा भगवदुत्पन्नानि, गङ्गावत् सर्वपवित्र-करणार्थे परिभ्रमन्तीत्यर्थः, नात्र सन्देहो गङ्गैव दृष्टान्त इति **हीत्युक्तं**, भगवतैवोत्पाद्य प्रेषिता इत्युक्तं भवति, भगवद्धर्मवत्त्वेन तेषां प्रशंसा ॥२८॥

व्याख्या राजा दो श्लोकों से इनका अभिनन्दन करते हैं, और दो श्लोक से लब्ध परिपालन और अलभ्यलाभ इन दो प्रकार से प्रश्न करते हैं—

इसमें प्रथम ये नौ ही भगवान् के सेवक हैं, अतः इनकी प्रशंसा करते हैं, कि मैं जानता हूँ कि आप भगवत्सेवक भी हैं, जिनका ज्ञान आपके दर्शन मात्र से हो गया है। साधारण भगवत्सेवक भी आप नहीं हो, किन्तु परमहंस वैष्णव हैं, इसलिये आपके गोत्र आदि पूछने में किसी प्रकार पुरुषार्थ नहीं किया जाता है, आपकी स्तुति ज्ञानी होने से नहीं की जाती है, कारण कि ज्ञान तो ब्राह्मणों का सहज धर्म है ही उसकी स्तुति कैसे की जाय ? प्रशंसा तो उस धर्म के कारण की जा सकती है, जो सम्पादन किया जाता है। परमहंस वैष्णव धर्म आपने सम्पादन किया है। जिससे आपकी स्तुति की जाती है, जो उचित ही है, आप क्यों पधारे है ? इसमें यह शङ्का होती है कि आप अपना स्वार्थ सिद्ध करने आये हैं या दूसरों का कल्याण करने आये हैं ? अपने स्वार्थ के लिये पधारे हैं—यह संदेह तो दर्शन मात्र से निवृत हो गया। यदि कहा जाय कि परार्थ के लिये पधारे हैं तो परहित के लिये किसी की भी स्वतः (अपने आप) प्रवृत्ति नहीं होती है, किसी की प्रेरणा से यह प्रवृत्ति हुई है, अतः भगवान् की प्रेरणा से ही हम लोगों के उद्धारार्थ आप पधारे हैं यों मैंने समझा है। बहिरङ्ग सेवक राजस्वेष धारण करते हैं। आप वैसे नहीं अर्थात् बहिरङ्ग सेवक नहीं हैं, अतः राजवेष धारण नहीं कर निर्गुण वेष धारण कर आपने अपना परम हंस वैष्णवत्व प्रदर्शित किया है, जो राजसवेषधारी सेवक हैं वे स्वतन्त्र नहीं हैं, इसलिये उनसे सर्व कार्य सिद्ध नहीं होता है, कृत्रिम वैकुण्ठादि से निवास करने वाले सनकादिक तथा जो अन्य हैं उनमें से कितने पार्षद सङ्ग में जाते हैं, किन्तु आप नहीं जाते हैं। इसलिये कहा है कि 'साक्षात्' अर्थात् आप सब में 'मुख्य' हैं, कारण कि भगवान् के श्री अङ्ग से प्रकट हुए हैं। यह पार्षदत्व किस समय प्राप्त हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जब भगवान् ने हयग्रीवावतार धारण कर मधु कैटभ दैत्यों को मारकर ब्रह्मा को वेद लाकर दिये थे उस समय सब महान् पुरुषों को सिद्धियों के प्राप्त करने का अवसर मिला था। इस कारण से उनका वचन किसी भी शास्त्र से विरुद्ध नहीं है। यों जताया है। कार्य के लिये भगवदाज्ञा से यहाँ आने की सम्भावना होने पर भी परिभ्रमण उचित नहीं है, इस प्रकार की शङ्का निवारणार्थ कहा है कि "विष्णोर्भूतानि" आप विष्णु के अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं, अतः पालक (विष्णु) के सेवक जिसको अपनाते हैं

उनको अपने समान करते हैं, भगवान् के भूत अथवा भगवान् से उत्पन्न गङ्गा के समान सबको पवित्र करने के लिये परिभ्रमण करते हैं। इस विषय में किसी प्रकार सन्देह नहीं हैं। इसमें गङ्गाजी प्रत्यक्ष उदाहरण विद्यमान है। इसलिये 'हि' पद देकर निश्चय कराया है। इसका सारांश यह है कि भगवान् ने ही आपको उत्पन्न कर सर्व हितार्थ यहाँ भेजा है। इनकी प्रशंसा भगवद्धर्मपन से की गई है, न कि, ज्ञान आदि के कारण से ॥२८॥

आभास—गङ्गातोप्याधिक्यार्थमाह दुर्लभ इति,

आभासार्थ—गङ्गाजी से भी इन नौ भगवदीय योगेश्वरों की दुर्लभता एवं अधिकता इस 'दुर्लभो' श्लोक में प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक—**दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।**
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—देहधारियों को मानुषदेह की प्राप्ति दुर्लभ है फिर वह देह क्षण भङ्गुर है, ऐसी क्षण में टूट जाने वाली मानुष देह में भी भगवान् के प्यारे भगवदियों का दर्शन होना तो और भी दुर्लभ है ॥२९॥

सुबोधिनी-'लब्ध्वा सुदुर्लभमिद' मितिन्यायेन "स्वर्गापवर्गयोर्द्वार" मिति "चात्रैव मृग्य" इत्यादिवचनैश्च **मानुषदेहो** नौकावत् साधनं परं सन्तो नाविका इव यदि भवन्ति तदा फलं सिध्यति, न चात्र प्रत्यक्षबाधः शङ्कनीयः, हेतुस्वरूपफलैः प्रत्यक्षं हि स भवति तत्र हेतुरप्रत्यक्ष एव फलं साधनाभावात् स्वरूपेपि, बहवः पथिका इवारण्ये विषमनद्यां प्राप्तनौका न नौकां सुलभां मन्यन्ते भ्रमरेण प्राप्तत्वात्,चतुरशीतिलक्षयोनिष्वेका मनुष्ययोनिरिति युक्त्या बाधो निराकार्यः, देहाभिमानस्य तामसत्वाद् राजस**मानुषदेहो दुर्लभ** इत्यर्थः,**क्षणेन** भङ्गुरमारब्धनाशे न तिष्ठितीति, **मानुषदेह**प्राप्तिः स्वस्य दुर्लभा दुर्लभेपि दुर्लभा भगवत्प्रियप्राप्तिस्तदभावे प्राप्तापि व्यर्थानर्थहेतुश्चेति, लोकप्रसिद्ध्यभावेपि स्वानुभवः प्रमाणमित्याह **मन्य** इति, वैकुण्ठे स्थित्वा सर्वस्वरूपस्वधर्मान् दत्वा सेवकबाहुल्याय प्रेषयित्वा तत्प्रतीक्षया तिष्ठतीति **वैकुण्ठस्य प्रियाः** ॥२९॥

व्याख्या- बहुत[1] दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर' इस न्याय से यह इसलिये दुर्लभ है कि,इस जन्म में ही मनुष्य, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कर सकता है, क्यों कि यह मनुष्य जन्म वहाँ जाने का द्वार है। इसलिये इस जन्म में स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न करने चाहिये। मनुष्य जन्म, इनकी[2] प्राप्ति के लिये वैसा साधन है जैसा नदी से पार जाने के लिये नौका साधन है किन्तु जैसे नाविक होने पर ही नौका पार पहुंचाती है वैसे ही मनुष्य जन्म रूप नौका भी तभी पार पहुंचाती जब गुरु रूप नाविक मिल

१—'लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं' इतिन्यायेन सु. ।

२—स्वर्ग और मोक्ष का

जाता है। अन्यथा फल सिद्धि नहीं होती है अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इस विषय में प्रत्यक्ष बाधा की शङ्का नहीं करनी चाहिये। प्रत्यक्ष हेतु स्वरूप और फलों से ही वह सिद्धि होती है, हेतु अप्रत्यक्ष ही है, फल भी प्रत्यक्ष नहीं हैं क्योंकि साधन का अभाव है। स्वरूप से भी दुर्लभता है कारण मानुषदेह की प्राप्ति दुर्लभ है। प्रवासी घूमते २ विषम नदी में नौका प्राप्त हो जाने पर भी यों नहीं कहते हैं कि नौका सुगम प्राप्त हुई है क्योंकि जानते हैं कि बहुत परिश्रम एवं पर्यटन के बाद नौका प्राप्त हुई इसी तरह यह मानव देह रूप नाव भी चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद प्राप्त हुई है। इस युक्ति से शङ्का निवारण करना चाहिये। देहाभिमानी तामस होने के कारण राजस मानुष देह दुर्लभ हैं, तथा क्षण में नाश हो जाती है प्रारब्ध नष्ट हुआ तो फिर देह रह नहीं सकती है। प्रथम मानव देह की प्राप्ति दुर्लभ है फिर उसमें भगवान् के प्यारे भगवदीयों की प्राप्ति महा दुर्लभ है यदि भगवदीयों का सङ्ग दर्शन न मिले तो मानव देह की प्राप्ति व्यर्थ और अनर्थ का हेतु हो जाती है, यह विषय लोक में प्रसिद्ध नहीं है तो भी मैं अनुभव को प्रमाण रूप समझ कर यों कहता हूं। भगवान् वैकुण्ठ में विराजमान होकर वहाँ अपने ही स्वरूप भगवदीयो को सर्वस्व रूप अपने धर्मों को देकर पृथ्वी पर इसलिये भेजते है कि मेरे बिछुड़े हुए देवी जीवों को भगवदीय बना के उनकी वृद्धि कर यहाँ भेजो, भगवान् उनके आने की वहाँ प्रतीक्षा कर रहे हैं—इसलिए भगवदीय भगवान् के प्यारे हैं-उन नाविको के दर्शन एवं सङ्ग विना मानव देह रूप नौका पार नहीं पहुँचती है ॥२९॥

आभास—न ह्येवं समागमः पुनः सम्भविष्यति येन विलम्बः कर्तव्यः किन्तु शरीरस्योपयोगः कर्तव्य एवेत्याशयेनाहात इति, विधिसहभावाभावे सत्यनन्तत्वमात्यन्तिकत्वं, क्षेमो लब्धस्य परिपालनं, लब्धो हि दुर्लभो देहः सङ्गश्च स येनोपायेन नित्यो भवेत् स वक्तव्य इत्यर्थः, भवत इति द्वितीयं कर्म।

आभासार्थ—इस प्रकार के भगवदीयों के दर्शन फिर नहीं मिलेंगे इसलिये ऐसा अवसर छोड़ देना उचित नहीं। शीघ्र ही इस शरीर का उपयोग कर, मानव जन्म सार्थक कर लेना चाहिये। जो कुछ क्षेमार्थ पूछना है वह पूछते हैं—

श्लोक— **अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोनघाः।**
संसारेस्मिन् क्षणार्धोपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे निष्पाप भगवदीयों! मानव देह और भागवतों का अलभ्य सत्सङ्ग मिला है तब जिससे आत्यन्तिक[1] क्षेम मिले वह आपसे उपाय पूछते है ॥३०॥

---

१ —दुर्लभ देह मिली और दुर्लभ सत्संग भी मिला, देह क्षणभङ्गुर है, सतसंग भी असमय होता है किन्तु वह उपाय पूछता हूं जिससे ये दोनों हम को सदैव प्राप्त हो, इसको आत्यन्तिक क्षेम कहा जाता है।

सुबोधिनी—पदार्थद्वयास्य दुर्लभत्वेपि प्रारम्भकपापसम्भवात् नास्मच्छरीरेण कार्यसिद्धिरतोनघा इतिसम्बोधनं, प्रतिबन्धकाभावाय 'विष्णोर्भूतानी' तिहेतुः, **आत्यन्तिकक्षेमस्योत्कर्षं** वक्तुं कैमुतिकन्यायेनाह **संसारेस्मिन्निति**, स्वव्यतीरिक्तानि क्षुद्राणि फलानि दातुं न बहुकालस्थितिरपेक्ष्यते निधिप्राप्तौ दारिद्र्यमिव ज्ञानदानेन संसारदुःखनिवृत्तिरित्यर्थः, अतः **सदिति** सामान्यपदं, **नरत्वमे**वाधिकारिविशेषणम् ॥३०॥

व्याख्या—दुर्लभ ये दो प्राप्त हुवे हैं तो भी प्रारम्भ, पापों का सम्भव है, जिससे केवल स्वतः हमारे शरीर से कार्य सिद्धि नहीं होगी, इसलिये जब आपका उपदेशामृत प्राप्त होगा तब कार्य सिद्धि होगी। क्योंकि आप अनघ (निष्पाप) हैं, कार्य सिद्धि अर्थात् फल प्राप्ति में कोई प्रतिबन्धक न होगा, कारण कि आप 'विष्णो[1] भूतानि' है। आत्यन्तिक क्षेम का उत्कर्ष कहने के लिये "कैमुतिक-न्याय" से कहते हैं कि, इस संसार में यदि सत्सङ्ग क्षणार्ध भी हो तो प्रतिबन्ध नष्ट होकर फल प्राप्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि सत्सङ्ग एक प्रकार से निधि है। अतः जैसे निधि प्राप्त होने पर दरिद्री की दरिद्रता विना परिश्रम या अन्य उपाय किये स्वतः मिट जाती है, वैसे ही क्षणार्ध भी सत्सङ्ग, स्वतः प्रतिबन्धों को मिटाकर तत्काल फल[2] दे देता है, मनुष्यत्व ही अधिकार का सूचक है ॥३०॥

श्लोक—**धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।**
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

श्लोकार्थ—यदि हम उन धर्मों के श्रवण के योग्य होवें तो भागवत धर्मों को कहिये जिन भागवत धर्मों से प्रसन्न होकर आत्म निवेदियों को, स्वयं अज होते हुए भी, अपनी आत्मा अर्पण करते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—अलभ्यलाभं पृच्छति **धर्मानिति**, **भागवतधर्माः** कदापि न प्राप्ताः, योगस्य क्षेमाभावे ह्यप्रयोजकत्वमत आह **यदि नःश्रुतये क्षममिति**, स्वरूपयोग्यतायां भगवच्छ्रवणतुल्यं चेत् तदा धर्माणां तादर्थ्यया भवति धर्माणां योगत्वाय पूर्वापेक्षयाधिकफलत्वमाह **यैः प्रसन्न** इति, **अनुष्ठितैर्धर्मैर्भगवत्प्रसादो नियतः प्रपत्तिर**धिकारिविशेषणमधि (पूर्वश्लोके नरत्वमेवोक्तं ततोधिकमित्यर्थः),अन्यस्या**नात्मनिवेदिनो भगवानात्मानं न समर्पयति.** प्रसादे कीर्त्यादिदानपुरःसरमात्मदाने च धर्माणां हेतुत्वं, 'वरं' वृणीमहेथापी'ति प्रसादेपि प्रार्थनायाः क्रियमाणत्वात्, **अपि**शब्देन भक्तसङ्गं धर्माणामनन्यहेतुत्वाय, न सम्बन्धेन प्रयच्छतीत्याहा**ज** इति, एवं प्रश्नद्वयं सिद्धम् ॥३१॥

व्याख्या—'योग' अर्थात् अलभ्यलाभार्थ प्रश्न करते हैं—कि भागवत धर्मों को कहिये, भागवत् धर्म कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं अर्थात् सुने नहीं हैं। इस अलभ्यलाभ (भागवत धर्मों) का यदि

१—विष्णु (पालक) से उत्पन्न हुये हैं,
२—ज्ञान दान द्वारा संसार दुःख की निवृति कराता है।

परिपालन न किया जावें तो अलभ्यलाभ प्राप्त करने का कोई प्रयोजन नही रहता है। यदि हम को अलभ्यलाभ (योग) भागवत धर्मों को सुनने के योग्य समझते हैं तो कहिये। श्रोता का स्वरूप श्रवण के योग्य होने से दोनों की समानता होने पर ही धर्मों का आत्यन्तिक क्षेमत्व सिद्ध होता है। धर्मो की योग्यता सिद्धयर्थ पूर्व से भी उनका अधिक फलत्व बताते हैं। भागवत धर्मों से भगवान् प्रसन्न होते है, प्रसन्न हुए तो, भगवत्कृपा (अनुग्रह) होना नियत ही है। भागवत धर्मों के पालन करनेवालों में विशेष अधिकार इसलिये हैं कि वे प्रसन्न होते हैं अर्थात् आत्म निवेदन[1] करते हैं, जिसके करने पर भगवान् अजन्मा होते हुए भी अपनी आत्मा उनको अर्पण कर देते हैं, जो यह आत्म निवेदन नहीं करते हैं भगवान् उनको अपनी आत्मा अर्पण नहीं करते हैं, कारण बिना कार्य नहीं होता है अतः भगवान् के अनुग्रह होने में तथा प्रेमपूर्वक आत्म निवेदन करने में भागवतधर्म भी कारण है।

'वरं वृणीमहे ऽथापि' चतुर्थ स्कन्ध के तीसरे अध्याय में प्रचेताओं ने भगवान् से उनके प्रसन्न हो जाने पर भी वर मांगा है। 'अपि' शब्द से यह बताया है कि भक्त-सङ्ग धर्मों का अनन्य हेतु है। 'अज' पद का स्वारस्य यह है कि भगवान् सम्बन्ध मात्र से दान करते हैं, यों नहीं है, किन्तु स्वभाव ही भगवान् का ऐसा है कि प्रपन्नों[2] को अपने स्वरूप का दान कर देते हैं। इस प्रकार दोनों प्रश्न सिद्ध हुए ।।३१।।

आभास—मध्ये नारदो वसुदेवं सावधानं करोत्येवमिति,

आभासार्थ—'एवं ते' श्लोक से नारदजी वसुदेवजी को ध्यान देकर सुनने के लिये सावधान करते हैं।

नारद उवाच-श्लोक—**एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।**
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—नारदजी वसुदेवजी को कहने लगे कि हे वसुदेव ! इस प्रकार जब निमि ने परम भगवदीय नव योगेश्वरों से पूछा, तब वे सदस्य तथा ऋत्विजों सहित राजा का अभिनन्दन कर प्रेम से कहने लगे ।।३२।।

सुबोधिनी—महत्तमा इति तस्याधिकारमपि सम्पाद्य धर्मान् वक्ष्याम इत्युक्तं भवति, हितं वदति कारयति योग्यं कृत्वा च कारयततीति तथा, **प्रतिपूजनं** बहिरेव, **ससदस्यर्त्विगि**तिवचनात् मुख्यमेकं गौणद्वयं च वक्तव्यमिति सूचितम् ।।३२।।

[1] —ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा लेते हैं। [2] —शरणागतों।

व्याख्या—राजा को अधिकारी बनाकर अनन्तर कहेंगे इस आशा से नारदजी ने योगेश्वरों को 'महत्तमाः'[1] विशेषण दिया है जो परम भगवदीय हैं उनमें यह शक्ति है कि अनधिकारी को भी अपने प्रमेय बल से वा संसर्ग मात्र से अधिकारी बना सकते हैं—

ये योगेश्वर 'महत्तम' होने से प्रथम वसुदेवजी को अभिनन्दन द्वारा योग्य बनाते हैं, बाद में श्लोक में "पूज्य के पूर्व 'प्रति" उपसर्ग देने का भावार्थ है कि ग्रंथ में जो पूजन आदि नहीं कहा है वह भी समझना चाहिये, कि पूजन हुवा है, राजा अकेला ही नहीं है उसके साथ ऋत्विज और अन्य सदस्य भी हैः अतः यहाँ सदस्य और ऋत्विजों का यजमान (राजा) के साथ योग होने से इस प्रकार का आशय प्रकट किया गया है कि एक फल[2] है और दो साधन[3] हैं ॥३२॥

कविरुवाच-श्लोक—**मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।**
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

श्लोकार्थ—कवि योगेश्वर ने कहा कि इस संसार में नाशवान् देह पुत्रादि में आत्मभाव होने से, जिस पुरुष की सदैव आध्यात्मिक आदि तीन तापों के कारण उद्विग्न बुद्धि रहती है, इससे मरण आदि का भय बना रहता है उसको इस भय से एवं अन्य किसी प्रकार के भी भय से छूटने के लिये अच्युत भगवान् के चरणारविन्द की नित्य (सदैव) सेवा करना ही उपाय है ॥३३॥

सुबोधिनी—तत्र मानुषदेहसत्सङ्गयोः प्राप्तौ मोक्षावश्यम्भाव इति तदुपायप्रश्नो भगवद्धर्मप्रश्नश्चेतिप्रश्नद्वयं, तत्र समुदाये पृष्टस्य मुख्यपर्यवसानादतिनिपुणः **कविराह** सर्वत्रकुशलस्तत्र प्रथमस्योत्तरमाह, **भक्तिमार्गेण गोविन्दभजनमित्युक्तं** भवति, अन्यस्य स्वपरनिर्वाहकत्वाभावात्, **उद्विग्नबुद्धेरि**तिवचनाद् वैराग्यरागाभावावुक्तौ "न चेद् यतेरन् न पुनर्मृताये" तिवचनाज् जन्मफलं पुत्रजन्ममरणाभावायेति, तत् सर्वथा भयं, तत्र कर्ममार्गे प्रवाहस्य बाधकत्वं ज्ञानमार्गे त्वनधिकारो विषयिणोप्यापातत एवानुद्वेगः, ज्ञानोत्तरं तु सर्वथा तद् वैराग्यसाध्यं तत् सहसा न निर्वहत्यतः **सुगमोपायप्रेप्सोः केनाप्यंशेन च्युतिरहितस्य चरणसेवैवोपाय** इति, **एतदभावे मानुषदेहसत्सङ्गयोर्वैफल्यं**, नन्वेतस्यैव कथं निर्वाह इत्यत आह **मन्य** इति ममैवं विचार इत्यर्थः, **जगन्नाथादिस्थानेषु क्वचिद् गत्वा मरणपर्यन्तं भगवत्सेवायां न किञ्चिद् बाधकमित्यर्थः**, गृहस्था देवा रोगाश्च

१—महात्तमा "संस्कृत भाषा में किसी पद के साथ 'तर' और 'तम' प्रत्यय आता है तो वह उसकी एक दूसरे से विशेषता बताता है। जैसे 'महान्' पद का अर्थ है महापुरुष, महापुरुष हित करता है महान् के पीछे 'तर' आकर 'महत्तर' जब बनता है तब वह विशेष महापुरुष समझा जाता है, क्योंकि वह केवल हित कहता ही नहीं है किन्तु हित कराता है और जो 'महत्तम' अधिकाधिक महापुरुष हैं वह अनधिकारी को भी अधिकारी बनाकर हित सिद्ध करा देता है।"

२—फल-मोक्ष । ३—दो साधन मानव देह और सत्सङ्ग ।

न तत्र बाधका भविष्यन्तीत्य**कुतश्चिद्भयं**, तत्र हेतु**रच्युतस्ये**ति, ये हि स्वस्थानाच्च्युतास्ते बाध्यबाधकतां प्राप्नुवन्ति भगवांस्तु न स्थानाच्च्युतस्तत्**सम्बन्धादच्युता इव भवन्ती**त्यर्थः, **पादाम्बु**जमित्यवतारादि, असमासादेव गम्यते, समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरण**मुपासना**, **अत्र** मानुषदेहे, एतदेव **नित्यं** परं गमनार्थं साधन**मुद्वेगः** प्रवाहव्यावृत्त्यर्थं **बुद्धि**रिति वृक्षधर्मत्वान् नाशकत्वादस्य देहस्य तत्रात्मबुद्धिरज्ञानात् कृतेति, **विश्वात्मने**ति फलं, "मृत्युरस्मादपैती" ति**न्यायात्**, **यत्रो**पासनायामुत्पत्तिमारभ्य तद्ग्रसनार्थं सङ्गे स्थितस्तदा **निवर्तते** सर्वांशेन नैवमन्यस्मिन्नुपाये मृत्यु**निवर्त**त इत्यर्थः, ,'भयनामाभ्यपद्यते'' तिवचनात्, अकिञ्चित्करत्वाय स्त्रीपदप्रयोगः ॥३३॥

व्याख्या—मानव देह तथा सत्सङ्ग की प्राप्ति होने पर 'मुक्ति' अवश्य होगी, इसलिये उसका क्या उपाय है ? यह प्रश्न और दूसरा भगवद्धर्मों का प्रश्न करना उचित है, जब बहुत वक्ता एक साथ हों, उस समुदाय से प्रश्न किया जाता है, तब प्रश्न के उत्तर देने का भार मुख्य के ऊपर पड़ता है, अतः इन नवों में मुख्य बहुत निपुण एवं सर्व विषय में कुशल 'कवि' नाम वाले योगेश्वर थे। वे प्रथम प्रश्न (क्या उपाय है ?) का उत्तर देने लगे।

भक्ति मार्गानुसार गोविन्द भगवान् की उपासना ही उपाय है। जिससे मनुष्य सर्व प्रकार से निर्भय हो जाता है। ज्ञान और कर्म ये दोनों अपने प्रतिबन्धकों को मिटा नहीं सकते हैं और साधक को जिस फल की इच्छा है वह भी नहीं दे सकते हैं। क्योंकि उद्विग्नबुद्धि के कारण ज्ञान के लिये जिस वैराग्य की आवश्यकता है वह वैराग्य नहीं है तथा कर्म मार्ग के लिए जिस राग की आवश्यकता है वह राग भी नहीं है। अतः ये दोनों निर्भय नहीं कर सकते हैं। यदि यों न होवे तो मृत्यु से भय न रहे, भय तो है; तब उससे बचने के उपाय करते रहते हैं, फिर जन्म मरण न हो अर्थात् आवागमन मिट जावे यही मानव जन्म का फल है, वह न होने से सर्वथा भय बना रहता है, कर्म मार्ग में प्रवाह का बाधकपन है, ज्ञान मार्ग में विषयी (वैराग्य रहित) का अधिकार नहीं है, अतः चारों तरफ से उद्वेग नष्ट नहीं होता है-जिस कारण से ज्ञान एवं कर्म भय को नहीं मिटा सकते हैं। इसलिये जिनकी इच्छा है कि सुगम उपाय से सवथा भय मिट जावे, उनके लिये अच्युत भगवान् के चरणों की सेवा ही उपाय है। यदि सेवा नहीं की गई तो मानव देह की प्राप्ति और सत्सङ्ग का मिलना, दोनों वृथा गये। सेवा ही उपाय है यों कैसे ? इस पर कवि कहते हैं कि, 'मन्ये' मैं यों मानता हूँ, मेरा यह विचार है जगन्नाथादि स्थानों पर जाकर वहाँ मरण पर्यन्त रहकर भगवत्सेवा प्रेम पूर्वक करने वाले को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है, वहाँ गृहस्थ, देव और रोग कोई बाधक नहीं होंगे। इसलिये उसको कहीं से भी भय नहीं होता है, जिसका कारण है, कि च्युति से रहित प्रभु की सेवा करने वाले भी च्युति रहित हो जाते हैं। 'पादाम्बुज' पद से अवतार आदि समझने चाहिये, यह भाव इससे जाना जाता है कि श्लोक में अच्युत और पादाम्बुज पदों का समास नहीं किया है। 'उपासना' पद का स्वारस्य (भाव) है कि प्रभु की सन्निधि में रहकर जैसी योग्य हो वैसो पूजादि करना उपासना है, इस मानव देह में यों समीप रह नित्य सेवादि करना ही सहज

उपाय है। यह देह वृक्ष धर्म रूप होने से नाशशाली है ही, जिसमें आत्म बुद्धि अज्ञान से हुई है। भगवत्सान्निध्य एवं सेवा से वह अज्ञान मिटकर विश्व ही आत्म रूप है ऐसी बुद्धि होकर फल प्राप्ति होती है। 'मृत्युरसमादपैति' इस वाक्यानुसार सर्वांशेन मृत्यु टल जाती है। यह सब प्रारम्भ से अन्त तक भगवान् एवं भगवदियों के सङ्ग में रहने से ही होता है, अन्य किसी उपाय से यों नहीं होता है ।।३३।।

श्लोक—**ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।**
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ।।३४।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने मूर्ख मानव भी शीघ्र आत्मस्वरूप को प्राप्त कर सके इसके लिये जो उपाय कहे हैं उनको भागवत् धर्म जान लो ।।३४।।

सुबोधिनी—द्वितीयस्योत्तरमाह **य** इति, द्विविधा हि भगवद्धर्मा **गीतायामुक्ता** "यत्करोषी" त्यादिश्लोकद्वयेनैके "मन्मना भवे" त्यपरे, उभयेषामप्यात्म**लब्धिः** फलं परम्परया साक्षाद्वा, अन्यैरप्युक्ता "**आत्मलब्धयेश्रृण्व**" न्तीत्यादिना, भगवतापि प्रयोजनान्तरार्थे "सर्वधर्मान् परित्यज्ये" त्युक्तमस्ति, तत्र ये धर्मा **वै** निश्चयेन साक्षाद्-भगवत्फला एव भगवद्विषया एव कायवाङ्मनो-भिर्व्यस्तैः समस्तैर्भगवतैव च **प्रोक्ता** "मन्मना भवे" ति ते **भागवताः**, सर्वत्र भगवत्सम्बन्धाद् **ह्रीत्युक्तं**, **आत्मा** भगवान्, "अञ्जः **पुंसामविदुषा**" मिति कर्मभक्तिज्ञानानां सहकारित्वं निषिद्धं, पुरुषो हि स्वतन्त्रः, प्रत्येकं ते भगवत्प्राप्त्युपा**याः**, अत्रापि सर्वप्रसिद्धिरिति **हीत्युक्तं**, विजातीयसहिताः प्रत्येकं त **उपाया** मार्गाः, "मनसैवानुद्रष्टव्य" मितिज्ञानमार्गः, द्वितीयतृतीयौ स्पष्टौ, 'नम इति सदुपशिक्षा' कर्तव्यनिर्धारत्वेन भगवति साधारणं सर्वेषां, त एव प्रधानभूता मिलिता भगवद्धर्मा इति**विशेषः**, स्वतन्त्रफलरूपत्वं तेषां वक्तुं वाक्याद्यन्तयोर्निर्देशप्रतिनिर्देशौ, **विद्धीति** नात्र सन्देहः कर्तव्यः ।।३४।।

व्याख्या—दूसरे प्रश्न का उत्तर कहते हैं—भगवान् ने गीता में दो प्रकार के भगवद्धर्म कहे है एक 'यत्करोषि[1]' इत्यादि दो श्लोकों से और दूसरा 'मन्मना भवे[2]' श्लोको में कहा हैं। इन दोनों धर्मों द्वारा मनुष्य को परम्परा[3] से तथा साक्षात्[4] भगवत्प्राप्ति रूप फल मिलता है। 'आत्म-लब्धश्रृण्वन्ति' इन वचनों से दूसरों ने भी भागवतधर्म कहे हैं। भगवान् ने गीता में सकल मार्गों से शरणमार्ग की सरलता बताने के लिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'[5] का उपदेश दिया है।

१—जो खाना पीना आदि कर्म करता है वह मुझे अर्पण कर यदि करेगा तो कर्म बन्धन से छूट मुझे पाएगा।
२—मेरे में मन लगा, मेरा भक्त बन, मुझे ही पूज मुझे ही प्रणाम कर इत्यादि करने से मुझे पाएगा।
३—सत्वगुण वृद्धि होकर।
४—शीघ्र गुणवृद्धि बिना।
५—सर्वधर्म का त्याग कर केवल मेरी ही शरण ले।

इसलिये भगवान् ने काया, वाणी और मन से इकट्ठे वा पृथक् साक्षात् भगवत्फल देने वाले वा भागवतसम्बन्धी जो धर्म कहे हैं वे भागवतधर्म हैं। 'हि' पद से यह सूचित किया है कि इन धर्मों में सर्वत्र निश्चय से भगवान का सम्बन्ध है। 'आत्मा' पद का अर्थ यहाँ 'भगवान्' है। 'अञ्जः पुंसामविदुषां' पङ्क्ति कहकर कर्म-भक्ति और ज्ञान मार्ग के सहकार का निषेध किया है और यह सूचित किया है, कि ये भागवत धर्म विद्वान् अथवा अनपढ़ दोनों को शीघ्र भगवत्प्राप्ति कराता हैं। प्रपत्तिवाला पुरुष स्वतन्त्र है किसी अन्य साधन का किङ्कर नहीं बनता है। भागवत धर्म मात्र भगवत्प्राप्ति के उपाय हैं इस विषय की सर्वत्र प्रसिद्धि है। इसकी सूचनार्थ दूसरा 'हि' पद दिया है।

सर्व प्रकार के प्रत्येक भागवत धर्म ही फलतः मुख्य भगवत्प्राप्ति के उपाय हैं, शेष वर्णाश्रम धर्म तथा 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' आदि में कहा हुआ ज्ञानमार्ग वा कर्म भक्ति भी भागवतधर्म के साहचर्य से उपाय बन जाते हैं, इस में संशय नहीं है ।।३४।।

आभास—सर्वमार्गापेक्षयोत्कर्षं वक्तुं प्रवाहमर्यादयोर्बाधकत्वाभावमाह,

आभासार्थ—ये भागवतधर्म सब से उत्कृष्ट हैं, अतः प्रवाह और मर्यादा मार्ग इन में बाधक नहीं हो सकते हैं-जिसका वर्णन 'यानास्थाय' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।**
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन् न पतेदिह ।।३५।।

श्लोकार्थ—हे राजन्! जिस जीव ने इन भागवत धर्मों से पूर्ण दृढ़ आस्था की है, वह कभी भी प्रवाह वा मर्यादा के कारण भूल नहीं करता है। जिससे वह इस भगवदीय मार्ग पर आँखें बन्द कर दौड़ता हुआ जाता है तो भी उसका स्खलन वा पतन नहीं होता है। अर्थात् भगवत्प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। वह शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर लेता है ।।३५।।

सुबोधिनी—तेषामास्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वं, **लोके हि बहवः प्रमादाः सम्भवन्ति** कालविशेषेण च, **राज्ञां** चायमनुभवो मनुष्याधिकारकश्च दण्ड इति, **प्रवाहे** बाधाभावमुक्त्वा **मर्यादायामप्याह धावन्निति**, शीघ्रमुद्देश्यदेशगमनं **धावनं** मध्ये मध्ये क्रियोल्लङ्घनं वा, शास्त्रगुरू श्रुतिस्मृती वा **नेत्रे, स्खलनं** गतिकरणस्य विघातः, **प** नमवयविनः, **इहेति** धर्मेषु समवालुकाभूमिवत्, **त्वरायां साधनपरित्यागे शास्त्र-गुरूल्लङ्घने कलविलम्बः फलाभावो वा न भवतीत्यर्थः** ।।३५।।

व्याख्या—जब जीव को भागवत धर्मों में पूर्ण स्थिति हो जाती है, अर्थात् काया, वाणी और मन से भगवान् का बन जाता है, तब लोक में जो जो काल विशेष से भी प्रमाद होते हैं, जिनका राजाओं को तो अनुभव है ही, और मनुष्य का अधिकार दण्ड ही है। ये प्रतिबन्ध उस भगवदीय को बाधक नहीं बनते हैं, इस प्रकार प्रवाह मार्ग में बाधा का अभाव कह कर, अब मर्यादा मार्ग में

भी बाधा का अभाव दिखाते हैं, जब वह भागवत भगवदीय स्वधर्म में मस्त बन शीघ्रातिशीघ्र भगवान् को प्राप्ति के लिये दौड़ता हुआ जाता है तब वह जाते हुए क्रिया का भी यदि उलङ्घन कर जाता है तो भी उसका स्खलन व पतन नहीं होता है। जिस से भगवत्प्राप्ति में रुकावट नहीं आती है। उस प्रेमावेश में जब आँखें मूँद जाने से शास्त्र, गुरु आदि की आज्ञा को भी नहीं देखता है उसका भी उल्लङ्घन कर चला ही जाता है तब भी वह भगवत्प्राप्ति कर ही लेता है। मध्य में उसका स्खलन (रुकावट) व पतन (भगवत्प्राप्ति न होना) नहीं होता हैं, और न उसके शरीर को किसी प्रकार की चोट आती है, मानो वह बालु का जैसे कोमल पथ पर चल रहा है–इत्यादि कारणों से भगवत् धर्म सर्व धर्मों से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) हैं ॥३५॥

आभास—एवं श्लोकद्वयेन मुख्या भागवता धर्मा उक्ताः प्रथमानाह (कृपायुक्ताधिकारिणा पूर्वं कर्त्तव्यानित्यर्थः) श्लोकत्रयेण कायेनेत्यादिना,

आभासार्थ—ऊपर के दो श्लोकों में मुख्य भागवत धर्म कहे। अब तीन श्लोकों से भगवदीयों को जो कुछ पहले करना चाहिये उसको कहते हैं।

श्लोक—**कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।**
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—जीव काया, वाणी, मन और इन्द्रियों से जो जो स्वभावानुसार लौकिक वैदिक कर्म करता है उन सब को नारायण भगवान् को ही अर्पण करना चाहिये ॥३६॥

सुबोधिनी–'यत् करोषी' त्यत्र लौकिके कर्तृत्व-भोक्तृत्वे होमदाने पूर्वकाण्डेकर्तव्ये तपश्चोत्तर काण्डस्थमिति लोकवेदयोः **समर्पण**मुक्तं, ततश्च केवलस्य समर्पणस्य सुखं दुःखाभावः फलं चोक्तं, त्यागयोगसहितस्य मोक्षद्वारा स्वप्राप्तिः "सन्न्यासयोगयुक्तात्मे"ति तथा चात्मनिवेदिनो विशेषेण वदति "प्रपन्नमि"ति प्रश्ने वचनात्, आत्मनिवेदन **यद्येवं तर्हि निरर्थक उपदेश** इत्यत आहुरात्मेत्यादि तथा च तदर्थमयमुपदेश इति न वैयर्थ्यमित्यर्थः एव सर्वस्य समर्पणेपि पूर्वस्व-**भावा**नुवृत्त्यां भगवन्तमात्मनिवेदनं च विस्मृत्य लौकिककर्तृत्वेन करोति तस्यैव **समर्पण**मिति-**विशेषः**, सन्न्यासशब्दोक्तः स भगवद्भजनार्थ इति सन्न्यासस्थाने भक्तिरुक्ता, कार्यसमर्पणं भक्तियोग-श्चेति श्लोकत्रयेण निरूप्यते, आद्यमाह, **ज्ञान**-प्राधान्येन क्रियाप्राधान्येन वा कारणं तत्र **काय-वाङ्मनो**भिरिन्द्रियैश्चेतिक्रिया, **बुद्धि**स्वरूपेणेति ज्ञानं, "ज्ञात्वाज्ञात्वा वा" कारणं **यद्यदि**तिकरणे पृथक्त्वं ससमर्पणे ह्येकत्वं, विहितनिषिद्धानां लौकिकालौकिकानां च कृतानि तुभ्यं समर्पयामीति न किन्तु तुभ्यमेव कृतानीति, स्व**भावात्** भिन्नतया कृतमपीत्येवं **समर्पये**त् (एवं सति स्वाभाविकम-समर्पितं सद् दोषावहं भविष्यतीति तस्यापि भगवदर्थत्वं यथा भवति तथा कृत्यर्थं प्रभुचरणैः स्वतन्त्रव्याख्या नमस्य कृतमिति न विरोधगन्ध इति बोध्यम् ।) ॥३६॥

व्याख्या—गीता के 'यत्करोषि' श्लोक में लौकिक कर्ता एवं भोक्तापन आदि कर्म तथा वेद के पूर्व काण्ड में कहे हुए होम दान आदि एवं उत्तर काण्ड में कहे हुए तप आदि कर्त्तव्य ये सब लौकिक वैदिक कर्म परमात्मा को अर्पण करने चाहिये, इस प्रकार केवल समर्पण करने से सुख की प्राप्ति तथा दु:ख का अभाव फल मिलता हैं ।

'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' इस उक्ति अनुसार त्याग एवं योग सहित अर्पण कर जिसने भगवान् में अपनी आत्मा को जोड़ दिया है, उसको मोक्ष द्वारा भगवत्प्राप्ति रूप फल मिलता है ।

दूसर प्रकार का जीव, जो 'प्रपन्न' (शरणागत) होकर आत्म निवेदन करता है उसको भगवान् अपनी आत्मा भी अर्पण करते हैं, दोनों में इतनी तारतम्यता (भेद) है, अत: प्रपन्न बन आत्म निवेदन करना विशेष है । प्रपत्ति (शरणागति) पूर्वक आत्म निवेदन करने वाला काया, वाणी, मन इन्द्रिय बुद्धि एवं स्वभाव में अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर देता है । फिर भी यदि स्वभाव प्रबल होने से वह जीव भगवान् तथा कृत समर्पण को भूल जाता है और लौकिक प्रकार से कर्म करने लगता है तो भी उस को वह कर्म भगवदर्पण करना चाहिये । जिस के करने से फिर किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती हैं । यह ही इसके लिए (प्रपन्न के लिये) विशेषता है । यह समर्पण त्याग रूप है । अत: सन्यास के स्थान पर भक्ति कहीं है । १-कर्त्तव्य का भगवान् को समर्पण करना ३६ वें श्लोक में, २-भक्ति ३७ वें श्लोक में और ३-योग तीन श्लोकों से ३८ वें श्लोक में निरूपण किये हैं, जिनमें पहले कहते हैं कि जो कर्म, ज्ञान की प्राधान्यता से अथवा क्रिया की प्राधान्यता से किया जाता है, वे दोनों ही भगवान् को अर्पण करने चाहिये । क्रिया की प्रधानता वाले वे कर्म है जो काया, वाणी, मन और इन्द्रियों से किये जाते हैं । ज्ञान प्रधान कर्म वे हैं जो बुद्धि पूर्वक ऐक्य भाव से किये जाते हैं । तीसरे कर्म करण है, अर्थात् जानकर वा न जानकर सारांश यह है कि करण (साधन) में पृथकता है । किन्तु समर्पण में एकत्व है । शास्त्र विहित कर्म वा शास्त्रनिषिद्ध कर्म और लौकिक अथवा अलौकिक कर्म आदि जो कुछ किये हैं वे आपको समर्पण करता हूं । इतना ही नहीं किन्तु ये सब मैंने आपके लिये ही किये हैं । यद्यपि स्वभाव से भिन्न रूप से किये हैं तो भी आपके लिये ही करने से ये सब कार्य भगवत्सम्बन्धी हो जाते हैं ॥३६॥

श्लोक—भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

श्लोकार्थ—१-प्रभु से विमुख होना, २-भोगासक्ति और द्वैतभाव होने से ३-भय । ये तीन दोष माया के कारण ही जीव में उत्पन्न होते हैं, जिनसे अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने को देह रूप समझना और जगत् को ब्रह्म अतिरिक्त अन्य समझना एवं सबमें अपना स्वामित्व स्थापन करना इत्यादि अहन्ताममतात्मक संसार मग्न हो जाना, ये सब कार्य माया से हो होते हैं । उस माया से पार जाने के लिये बुद्धिमान् को एकात्मक भक्ति से भगवान् का भजन (सेवा) करना चाहिये, भजनोपदिष्ट गुरु को ईश्वर रूप जानना चाहिये ॥३७॥

सुबोधिनी—द्वितीयमाह, "मामेव ये प्रपद्यन्त" इतिवचना 'देवकारेण सर्वेषा' मन्येषा 'मनुपायत्व-माह, मायामोहेनास्मृतिः, अतो देहोहमस्मीति-**विपर्ययः**, सर्वस्य हेतुर्मूलभूत **ईशादपेतत्त्वं**, तदपि सृष्टिर्मायया पुनर्**मायया** भोगा**भिनिवेशेन भयं**, एवं दोषत्रयजनकमायानिराकरणायासमन्तात् तमेव **भजेद्** "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती" तिवचनात्, **ईशो** ह्यनन्यतयैव सन्तुष्यति, नन्वनन्यता न सम्भवति स्नेहस्य त्रिनिष्ठत्वादत आह **गुरुदेवते आत्मा** यस्येति, परमप्रेमार्थं चैतदुक्तं, भवतेश्चिन्तामणि-वद् बहुसाधकत्वान् न काचिच् चिन्ता ।।३७।।

व्याख्या—भागवतधर्म में भगवदीयों का दूसरा कर्त्तव्य क्या है ? जिसका वर्णन करते हैं- जिस माया ने जीव को भ्रमित किया है उस माया से छूटने के लिये भगवान् के शरण जाने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है । यों स्वयं भगवान ने गीता में 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' श्लोक में कहा है । 'एव' पद से अन्य उपाय ही नहीं, यह स्पष्टता भी करदी है । स्वरूप व भगवद्विस्मृति माया द्वारा उत्पन्न मोह से हुई है । इससे 'मैं देह हूं' ऐसी विपरीत बुद्धि हो गई है । इस सब का मूल कारण प्रभु से बिछुड़ना ही है, वह भी माया से हुआ है फिर माया से भोगों में आसक्ति हुई जिससे भय उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार उत्पन्न भयों से भी तो छूटने के लिये पूर्णरीति से उस परमात्मा की शरण लेकर उसका ही भजन करें; जिसकी माया ने जीव को यों भटकाया है । भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं । जीव अनन्यता से ही उस परमात्मा को प्रसन्न कर सकता है । अनन्यता हो नहीं सकती है, क्योंकि स्नेह तीन पदार्थों में रहता है इस कारण से कहते हैं कि 'गुरुदेवतात्मा' उपदेष्ठा गुरु ही मेरा आराध्यदेव है, तथा आत्म स्वरूप है । इस प्रकार गुरु भगवान् एवं आत्मा में एकीभाव करने से अनन्यता सिद्ध हो जाती हैं अथवा गुरु, देवता और आत्मा तीनों वही भगवद्मय हैं । इस प्रकार तीनों में एकीभाव करने से स्नेह एकत्र हो जाता हैं, और अनन्यता सिद्ध हो जाती है । जिससे माया मिटकर, फल प्राप्ति होती है । 'भक्ति' चिन्तामणि रूप होने से सर्व प्रकार से कार्य (फल) सिद्ध करने वाली है, अतः किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।।३७।।

श्लोक—**अविद्यमानोप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।**
तत् कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ।।३८।।

श्लोकार्थ—माया के कारण देह गृह आदि ये जो आत्मभाव (अपनापन) हो रहा है जिससे अहन्ता ममता की उत्पत्ति होने से संसारासक्ति होती है, वह संसारासक्ति संसार विद्यमान न होने से मृषा (झूठा) है तो भी सत्य समझा जाता है, सो क्यों ? जिस शङ्का का निवारण 'ध्यातुर्धिया स्वप्न मनोरथौ यथा' पङ्क्ति से किया है कि जैसे ध्यान कर्त्ता की बुद्धि से अविद्यमान स्वप्न और मनोरथों के पदार्थ भी सत्य दीखते हैं वैसे ये भी सत्य दिखते हें यह कर्म सङ्कल्प विकल्पात्मक मन का है अर्थात् मन ही अविद्यमान को सत्यवत् दिखलाता है अतः उस मन का निरोध करना चाहिये मनके निरोध से ही अभय प्राप्ति होती है यही 'योग' है ।।३८।।

सुबोधिनी—तृतीयमाह, 'सर्वानर्थमूलं मन' इतियोगशास्त्रं तत्र हि द्वैतप्रपञ्चो मिथ्याभूत एव सवासनमनसा जन्यते, **यथा** योगजधर्मसहिते मनसि सिद्धयः स्फुरन्ति वासनासहिते द्वयः **स्वप्नमनोरथा**वपि तन्मते वासनया भवतः, न च तावन्मात्रं मनसः किन्तु **सङ्कल्पयति कर्म विकल्प**यति च कर्मणः स्वरूपभेदान् जनयति, आपाततः सुखजनकत्वेपि दोषद्वयं ज्ञात्वा **मनो निरुन्ध्या**देव, एवं त्रयाणां समुदाये**भयं स्यात्** ततो भगवत्प्राप्तिः स्यादित्यर्थः, "विमुक्तो मामुपैष्यसी" तिवचनात्, अयमन्यः प्रथमपक्षस्यैव 'मन्य' इत्यस्य विकल्परूप इति केचित् साधारण इत्यन्ये ॥३८॥

व्याख्या—(जब कि भेद दीख रहा है तब अभेददृष्टि से भजन कैसे होगा ? इस शङ्का के निवारणार्थ ही 'योग' शास्त्र कहा है) 'सर्वानर्थमूलं मनः' योग शास्त्र कहता है कि सब अनर्थो का मूल मन है, अतः इस (मन) का निरोध करना चाहिये उस (मन) द्वारा झूठा भी द्वैत प्रपञ्च (अहन्ता–ममतात्मक संसार) सत्य दीखता है, मन में रही हुई वासना ही उसको उत्पन्न करती है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। कि जैसे योग से उत्पन्न धर्मों वाले मन में सिद्धियाँ फलीभूत होती हैं, वैसे ही वासनावाले मन में द्वैत प्रपञ्च फलित होता है, जिससे अविद्यमान पदार्थों को भी स्वप्न एवं मनोरथों द्वारा सत्य समझता है न केवल मन का इतना ही कार्य है, किन्तु कर्मों के अनेक सङ्कल्प विकल्प करता है तथा कर्म के अनेक स्वरूप भेद बनाता है, वे कर्म सब तरह सुखजनक होते हुए भी दो दोषवाले होते हैं, अविद्यमानता के कारण सत्य सुखदाता नहीं, अतः दो दोष जानकर मन का निग्रह करना चाहिये, अन्यथा (नहीं तो) इन तीनों के मिल जाने से भय उत्पन्न होगा, इसलिये जब इन से विमुक्ति प्राप्त की जाएगी, तब भगवत्प्राप्ति होगी जैसा कि कहा है 'विमुक्तो मामुपैष्यसि' यहाँ कहा हुआ 'योग' मैं मानता हूँ। कवि योगेश्वरोपदिष्ट प्रथम पक्ष का यह विकल्प है, यों किन्हीं आचार्यों का मत है तथा अन्यों का मत है कि यह साधारण उपाय है ॥३८॥

आभास—एवं प्रकारद्वयेन भगवद्धर्मान् निरूप्य मार्गत्रयानुकल्परूपं स्वतन्त्रपक्षमाह शृण्वन्नित्यादि,

आभासार्थ—दो प्रकार से भागवत धर्मों का निरूपण कर, ज्ञान, कर्म एवं वैराग्य न बन सके तो उनके बदले में सरल रीति से जो बन सके वह भगवन्नाम कीर्तन का पक्ष हैं।

श्लोक—**शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।**
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३६॥

श्लोकार्थ—सुदर्शन चक्रधारी भगवान् के प्राकट्य तथा कौतुकवाले चरित्रों का श्रवण करते हुए और लोक में जो भगवत्सम्बन्धी गीत (भाषा में भक्तों द्वारा कहे हुए चरित्र) तथा नाम लज्जा त्याग कर गाते हुए असङ्ग ही विचरण करे ॥३६॥

सुबोधिनी—पञ्चभिर्मुख्यपक्षाणामधिकाराभावे कारणासम्भवाज् ज्ञानकर्मणोर्ब्राह्मणमात्रविषयत्वाद् भक्तेरपि बहुसाधनत्वात् **सर्वेषां** शरीरमात्रसाध्योयमुत्तमः पक्ष इति 'नामान्यनन्तस्ये' त्यत्र प्रतिपादितमस्माभिः, तदत्र स्वरूपं तस्य धर्मस्यादावाह, आदौ गृहान्निर्गतश्चित्तपरितोषार्थं रसोत्पादनार्थं च **सुम् भद्राणि** कौतुकप्रधानानि, तथा क्रियमाणे न कुतश्चिद् भयं भवतीति ज्ञापयति **रथाङ्गपाणे**रिति, सर्गादीनां ज्ञानविमिश्रत्व एव **जन्मकर्म**त्वाच् छुद्धावतारस्य सर्वजनीनत्वाद् **यानि लोक** इत्युक्तं, **यानि लोक** इत्युत्तरत्रापि सम्बध्यते, **तदर्थकानी**त्यौत्पत्तिकसम्बन्धाभावादुक्तं, **लज्जा**भावः प्रधानसमाने **सङ्गा**भावश्च अङ्गं, परिभ्रमणदशायां यत्रैव भगवत्कथा तच्छ्रुत्वा निर्लज्जो लौकिक**गीतानि गायन्नसङ्गो विचरे**दित्यर्थः ॥३६॥

व्याख्या—ऊपर कहे हुए मुख्य पक्षों का अधिकार न होने से एवं उन साधनों को करने की शक्ति न होने से, ज्ञान और कर्म करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। भक्ति सिद्ध करने के लिये बहुत साधनों की अपेक्षा (जरूरत) है, अतः सब मनुष्य केवल शरीर से ही कर सके ऐसा यह 'हरि कीर्त्तन ही उत्तम पक्ष है, यों हमने (श्री वल्लभाचार्यजी ने) 'नामान्यनन्तस्य' इस श्लोक की व्याख्या में प्रतिपादन किया है। उस धर्म का यहाँ पहले स्वरूप कहा जाता है।

पहले गृह से निकलते ही चित्त के सन्तोष के लिये और रस उत्पन्न करने के लिये कौतुक उत्पन्न करनेवाले चक्रधारी भगवान् के नाम और चरित्र श्रवण करते हुए गीत गाते हुए जो लज्जा त्याग परिभ्रमण करता है, उसको कहीं से भी भय नहीं होता है, कारण कि, यहाँ भगवान् का नाम इसलिये सुदर्शन चक्रधारी दिया है क्योंकि सुदर्शन अभय दाता है। यह सर्व ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म ही जगत् रूप हुआ है, ऐसी बुद्धि तब उत्पन्न होती है जब श्रौतज्ञान अर्थात् श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान हो जाय। ऐसे अधिकार के अभाव में ही लोक में महानुभावों द्वारा गाये हुए भगवान् के नाम गुण एवं फल चरित्र का श्रवण एवं गान करते हुऐ निर्लज्ज बन असङ्ग हो विचरण करना चाहिये, जहाँ भगवद्गुणानुवाद नाम कीर्त्तन होता हो वहाँ बैठकर सप्रेम श्रवण करना तथा कीर्तनादि करना यह ही सरल सहज उत्तम पक्ष सर्व साधारण जनों के लिये है ॥३६॥

श्लोक—**एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।**
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन् नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भक्त लोक लज्जा का त्याग कर जब इस श्लोक में कहे हुए पांच प्रकार के व्रतों को धारण करता हुआ अपने प्रीतम प्रभु के कीर्त्तन द्वारा भगवान् का अनुरागी होने से कभी उसका चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जिस से कभी वह जोर जोर से हंसने लगता है, कभी भगवद् विरह के कारण रोता है, और वियोग से विशेष व्याकुल होने पर चीखें मारता है तथा डुस्कियाँ खाता है अथवा उन्मत्तवत् (पागल की तरह) भगवद्गुण गान करता है और नाचता है इस प्रकार वह प्रेमी प्रेमावेश में प्रकृति का उल्लङ्घन करता है ॥४०॥

सुबोधिनी—एवमनुकल्पस्य स्वरूपमुक्त्वा तस्य कार्यमाह, अष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घनं भवतीति **लोकबाह्य** इति प्रवाहोल्लङ्घनं फलं, पञ्चानां **व्रत**-त्वेनैकस्याप्यपरित्यागः प्रत्यहं सङ्कल्पा**नुरागचित्त**-द्रवणान्यान्तराणि बहिः पञ्च कार्याणि कुर्वन्ति, अन्यापेक्षया **रोदनं** बहुकालमिति भिन्नः प्रक्रमः, अपस्मारे हास्यमिवो**न्मादे नृत्यं** सर्वथा लोकानुकरणाय ॥४०॥

व्याख्या—इसी तरह अनुकल्प का स्वरूप कह कर अब उस का कार्य कहते हैं-भक्त को आठ धर्मो के पालन से प्रकृति का लङ्घन[1] रूप फल मिलता हैं, आठ धर्मों में सङ्कल्प, अनुराग और चित्त द्रवण ये तीन आन्तर (अन्दर के) धर्म हैं एवं शेष ५, हँसना, रोना, चीसें मारना या डुस्की खाना उन्माद में आकर गाना और नाचना बाह्य (बाहर के) धर्म हैं, इत्यादि मे वह भक्त लोक बाह्य हो जाता है। यह सब वह भक्त प्रेमावेश में आकर करता है, कि दम्भ (कपट) से करता है। इस कारण से ही वह पात्रों को प्रतिदिन व्रत रूप से करता है जिससे एक का भी त्याग कभी नहीं करता है ॥४०॥

श्लोक—**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।**
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

श्लोकार्थ—(उपरोक्त आठ प्रकार के भागवत धर्म पालन करते हुए भक्त, जब प्रकृति का अतिक्रमण कर लोक बाह्य हो जाता हैं अर्थात् लोक की परवाह न कर भगवत्प्रेम में निरत रहता है, और जब उसे ज्ञान एवं भक्ति दोनों ही सिद्ध हो जाते है उस समय भक्त की जो दशा होती है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र तारागण, तेज प्राणीमात्र, दिशाएं, वृक्ष, नदी, समुद्र एवं अन्य जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह समस्त लीलाधर भगवान् का अपने लीलार्थ रचा हुआ शरीर ही है। उससे पृथक नहीं है, यों जानकर भक्त सब को आत्म रूप समझ प्रणाम करे (करता है) ॥४१॥

सुबोधिनी—एवं कमेण लोकपरित्यागे ज्ञान-भक्ती तस्यैकहेलया निरूपयति, महाभूतानि द्यावा-पृथिव्योः स्थिता**दिश**श्चतुर्विधभूतानि नदीः **समुद्राश्च**कारात् पर्वताः, एते हि गोविन्दस्य **शरीरं** ब्रह्माण्डं वा समुदितं **यत् किञ्च भूत**मित्यनुक्त-सङ्ग्रहो हेतुर्वा, भगवतः प्रादुर्भूतं तल्लीलार्थमात्मानं चापृथक्कृत्य **प्रणमेत्** ॥४१॥

व्याख्या—इसी तरह भागवत धर्म के पालन करते हुए जब भक्त लोक का परित्याग कर देता हैं तब उस (भक्त) को भक्ति तथा ज्ञान स्वतः साथ में ही सिद्ध हो जाते हैं जिसका निरूपण करते हैं। महाभूत, पृथ्वी तथा आकाश उनमें स्थित नक्षत्र तारे एवं दिशाएं चार प्रकार के भूत[1] (प्राणी)

१—लोक बाह्य-प्रकृति का उल्लघंन अर्थात् भक्त लोक की निन्दा और यश की परवाह नहीं करता है.

नदियाँ, समुद्र और पर्वत सह समस्त गोविन्द भगवान् का शरीर है, जिसको ब्रह्माण्ड कहते हैं, तथा जो कुछ उत्पन्न कहा हुआ है अथवा जो कुछ नहीं कहा हुआ है वह सर्व प्राणी मात्र भगवल्लीलार्थ प्रभु से प्रकट हुए हैं, यों हृदय में निश्चय कर और सब को अपनी आत्मा से पृथक् न समझ उनको प्रणाम करे सारांश यह है कि ऐसे भक्त को अभेद सिद्ध हो जाता है ॥४१॥

श्लोक—**भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।**
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—प्रेम लक्षणा, पराभक्ति, प्रभु का अनुभव तथा ज्ञान ये तीन ही शरणागत को साथ में प्राप्त होते हैं जैसे स्निग्ध भोजन करनेवाले को प्रत्येक ग्रास से प्रसन्नता, पोषण, क्षुधा की निवृत्ति साथ में होती है ॥४२॥

सुबोधनी—एवं "शृण्वन्नि" त्यादिना मनः पर्यन्तं मार्गत्रयानुकल्प इति भक्तिज्ञानवैराग्याणि फलानि, कर्मणः फलं वैराग्यं, तानि क्रमेण भवितुं नार्हन्त्येकसाधनत्वाद् युगपच्च लोके जायमानं न दृष्टमिति प्रथमं त्रयाणामेकदोत्पत्तिं लोकदृष्टान्तेन साधयति, **भक्तिः परा** प्रेमलक्षणा, **ईशानुभवो** "मामभिजानाति" "यावानि" त्यादि, गोविन्दव्यतिरिक्ते **विरक्तिः**, स्वादिष्ठसघृतान्नभोजने त्रयमेकदा भवति परमकाष्ठां च प्राप्स्यतीत्यनुघासमित्युक्तम् ॥४२॥

व्याख्या—'एवं शृण्वन्' श्लोक में मनः पर्यन्त अनुकल्प से भक्ति, ज्ञान, और वैराग्य फल कहे। कर्म का फल वैराग्य कहा है। एक ही साधन होने से वे क्रम से हो नहीं सकते, साथ में हुए यों लोक में कहीं भी देखने में नहीं आया है, इसलिये प्रथम तीनों की साथ में उत्पत्ति लौकिक दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं। (१) पराभक्ति अर्थात् प्रेम लक्षणा भक्ति (२) 'इशानुभव' प्रभु का अनुभव, ज्यों 'मामभिजानाति' 'यावानि' गीता के श्लोक में कहा हुआ हैं (३) परमात्मा के अतिरिक्त पदार्थ में वैराग्य, ये तीन ही शरण गये भक्त को वैसे साथ में सिद्ध हो जाते हैं जैसे धृत मिश्रित स्निग्ध भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास लेने से प्रसन्नता, पोषण और क्षुधा की निवृति ये तीन साथ में होते हैं ॥४२॥

श्लोक—**इत्यच्युताङ्घ्रि भजतोनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।**
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

श्लोकार्थ—राजन् ! इस प्रकार सतत भावपूर्वक अच्युत भगवान् के चरण कमल का सेवन करनेवाला भक्त, निश्चय से भक्ति, वैराग्य और भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह साक्षात् शांति को पाता है ॥४३॥

१—(१) जरायुज् (२) अंडज (३) स्वेदज और ४) उद्भिज अर्थात् (१ गर्भ २) अंडे (३) पसीने और (४) जल से पैदा होने वाले प्राणी जैसे (१) मनुष्य (२) कबुतर (३) जूएँ (४) मछली

सुबोधिनी—दूषणां परिहृत्य फलमाह, **सर्वकर्मसु मङ्गलाचरणमिवानुवृत्याच्युताङ्घ्रिभजनं जगन्नाथादिस्थानेषु मध्ये मध्ये कर्त्तव्यं**, एवमपि फलोपकार्यङ्गान्तरमाह, एवमपि क्रियमाणः स यदि **भागवतो** भवेत् 'तस्यापत्य' मिति भगवता ह्यात्मार्थमुत्पादिश्चेद् भगवतः स्थानेषु **परमशुद्धसत्त्वरूपां शान्ति** केवलब्रह्मानन्दानुभवस्थानं तद् योगिन एव जानन्ति **साक्षात्** स्वयमेव तत् स्थानं प्रविशतीति फलम् ॥४३॥

व्याख्या—दूषण का परिहार कर फल कहते हैं-जैसे सर्व कर्म में बार बार मङ्गलाचरण किया जाता है वैसे ही जगन्नाथ आदि स्थानों में बीच बीच में यानि बार बार अच्युत भगवान् के चरण कमलों का भजन सेवन करना चाहिये। यह भी फल की उत्पत्ति दशा में फल का उपकार करने वाला दूसरा अङ्ग है, यों करते हुए भी जब वह भगवद्भक्त भगवान् की सन्तान बन जावे भगवान् ने मुझे अपनी सेवा के लिये जन्म दिया है ऐसे भाववाला हो जावे तब भगवान् के स्थानों में निवास कर शुद्ध सत्त्वरूप परम शाँति (केवल ब्रह्मानन्दानुभव रूप शांति) को पाता है। उस शांति के स्थान को योगीजन ही जानते हैं साक्षात् स्वयं ही उस स्थान में प्रवेश करते हैं यह फल है ॥४३॥

राजोवाच श्लोक—**अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।**
यथा चरित यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

श्लोकार्थ—राजा निमि कहने लगा कि अब भगवद्भक्त सम्बन्धी सब कहिये, उनके (भगवद्भक्तों के) जो और जैसे धर्म हो, एवं स्वभाव आचार विचार हो किस प्रकार वह बोलता है, वह ऐसे कौन से चिन्ह (तिलकादि) तथा वस्त्रधारण करता है, जिनसे भगवान् को प्यारा लगता है ॥४४॥

सुबोधिनी—भागवतत्वं ब्राह्मणवत् सर्वोपयोगि, तत्र यथा ब्राह्मणविशेषाः कर्मविशेष उपयुज्यन्त एवमत्राप्यनुकल्पे कीदृश उपयुज्यत इति स्वतन्त्रतया च पृच्छति, धर्मोपयोगार्थमपि भागवतैः सह भगवद्धर्मा उत्तमस्य कर्तव्या इत्यध्यायार्थः फलिष्यत्यतो भागवतं पृच्छति भगवत्सेवकानां मध्ये स्थितो निःसन्दिग्धः, मनुष्याणां मध्ये स्थितस्य लक्षणं वक्तव्यं, **धर्माः** सन्ध्यावन्दनादय इव शमादय इव स्वरूपं, प्रवाहे च कथं स्थितिरित्याह, **यथेति** कायवाङ्मनोव्यापाराः पृष्टाः, **लिङ्गं** वेषस्तेन **रुचेः** परिज्ञानं, अत्र प्रकृतोपयोगिलक्षणकथनपूर्वकमुत्तरं वक्तव्यं तत्र प्रकृते त्रयाणामनुकल्पत्वात् त्रिविधो भक्तो वक्तव्यः, भगवता हि स्वार्थं निर्मितत्वादेकं फलमुखलक्षणं वक्तव्यं, तत्र सर्वे लोका नैकविधा भवन्तीति सर्वत्र त्रैविध्यं वक्तव्यं, तत्र ज्ञानभक्तिकर्मणां त्रैविध्यं सर्वत्र हेतुरेकेन फललक्षणं चैकेनेत्येकादशभिरुत्तरं वक्तव्यम् ॥४४॥

व्याख्या—भगवदीयत्व ब्राह्मण की तरह सर्वोपयोगी है। उसमें जैसे विशेष ब्राह्मण, विशेष-२ कार्यों में नियुक्त किये जाते हैं, वैसे यहाँ भी अनुकल्प में किस प्रकार का भगवदीय लगाया जाता है? यों स्वतंत्रता से पूछता है उत्तम पुरुष को चाहिये कि धर्म के उपयोगार्थ भगवदियों के साथ भगवद्धर्म

का श्रवण कीर्त्तन पालन आदि करे यों अध्याय का अर्थ फलित होगा, इसलिये स्वतन्त्रता से यह विषय पूछता है भगवत्सेवकों के मध्य में स्थित होने से उस भक्त के सर्व संशय नष्ट हो जाते हैं साधारण मनुष्यों के मध्य में जो भक्त रहता हैं इसका भी लक्षण चाहिये जैसे साधारणों के सन्ध्या-वन्दन तथा शम-दमादि धर्म कहे जाते हैं वैसे भगवदीय के भी कहने चाहिये भगवद्भक्त का स्वरूप भी बताना चाहिये, प्रवाह में स्थित होकर वह सांसारिक कर्म कैसे करता है ! 'यथा' पद से काया, वाणी और मन व्यापार पूछा है ' 'लिङ्ग' पद से भक्त का वेष और चिन्ह पूछे हैं जिनके धारण से यह सूचित होता है कि इसकी भगवद्धर्म में रुचि (प्रेम) है, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर इस पर विशेष कृपा करते हैं।

यहाँ प्रकृति विषय के अनुरूप उत्तर कहना चाहिए, यहाँ तीनों (ज्ञान, कर्म और भक्ति) के अनुकल्प होने से भक्त भी तीन तरह के कहने चाहिये, ये भगवान् ने अपने स्वार्थ (सेवादि करने) के लिये उत्पन्न किये है; अतः इनका एक फलमुख लक्षण ही कहना चाहिये। वहाँ सब लोग एक प्रकार के नहीं होते हैं, इसलिये सर्वत्र त्रैविध्य (तीन प्रकार) कहना चाहिये ज्ञान, कर्म और भक्ति प्रत्येक के तीन प्रकार होने से नौ प्रकार होते हैं, उनका नौ श्लोकों से और एक श्लोक से फल तथा एक श्लोक से हेतु कहना चाहिये, यों ११ श्लोकों से उत्तर दीजिये ॥४४॥

हरिरुवाच—श्लोक—**सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।**
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥

श्लोकार्थ—हरि योगेश्वर भगवदियों में उत्तम भगवदीय के लक्षण कहते हैं—वह उत्तम भगवदीय है जो प्रथम ही सर्व पदार्थ मात्र में भगवद्भाव को देखते हैं और भगवान् में सर्व पदार्थों का दर्शन करते हैं, यों उसको पहले ही ब्रह्मैक्य भावना से भगवद् भेद स्फूर्ति होती है ॥४५॥

सुबोधिनी—तत्र सर्वे वाचो वदितारो भवन्तीति द्वितीयो हरिः हरिराह, ज्ञानमिश्रेषूत्तम माह, पूर्वमेते जगत्प्रधानज्ञानिन इत्युक्तं, भगवतः सकाशादुत्पन्नेषु **सर्वेष्वेव प्रथमतो** जीवब्रह्मैक्यं विधायौडुलोमिव्युदासायैश्वर्यादीन् स्थापयित्वा **रामानुजव्युदासाय** प्रत्येकं बहुषु तद्धर्मानुसन्धानं सर्वत्र **भव**द्दर्शनायानुभवपर्यन्तं व्यापारादा**त्मन** इत्युक्तं, यद्यपि भगवाननन्तरस्तथाप्याधारा-धेयभावस्य प्रतीयमानत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं विपरीतं वक्तव्यं ततश्च कालादीनां नियामकत्वाभावाद् विरोधपरिहारायात्माधारत्वं फलिष्यति, एवम-द्वयात्मदृढज्ञानी **उत्तम** इत्यर्थः, एतादृशस्यापि शान्तिसमवस्थानार्थं तथा कर्तव्यमितिभावः ॥४५॥

व्याख्या—सब योगेश्वर वक्ता हैं, उनमें से दूसरे हरि योगेश्वरजी ज्ञान मिश्र भक्तों में उत्तम भगवदीय का लक्षण कहते हैं—प्रथम ये जगत्प्रधान ज्ञानी हैं अतः यों कहा, भगवान् से उत्पन्न सर्व

पदार्थों में प्रथम ही जीव ब्रह्म की एकता का विधान कर, औडलोमि[1] आचार्य के मत का निराकरण किया ऐश्वर्यादि षड् धर्मों की स्थापना से रामानुजाचार्य[2] के मत का निराकरण किया, इस प्रकार पृथक् पृथक् बहुत पदार्थ होते हुए भी प्रत्येक पदार्थ में भगवद्धर्म का अनुसन्धान करना, जिससे सर्वत्र अनुभव पर्यन्त भगवान् के दर्शन का व्यापार होता रहता है इसीलिये 'आत्मनः' पद दिया है यद्यपि भगवान् अनन्त हैं तो भी आधाराधेय भाव की प्रतीति होने से, उसकी निवृत्ति के लिये विपरीत कहना चाहिये, काल आदि नियामक नहीं हैं, विरोध परिहारार्थ आत्मा का आधारत्व फलेगा, इस प्रकार ऐक्यात्म दृढ़ ज्ञानी भागवत उत्तम है, ऐसे ऐक्यात्म दृढ़ ज्ञानी को भी सर्वत्र भगवद्भाव की दृष्टि तथा भगवन्नाम चरित्र अवश्य कर्तव्य है—अन्यथा उसके लिये भी शांति की स्थिति अशक्य है ।।४५।।

श्लोक—**ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।**
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।४६।।

श्लोकार्थ—जो भक्त ईश्वर में प्रेम, ईश्वराधीन भक्तों से मैत्री, अज्ञानी जीवों पर कृपा और शत्रुओं की अपेक्षा करता है वह भक्त, सर्व में सम भाव के अभाव होने से मध्यम कोटि का है ।।४६।।

सुबोधिनी-द्वितीयमाह, शास्त्र एव तरतमभावेन ज्ञानानि निरूपितानि, तत्र वैष्णवतन्त्रे ज्ञानकाण्डे ज्ञानं तादृशं पूर्वोक्तमुत्तमाधिकारिविषयत्वेन निरूपितं तत्रैवोपासनाकाण्डे तरतमभावेन ज्ञानं निरूपितं, उपासनाविचारेण तज् ज्ञानमुत्तमं तथापि ज्ञानपङ्क्तौ मध्यमत्वं भेद-सहकारित्वात् प्रकृते ज्ञानमिश्रस्य लक्ष्यत्वादनुकल्पार्थत्वाच्च, ननु भक्त एवायं भवतु, न, **कृपोपेक्षयो**र्नियतविषययोर्बाधकत्वात्, न वा भक्तिज्ञानयोः सहभावः, एकस्य भेदविरोधित्वादन्यस्य स्वरूपविरोधात्, न हि भगवन्मार्गभक्तः कृपोपेक्षे कर्तुं शक्नोति, तस्मात् तरतम भावज्ञानमेवैतदिति **मध्यमो** ज्ञानभक्तः ।।४६।।

व्याख्या—ज्ञान मिश्रित भक्तों में जो द्वितीय कोटि (मध्यम अधिकारी वाले ज्ञानी भक्त) का अधिकारी है, उस का इस श्लोक में वर्णन करते हैं—

शास्त्रों में ही ज्ञानों का वर्णन समान भाव से नहीं हुआ है । वैष्णव तन्त्र में जहाँ ज्ञान काण्ड में पूर्व कहे हुए ज्ञान का वर्णन है, वह उत्तम अधिकारी के लिये हैं और वहाँ ही (वैष्णव तन्त्र में)

१—औडुलोमि का मत है । जीव ब्रह्म का ऐक्य मोक्ष दशा में होता है न कि पहले, पहले तो जीव 'सच्चिन्मात्र' अनादि सिद्ध है ।
भागवत मत में तो यों नहीं है-इस वैष्णव सिद्धान्त में सर्वदा ही सर्व से ब्रह्म की एकता हैं । लीलार्थ ही ऐच्छिक भेद है, अतः ज्ञानी भक्त को तो लीलार्थ भेद ज्ञान के कारण सर्व दैव अभेद की स्फूर्ति होती है ।

२—रामानुजाचार्यजी सर्व अवस्था में वस्तु का चित् अचित् शरीर मानते है । उनके निराकरण के लिए सर्व में ऐश्वर्यादिधर्मो का सदैव अनुसन्धान कहा है ।

जहां उपासना काण्ड का विषय आता है वहाँ ज्ञान का वर्णन समभाव से नहीं किया है किन्तु वह ज्ञान तरतम भाव वाला होते हुए भी उपासना विचार से उत्तम माना है। यद्यपि ज्ञान पक्ति में उस को मध्यम कोटि का माना गया है कारण कि उस ज्ञान का भेद सहकारी है। प्रकृत विषय में ज्ञान मिश्र का लक्ष्य होने से अनुकल्पथंपन के लिये होने से यहाँ ईश्वरानुभव करने के लिये यह उत्तम होते हुए भी ज्ञान पक्ति में मध्यम है।

ऐसे पुरुष को केवल भक्त नहीं कह सकते है, क्योंकि जो शुद्ध प्रेमी भक्त है वह किसी पर कृपा और किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता है वह सर्वत्र समभाव वाला होता है तथा भक्ति ज्ञान का सहभाव भी नहीं बन सकता है क्योंकि ज्ञान भेद का विरोधी है और भक्ति स्वरूप की विरोधिनी है, इसलिये यह ज्ञान तरतम (नीचे) भाववाला ही है जिससे यह मध्यम ज्ञानी भक्त है ॥४६॥

श्लोक—**अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।**
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥

श्लोकार्थ—जो मानव मूर्ति में ही केवल भगवान् है अन्यत्र नहीं है यों जानकर मूर्ति की पूजा सेवा आदि करता है, भगवद्भक्त एवं अन्य गौ विप्र आदि की पूजा सत्कार नहीं करता है, ऐसा भक्त हीन अधिकारी है ॥४७॥

सुबोधिनी—तृतीयमाह, हीनमित्यर्थः एकत्र भगवन्तं निश्चिन्ततया जानाति पूजाकरणात्, न चायं भक्तिमार्गः; **भक्तेषु** भावाभावात् न वा पातिव्रत्यं, **अर्चाहर्योर्भेदनिर्देशात्**, न वा ज्ञानं, **अन्येषु** भावाभावात, **च**कारात् भक्ताभक्तयोस्तुल्यता, भेदनिर्देशादस्फुरणपक्षो निराकृतः अत एकदेशे भगवज्ज्ञानात् **प्राकृतो** ज्ञानभक्त एव ॥४७॥

व्याख्या—इस श्लोक में तृतीय कोटि के हीन ज्ञानी भक्त का वर्णन है वह हीनाधिकारी एक ही स्थान पर भगवान् है, यों जानकर निश्चिन्तता से वहाँ ही पूजा करता रहता है, इस प्रकार पूजा करना भक्ति मार्ग का सिद्धांत नहीं है अतः जो यों करते हैं वे भक्तिमागाय भक्त नहीं हैं क्योकि उनका भगवद्भक्तों में भगवद्भाव नहीं है उनमें पातिव्रत्य भी नहीं है क्योंकि वे मूर्ति और भगवान् में भेद कर रहे हैं तथा उनमें सत्य ज्ञान भी नहीं हैं कारण कि वे अन्य गौ, ब्राह्मण आदि पदार्थ मात्र में भगवद्भाव नहीं रखते हैं और 'च' पद से यह बताया है कि जैसे भक्त को जानता है वैसे ही अभक्त को जानता है जिससे इसके भक्तपन में बाधा पड़ती है। पूजादि में भेद के निर्देश से अस्फुरण पक्ष का निराकरण किया है, सारांश यह है कि ऐसे पुरुष को एक देश में ही भगवान् है ऐसा ज्ञान होने से प्राकृत (हीन) ज्ञान कहा जा सकता है ॥४७॥

श्लोक—**गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।**
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥

श्लोकार्थ—इस ४८ वें श्लोक में भगवदीयों में उत्तम (भक्तिमिश्र भाग) के लक्षण कहते हैं—जो पुरुष इन्द्रियों से पदार्थों को हरण करता हुआ भी तत्पदार्थ के विषयों में द्वेष वा अनुराग नहीं करता है और यह समझता है कि सब भगवान् विष्णु की ही लीला है। जिस लीलार्थ ही ब्रह्म अनेक रूप हो इस जगत् रूप से दर्शन दे रहे हैं, यों समझकर जो भक्त ऐसा आचरण करता है। वह भक्तिमिश्र उत्तम भागवत है ॥४८॥

सुबोधिनी—भक्तिमिश्रं त्रिभिराह **गृहीत्वे**-त्यादिना, दोषाणां बहिर्व्याप्त्यभावेनान्तर्व्याप्त्य-भावेनानुद्गमेन च, अभिपूर्वत्वार्थं ज्ञानभक्त्यो-र्विपरीतकथनं, दुर्निवार्यमायावैभवज्ञानं शास्त्रत:, तदनु भगवत्स्मरणं ततस्तदाश्रय:, तत्र प्रथममाद्य-माह हीनमित्यर्थ:, केचन विषयान् दूरतस्त्यजन्ति बलात् सम्प्राप्ते निन्दन्ति ते मध्यमा:, केचन विषयेषु प्राप्तेषु हृष्यन्ति ते प्राकृता:, **अर्थ**पद-प्रयोगान् अर्थ्यन्त इत्यर्थास्तथा च काङ्क्षमाणोपि तत्प्राप्त्यनन्तरं दोषरहित: स तथेति स्फुटति, न "शोचति न काङ्क्षती" तिवन् नेहलोकपरलोकयो: परित्यक्तत्वादिति केचित्, वस्तुतस्तु भिन्नविषयावेव, **इन्द्रियैर्गृही**-तानामन्त: प्रवेशाभावे हेतु**र्विष्णोर्मायामिदं पश्य**-न्निति, जीवपरीक्षा ज्ञानादसज्ज्ञानाद् **वा**, व्यापकस्य व्यापिका **माया सर्वभावेन** मोहयति तेन पदार्थापरिज्ञानाव् चकित एको भक्तिपुर:सरो वैष्णव: ॥४८॥

व्याख्या—भक्तिमिश्र भागवत का तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं—भक्तिमिश्र भागवत इन्द्रियों से तो अर्थों को ग्रहण करता है, किन्तु उनके (अर्थों के) दोष उस भक्त के भीतर वा बाहर व्याप्त नहीं होते हैं. और न उसमें (भक्त में) दोष प्रकटहोते हैं, 'भक्त्यायामभिजानाति' इस गीतोक्त वचनानुसार भगवान् का पूर्ण ज्ञान भक्ति से ही होता है, न कि, ज्ञान से, अत: भक्ति उत्तम है, यहां जो ज्ञान सम्बन्धी वचन प्रथम और भक्ति पश्चात् कहे हैं वह विपरीत क्रम है। उत्तमता के कारण भक्ति की आकाङ्क्षा आवश्यकीय है अत: गीता में जो भक्ति को प्रथमता दी है वह विरुद्ध नहीं है—माया दुर्निवाया है जिसके स्वरूप का ज्ञान शास्त्र से ही होता है, स्वरूप ज्ञानान्तर ही भगवान् का स्मरण होता है, स्मरण करते करते आश्रय सिद्ध होता है।

पहले हीन अधिकारी का लक्षण कहते हैं—वे विषयों को दूर से ही त्याग देते हैं, दूसरे जो मध्यम हैं वे विषयों की निन्दाकर उन से मन में ग्लानि उत्पन्न करते हैं, और जो प्राकृत हैं वे विषयों की प्राप्ति होने पर प्रसन्न होते हैं।

इस श्लोक में जो 'अर्थ' पद है उसका आशय गीतप्रोक्त 'न शोचति न काङ्क्षति' श्लोकवत् नहीं है। ये दोनों भिन्न विषय वाले हैं अर्थात् प्रथमत्व और उत्तमत्व धर्म वाले हैं। इन्द्रियों से गृहीत

होने पर भी विषय का अन्तः प्रवेश न होने का कारण यह है कि वह भक्त इन सब को विष्णु (व्यापक) की व्यापी की माया है यों देखता हैं जीव की परीक्षा, ज्ञान से वा असत् ज्ञान से होती है अतः वह समझता है कि यह माया स्वं भाव से मोहित करती है, जिससे पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान न होने से भक्ति पुरःसर वैष्णव चकित होता है, कि, जगत् को झूठा समझता है किन्तु समझता है कि अनन्त की लीला अनन्त है ॥४८॥

श्लोक—**देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।**
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४६॥

श्लोकार्थ—जो भगवद् भक्त, प्रभु के सतत् स्मरण करने से, जन्म, नाश, क्षुधा, भय, तृष्णा और कृच्छ्रादि धर्म, जो देह इन्द्रिय प्राणादि के सांसारिक धर्म हैं, उनसे लिप्त नहीं होता है वह भागवतों में मुख्य भगवदीय है ॥४६॥

सुबोधिनी—द्वितीयमाह, परित्यक्तविषयोयमान्तरपीडारहितः, **इन्द्रियाणां** नाशाशक्ती क्रमेण, देहादिनां **जन्मादीनि कृच्छ्राणि**, सहजा एते पदार्थधर्माः संसरणहेतवश्च, एतेपि व्यामोहका एवेतिज्ञानमार्गाद् विशेषः, आपत्सु **गजेन्द्रवत्** स्मर्तव्यो भगवानिति, भक्तिमार्गस्योत्कृष्टत्वात् नात्र प्रथमादिपक्षाः, किन्तु त्रयाणामप्युत्कृष्टेति ज्ञापनायैवात्र तथानुक्तिरितिभावः, **प्रधान** इति प्राकृतः, प्रथमो मध्यमो जन्माद्यनुसन्धानरहितः, एकान्ते उपवेशित इव अतः पूर्वस्मादुत्तम इत्यर्थः मर्यादापुष्टिभेदात् पक्षद्वयमितिनिर्धारः ॥४६॥

व्याख्या—इस श्लोक में दूसरे भक्तिमिश्र भगवदीय के अधिकार एवं लक्षणों का वर्णन करते हैं। यह अधिकारी आन्तरिक पीड़ा से रहित है क्योंकि उसने विषयों को त्याग दिया है, इन्द्रियों में निर्बलता और उनका नाश क्रम से होता है। देह इन्द्रियादि के जन्म आदि कृच्छ्र सांसारिक धर्म सहज हैं तथा संसरण के कारण हैं, ये भी भगवान् की व्यामोहिका माया के कारण सर्व को मोहित करने वाले हैं। इससे छूटने के लिये गजेन्द्र को तरह स्मरण ही करना चाहिये, क्योंकि स्मरणादि भक्ति, ज्ञान मार्ग से उत्कृष्ट है, अतः यहाँ प्रथमादिपक्ष नहीं कहे हैं। प्रधान कहने का आशय है कि प्राकृत (प्रारम्भिक) भक्त है। (प्रथम की) गणना मध्यम में की गई है क्योंकि उसको जन्मादि का अनुसन्धान नहीं है ऐसा भक्त एकान्त में स्थित होकर भगवत्स्मरण एवं अनुसन्धान करने से प्रथम भक्त से उत्तम है, अतः मर्यादा पुष्टिभेद से दो पक्ष हैं—यों निर्धारण समझना चाहिये ॥४६॥

श्लोक—**न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।**
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

श्लोकार्थ—जिस भक्त के चित्त में काम, कर्म और उनके बीजों की उत्पत्ति नहीं है तथा मन भगवान् वासुदेव में लीन है। वह निश्चय उत्तम भगवदीय है ॥५०॥

सुबोधिनी—उत्तममाह, **काम** एव नोत्पद्यत उत्पन्ने पि न **कर्माणि** तेष्वपि न वासनाः, मुक्तः प्रपन्नोयं:, एवं **पुष्टिमर्यादाभक्ति प्रपत्तिश्चे**ति निरूपितं, "सर्वमाश्रयतो भवे" दिति तृतीये हेतुः ॥५०॥

व्याख्या—उत्तम के लक्षण कहते हैं, प्रथम तो उसके चित्त में काम उत्पन्न ही नहीं होता है यदि कदाचित्त कुछ उत्पन्न हो जावे तो भी उसके कर्म (आवरण) नहीं होते हैं अकस्मात् कर्म हो भी जावे तो उनमें वासना नहीं रहती है। वह शरणागत सवथा सबसे मुक्त ही रहता है इस प्रकार पुष्टि एवं मर्यादा भक्ति तथा शरण का तीन श्लोकों में निरूपण किया। शरण में हेतु का प्रमाण देते हैं कि 'सर्वं आश्रयतो भवेत्' सब आश्रय से सिद्ध होता है ॥५०॥

आभास—वैराग्यमिश्रमाह न यस्येत्यादित्रिभिः।

आभासार्थ—अब 'न यस्य' से लेकर तीन श्लोकों में वैराग्यमिश्र भक्त का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।**
सज्जतेस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

श्लोकार्थ—जिस भक्त को जन्म, कर्म, वर्णाश्रम एवं जाति के कारण देह में उत्तमता का अहम्भाव उत्पन्न नहीं होता है निश्चय से वह भक्त हरि को प्यारा है ॥५१॥

कारिका—**अभिमानो व्यवहारो वैदिकस्याप्यपेक्षणम्।**
त्रियताभावतो मुख्य एकैकोप्यत्र युज्यते ॥१॥

कारिकार्थ—(१) अभिमान (२) व्यवहार और (३) वैदिक की अपेक्षा, ये तीन साथ में न हो वा एक एक का अभाव होवे तो भी वह भक्त मुख्य (उत्तम अर्थात् हरि को प्रिय) है। प्रत्येक श्लोक में इनको पृथक् पृथक् समझाते हैं।

सुबोधिनी—प्रथममाह, गर्वो ह्यहङ्कारस्य शिरः, **जन्म** सत्कुले, **कर्म** ज्योतिष्टोमादि, **वर्णा** ब्राह्मणत्वादयः, **आश्रमाः** प्रसिद्धाः, **जातिर्देशवि**शेषवाच्या, यथा तैलङ्गः कान्यकुब्ज इति, सापि गर्वहेतुरितिलोकप्रसिद्धि, अथ वा **वर्णा** अभिव्यञ्जकाः शमादयः, **जातिर्ब्राह्मणत्वादिः**, गुणास्तेत एव दोषसहकाराभाव एव साध्यः॥५१॥

व्याख्या—भक्ति में जो बाधक पदार्थ हैं वे इन तीन श्लोकों में क्रमशः कहते हैं— उनमें से प्रथम बाधक 'अभिमान' है क्योंकि वह अहङ्कार का मस्तक है अहङ्कार जिन से होता हैं वह हेतु बताये हैं कि १-सत्कुल में जन्म होने से मनुष्य समझने लगता है कि मैं सबसे उच्च हूँ जिससे अहङ्कार उत्पन्न होता है, इसी तरह ज्योतिष्ठ यज्ञ आदि कर्म करने से ब्राह्मणादि वर्ण में उत्पन्न

होने से, ब्रह्मचर्यादि आश्रम पालन से द्राविड़ व तैलङ्ग देश विशेष के कारण[1] जाति-विशेष से इस प्रकार उत्पन्न गर्व का ही अभाव हो तो वह 'हरि को प्रिय' है। उस हरि प्रिय भक्त को दोषों का सहकार नहीं मिलता है केवल जो गुण हैं वे ही उसमें रहते हैं ॥५१॥

श्लोक—**न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।**
सर्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

श्लोकार्थ—जिसको द्रव्यादि पदार्थों में अपना परायापन नहीं है और देहादि में भी अपने परायेपन से भेद दृष्टि नहीं है, सकल प्राणी मात्र का मित्र है और जो सर्व प्रकार से शान्त चित्त है वह निश्चय भगवदियों में उत्तम है ॥५२॥

सुबोधिनी—व्यवहारे द्रव्याभिमानाभावो द्वितीयः, तमाह, **स्व**शब्दो धनादिवाची, तत्र **स्व** इति **वित्तेषु** भेदः, स्वेनैव व्यवहर्तव्यं नान्यैः, **पर** इत्या**त्मनि** तेन द्वेषादिः, तेनाद्वैतद्वयमुक्तं भवति, **वे**त्यनादरे, भार्यादिष्वपि न भेद इत्यर्थः, अनेन दोषाभाव उक्तः, गुणमाह **सर्वभूतसुहृच्छान्तश्चे**ति, 'दयया सर्वभूते' ष्विवतिन्यायादन्तःसाधनं तदित्यवोचाम, ब्राह्मणभोजनोपवासवद्दैहिकविरक्तिर्द्वयेनोक्ता ॥५२॥

व्याख्या—द्वितीय बाधक व्यवहार में द्रव्य देहादि का भेद भाव है वह जिसमें नहीं है और सर्व प्राणीमात्र का मित्र है तथा शान्त चित्त है वह निश्चय उत्तम भगवद्-भक्त है इस श्लोक में आया हुआ 'स्व' शब्द धनादि वाचक है। व्यवहार में मनुष्य यह धन मेरा है इसलिये यह मेरे ही गृह बनाने और विवाहादि कार्य में लगना चाहिए, दूसरे के नहीं। इस प्रकार सबसे भेद करना। 'पर' शब्द 'पराये' का वाचक होने से, वह देह, धन, मनुष्यादि मेरे नहीं पराये हैं इस कारण उनसे द्वेष आदि करना इस तरह के जिसमें भेद नहीं हैं तथा सबको अपना ही समझ स्नेह करता है एवं सर्व प्राणी मात्र पर दया ही करता है, ऐसे अन्तः साधन भी जिसमें हैं, अद्वैत द्वय पक्ष की उपेक्षा कर कहते हैं कि वह भार्यादि में भी भेद नहीं समझता है, इससे यह सिद्ध किया है कि ऐसे मनुष्य में दोषों का अभाव है केवल गुण ही हैं जैसा कि स्वल्प भोजन सामग्री होते हुवे भी ब्राह्मण को तो तृप्ति से भोजन करा देना और स्वयं उपवास कर लेना जिससे उस भक्त के वैराग्य की दोनों से सिद्धि कह दी ॥५२॥

श्लोक—त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल् लवनिमिषार्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥

श्लोकार्थ—ज्ञानी, भक्त और सर्व प्रकार के देवों से भी विमृग्य, भगवच्चरणारविन्द से आधा लव एवं निमिष जिस जन का चित्त चलायमान नहीं होता है वह जन वैष्णवाग्रणी है ॥५३॥

१—द्राविड़ और तैलङ्ग आदि देश विशेष से प्राप्त उपाधि (नाम विशेष) हैं, न कि जाति वास्तव में जाति वह है जिसमें शमदमादि ब्राह्मण धर्म परम्परा से बीजरूप से रहते हों और जिसमें शमदमादि ब्राह्मण धर्म प्रकट है उस में ब्राह्मण देवता प्रकट हैं।

सुबोधिनी—पारलौकिकमाह तृतीयेन, अश्वमेधादिकरणे **त्रिभुवनविभवो** भवति प्रमाणबलविचारेण वेदस्य बलिष्ठत्वादश्वमेधादिकरणे प्राप्ते भगवत्स्मरणं कथमुक्तमिति चेत् सत्यं, एवमपि **सर्वैष्णवः** स्वमार्गस्योत्कृष्टजनकत्वात्, वेदो हि **स्वार्थं न** वदति येन तदुल्लंघने दोषः स्यात् किन्त्वस्माकं फलार्थे तदस्माभिर्नापेक्ष्यत इति, ननु भ्रान्तिस्तत्रेति चेत्, तत्राह **अजित भगवान् आत्मा** येषां भगवद्भक्तास्तदवयवा वा, ते च ते **सुराश्च**, **आदि**शब्देनाष्टविधदेवयोनयः परिगृहीताः, अथ वा**जितात्मान** इति ज्ञानिनो भक्ता वा मनुष्याः सदाचारान् **न** भ्रमः, 'पुरुषावयवेष्वभ्यध्याय' दितिनिराकरणाय **पदारविन्दा**दिति, **लवनिमिषार्धमपी**ति प्रधानयागकालाभिप्रायं, निद्रादौ तु सहजविस्मरणं न बुद्धिपूर्वकपरित्यागः, स्मृतिविरोधिनां कार्याणां परित्याग एव, **चलनं** मार्गान्तरगमनं वा ।।५३।

व्याख्या—तृतीय श्लोक से कहते हैं कि वैष्णवाग्रणी में न केवल इस लोक के सुखादि फल से वैराग्य उत्पन्न होता है किन्तु अश्वमेधादि यज्ञ करने से जो त्रिभुवन का वैभव मिलता है उससे भी इस भक्त को वैराग्य रहता है अर्थात् उन वैभवों को भी नहीं चाहता है।

प्रमाण बल का जब विचार किया जाता है, तब सब प्रमाणों से वेद के प्रमाण की बलिष्ठता सिद्ध होती है, अतः जब यों है तो वेदानुसार अश्वमेधादि ही करने चाहिये फिर भगवत्स्मरण करना कैसे उचित होगा ? यदि यों कहा तो सत्य है किन्तु जो भगवत्स्मरण को किञ्चित मात्र समय भी नहीं भूलता है, वह वैष्णव अपने मार्ग की उत्कृष्टता प्रकट करता है। वेद जो कुछ कहता है वह अपने अर्थ के लिये नहीं कहता है जिससे उसके उल्लङ्घन में दोष होवे, किन्तु अश्वमेधादि करने से हम लोगों को वैभवादि फल की प्राप्ति हो इसलिये वेद उनके करने की आज्ञा देता है, किन्तु उस फल की हम को अपेक्षा नहीं है। यदि कहो कि यह भ्रान्ति है तो इस पर कहते हैं कि यह भ्रान्ति नहीं है क्योंकि भगवान् ही जिनकी आत्मा हैं ऐसे भगवद्भक्त अथवा उसके अङ्गभूत देव और आदि शब्द से अष्टविध देवयोनियाँ भी समझनी चाहिये, वे सब तथा जिनने आत्मा को वश में कर लिया है वैसे ज्ञानी भक्त का मनुष्य जिनके चरणारविन्द से लवनिमिष मात्र भी अपने चित्त को चलायमान नहीं करते हैं वे भ्रमित कैसे कहे जायेंगे ? वास्तव में, भगवच्चरणारविन्द में मन स्थिर करना ही प्रधान यज्ञ होने से, वेद उसके लिये ही आज्ञा देते हैं। निद्रा आदि में जो विस्मरण होता है वह स्वाभाविक है वह बुद्धि पूर्वक त्याग न होने से त्याग नहीं है। भगवदीय तो कभी भी भगवत्स्मरण का त्याग कर नहीं सकता। भगवत्स्मरण करने में जो कर्म विरोध करते हैं वा रुकावट डालते हैं वैसे कार्यों का तो परित्याग करना चाहिये। न 'चलति' का भावार्थ है ऐसे भगवदीय वैष्णवाग्रणी का चित्त भगवन्मार्ग से दूसरे मार्ग पर नहीं जाता है ।।५३।।

श्लोक—**भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।**
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेर्कतापः ।।५४।।

श्लोकार्थ—महान् पराक्रम वाले भगवान् वामन के चरणकमल रूप कल्प वृक्ष की शाखा रूप अंगुलियों में नखरूपमणियों की शीतल चन्द्रिका है। उसने भगवद्भक्त के

हृदय के सर्व प्रकार के कामादि ताप नाश कर दिये हैं, अतः उसके हृदय में फिर काम कैसे उत्पन्न होंगे ? जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर सूर्य का ताप नष्ट ही हो जाता है जहां ताप ही नष्ट हो जाता है वहां सूर्य कैसे उत्पन्न होगा। वैसे ही जब यहां भगवत्पानखचन्द्रिका से काम, ताप ही नष्ट हो जाता है फिर काम कैसे उत्पन्न होगा ? ॥५४॥

सुबोधिनी—ननु "तृष्णाया भववाहिन्ये" तिन्न्यायेन गुणानां क्षोभकानां च विद्यमानत्वात् "रजः सत्त्वं तमश्चेति" वचनाच्च कदाचित् कामसम्भवस्य सर्वजनीनत्वच्चासम्भावितः पक्षोयमिति चेत् तत्राह, पुनः कामादयो हृदये नोत्पद्यन्ते, **निरस्तत्वात्**, न हि गुणादयोन्यत्रालब्धशरणा येन तस्मिन्नेव हृदये पुनः प्ररोहेयुः, चरणस्यैव माहात्म्यं वक्तुं **भगवत** इत्युक्तं, अतः सत्प्रतिपक्षता नान्यस्य, **शाखावचनादङ्घ्रेः** कल्पवृक्षत्वं, अचिन्त्यो हि **मणिप्रभाव इति, चन्द्रिकापदेन** प्रभाबाहुल्यं, अनेन ब्रह्माण्डभेदनेन गङ्गाप्रवाहवत् निरन्तरानन्दप्रवाहप्रवृत्तेर्न तापशंकापीतिभावः, स तापः, **अर्कतापो** हि दिवसे न रात्रौ तथा भगवद्विमुखे तापः, तत्रापि **चन्द्र उदित** ऊष्मापि निवर्तते क्व ताप इत्यर्थः ॥५४॥

व्याख्या—कामादिक फिर हृदय में उत्पन्न नहीं होंगे यह पक्ष असम्भव सा जचता है क्योंकि संसार में पटकने वाली तृष्णा मौजूद है तथा क्षोभ करने वाले सत्व, रज और तम गुण भी विद्यमान हैं ऐसी दशा में कदाचित् काम का उत्पन्न होना सर्व जनीन है ही, इस पक्ष का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो कार्य वाणी मन आदि से जाने नहीं जाते हैं वैसे कर्म करनेवाले प्रभु ने अपने चरण नख चन्द्रिका द्वारा भक्त हृदय से कामादि का निरसन कर दिया है और गुणादि को जब अन्यत्र[1] रहने का स्थान मिलता है तो भक्त के हृदय में क्यों उत्पन्न होंगे ? यदि अन्यत्र स्थान न मिले तो कहा जा सकता है कि भक्त के हृदय में पुनः उत्पन्न हो जायेंगे 'भगवक्तः' पद से यह बताया है कि ये चरण माहात्म्य वाले हैं। अतः ये चरण जिनके हृदय में विराजते हैं वहाँ से कामादि दोष सदैव के लिए नष्ट हो जाते हैं, फिर वहाँ आने की क्षमता नहीं रखते हैं, अतः अन्य को वैसी सत्प्रतिपक्षता नहीं है जैसे मणि प्रभाव अचिन्त्य है वैसे ही भगवान् के चरण भी कल्प वृक्ष होने से अकथनीय अनन्त प्रभावशाली हैं। 'चन्द्रिका' पद देकर यह सूचित किया है कि उसकी इतनी विशेष प्रभा है जैसे गङ्गा का प्रवाह ब्रह्माण्ड भेदन कर सकता है वैसे ही वह प्रभा आनन्द प्रवाह बहाती है और तापमात्र को तोड़ देती है सूर्य का ताप दिन को होता है न कि रात्रि को वैसे ही जो भगवद्विमुख है उसको ही कामादि ताप सताते हैं। चन्द्रमा के उदय होने पर उष्मा भी निवृत्त हो जाती है तो ताप की वार्ता ही कहाँ रहती है ? ॥५४॥

श्लोक—**विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः ।**
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

१—अभक्त के हृदय में

श्लोकार्थ—ज्वर श्वास आदि व्याधि के कारण से बेबस होते हुए भी जो भक्त सतत् भगवत्स्मरण करता ही रहता है, उसके पाप-समूह हरि नष्ट करते हैं, जिससे वह सर्वथा निष्पाप शुद्ध हो, प्रेम पूर्ण रज्जु से भगवान् के चरणकमल को ऐसा बान्ध देता है, जो वह साक्षात् हरि, उस भक्त के हृदय का त्याग नहीं कर सकते हैं, अतः वह भक्त भगवदियों में मुख्य माना जाता है ।।५५।।

सुबोधिनी—फलमुखं भक्तलक्षणमाह "आहूत इव मे शीघ्र" मिति हि फल वक्तव्य, अनुकल्पस्य प्रत्यवायपरिहार एव स्यात् **साक्षादित्यन्तर्यामिव्युदासाय, हरिरित्युद्धारकः** अग्निरिव भस्मना न च्छन्नः पापसमूहस्य पूर्वमेव नष्टत्वात्, पुष्टिस्थो भगवान् भक्तिमार्गविरोधात् कथं तिष्ठतीत्याह **प्रणयेति**, रशना साधनभक्त्या संवलिता तया स्थिरीभूतश्चरणो मस्तके रज्जुनिर्मिताधारवत्, **कमलं** तूर्ध्वमुखं तथैव तिष्ठति तदा स सर्वजनीनो **नारदवदुक्तो** भवेदित्यर्थः, एवं धर्मोपयोगेनानुकल्पोपयोगेन च सफला भक्ता निरूपिताः ।५५।

व्याख्या—इस श्लोक में उस भक्त का लक्षण कहते हैं। जिसको फल प्राप्त हो रहा हैं 'आहुत इवमे शीघ्रम्' इस भागवत्श्लोक के कथनानुसार उस भक्त को साक्षात् हरि यों आकर दर्शन देते हैं मानों भक्त ने उन (प्रभु) को बुलाया है। यह फल मुख्य भक्त का लक्षण है। वे दर्शन देकर चले नहीं जाते हैं किन्तु उसके हृदय में सतत् स्थिति करली है। इस प्रकार अनुकल्प में भी फल सम्बन्धी कथन है। अन्यथा (यदि यों न होवे तो) अनुकल्प का प्रत्यवाय (प्रतिबन्ध) दूर करना ही फल माना जाये, 'साक्षात्' पद देने का आशय यह है कि जो प्रभु हृदय में आकर विराजे हैं वे अन्तर्यामी हैं, साथ में ये प्रभु प्रकट पुष्टिस्थ स्वरूप होने से भस्म से आच्छादित अग्नि की तरह शोभित आनन्द तथा शक्ति वाले नहीं हैं। पुष्टिस्थ होने से स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द हैं। अतः भक्ति मार्ग के विरोध होते हुए भी प्रणय रशना ने कारण वहाँ वैसे स्थिति करते हैं जैसे भक्त के मस्तक में रज्जु से निर्मित आधार द्वारा करना पड़ता है। भगवत्स्मरण से जीव के पाप समूह तो पहले ही नष्ट हो गये हैं। भगवच्चरण कमल तो कमल की तरह अर्ध्वमुख ही स्थिति करता है। वह चरण कमल सर्वजनीन होने से नारद के समान कहा गया है, इस प्रकरण द्वारा भगवदीय मार्ग में धर्मोपयोगी हो सके एवं अनुकल्प में भी उपयोगी हो सके ऐसे फल प्राप्त भगवदियों का निरूपण किया है ।।५५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव मुक्ति) प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्री हरिः ॥

इस दूसरे अध्याय में वर्णित प्रसंग का सार

राग कान्हरो

सोई रसना जो हरि गुण गावै ।
नैननि की छबि यहे चतुरता सोई मुकुंद मकरंद हि ध्यावे ॥
निर्मल चितती तेई सांचौ कृष्ण बिना जिहि और न भावै ॥
श्रवणनि की जु यहै अधिकाई हरि जस नित प्रति श्रवन सुनावे ॥
कर तेई जु श्यामजू को सेवै चरणनि चलि वृन्दावन जावै ॥
सूरदास बलिहारी ताकी, जो संतनि सों प्रीति बढ़ावै ॥

राग धनाश्री

रे बौरे छाँड़ विषयन को रचिवौ ।
कत तूं सुआ होत सेवरि को अन्त कपा व्यर्थ ही पचिवो ॥
अनङ्ग तरङ्ग, कनक कामिनि ज्यों, हाथ रहेगो पचिवो ॥
तजि अभिमान कृष्ण कहिवो करि न नरक ज्वाला तचिवो ॥
सद्गुरु कह्यौ कहो हों तोसों, कृष्ण रतन धन सचिवो ॥
सूरदास स्वामी सुमिरन बिनु, योगो कपि ज्यों नचिबो ॥

राग गुर्जरि

हरि रस कबहू तो जाइ लहिये ।
वाद विवाद गरव ईरषता एतो दण्ड सब सहिये ।
कोमल वचन दीनता सब सों सदा मुदित चित्त रहिये ।
सोक गये, उपज्यौ रहै आनन्द ऐसे ए धर्म निबहिये ।
इतनी जो उपजे मन महिमा यह सुख कहूँलों कहिये ।
सूर मुकुत तेहि अष्ट महा सिधि, जो भुगते सो हइये ।

ठाकुर भले बुरे तौ तेरे ।
हमरे कुल की लाज बढ़ाई, बिनती सुनों प्रभु मेरे ।
आनंदे सब रंक भिखारी मैं सब छाडेऔ होत अनेरे ।
सब तजि तुम शरणागत आयो दृढ़ करि चरण गहेरे ।
तव प्रसाद हम बदत न काहू निडर भए सब चेरे ।
सूरदास प्रभु तुमरि कृपातें पाए सुख जु घनेरे ।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।
।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।
।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी-टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव) प्रकरण

"अध्याय—" ३

माया, माया से पार होने के उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोग का निरूपण

कारिका—**अत्राधिकारहीनानां तृतीयाध्याय ईर्यते ।**
अनुकल्पोधिकारो वा चतुर्भिः सम्भविष्यति ।।१।।

दुष्टप्रवाहविज्ञानं तरणं हेतुभिः क्रमात् ।
ज्ञानकर्मपरिज्ञाने तृतीयेर्थचतुष्टयम् ।।२।।

द्विपदां भोगसंसिद्ध्यै चतुष्पादो निरूपिताः ।
ते स्थिराः शङ्कुसन्नद्धाः स द्विपाद्भिः स्थिरीकृतः ।।३।।

कारिकार्थ—दूसरे अध्याय में भागवत धर्म बताया गया है परन्तु उसका जितना सम्भव हो उतना ही कोई पालन कर सकता है सो यदि उसमें किसी का अधिकार न हो अर्थात् वह पूरी तरह से पालन न कर सके और उसमें किसी प्रकार की कमी रह जावे तो उसके लिए चार इच्छित साधनों का वर्णन इस तीसरे अध्याय में है ।।१।।

वे चार साधन हैं—(१) दुष्ट प्रवाह का ज्ञान (२) धीरे धीरे उस प्रवाह से बचने या पार होने के उपाय (३) ज्ञान का परिचय और (४) कर्म का परिचय, इनका वर्णन इस अध्याय में है ।।२।।

दो चरणवालों[1] को भोग की प्राप्ति होती है इसलिए चार चरणवालों[2] ने निर्णय किया है, क्योंकि वे स्थिर हैं ।। ।३।।

१—दो चरणवाले नारदजी तथा राजा निमि है । २—चार चरणवाले सनत्कुमार और चार योगेश्वर हैं ।

राजोवाच–श्लोक—**परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।**
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥१॥
नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापसन्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥२॥

श्लोकार्थ—निमि राजा योगेश्वरों से पूछते हैं कि, हे भगवन्तों ! प्रकृति से पर परमेश्वर जो जगत् कर्त्ता है उस की, मोक्षदाता विष्णु की तथा नियामक भगवान् की जो माया शक्ति मायी पुरुषों (अधिकारियों) को भी मोहित करती है, उसको हम जानना चाहते हैं । कृपया उसे कहिये अर्थात् उसका स्वरूप लक्षण तथा कार्य-लक्षण कहिये ॥१॥

संसार के तापों से सन्तप्त, मरण धर्मवाला मैं, हरि कथामृतरूप आपके वचनों का पान करता हुआ तृप्त नही हूं, क्योंकि वे वचन उन तापों की अमृतमय औषधि है ॥२॥

सुबोधिनी—एवं सनकाद्यनुकल्पनवयोगेश्वराणां वानुरूपत्वं, तत्र प्रथमं चतुर्णां मध्ये मायास्वरूपं पूर्वमेव जिज्ञासितं पृच्छति, प्रकृतेः **परस्य** जगत्कर्तु **विष्णोर्मोक्षदातुः**, बन्धमोक्षौ निरूप्य मध्ये, नियन्तुरी**शस्यातो माया** त्रिविधा, सर्वभवनसामर्थ्यं माया विद्याजनिका माया लोके व्यामोहिका मायेतोप्यन्या, प्रथमायाः कार्यमपि **मायेत्युच्यते**, सा हि **मायिनाम**धिकारिपुरुषाणामपि व्या**मोहि**का विषयाणां सर्वव्यामोहकत्वात् इदमस्माकमत्यन्तजिज्ञासितमित्याह **न** इति ॥१॥ तान् स्तौति कथनार्थं, **अनुतृप्ति**रलम्भावः, **महतां वचनमेव सर्वदा श्राव्यं** तत्रापि **हरिकथा**, तत्रापि मरणनिवर्तकं वयं च **संसारतापमरणधर्मे**व्याप्ताः, तापा अन्यैरपि गच्छन्ति तेषां पूर्वोक्तानां तु **तापानामिदमेव भेषजम्** ॥२॥

व्याख्या—सनकादिकों के अनुकल्परूप नौ योगेश्वर चतूरूप हैं, उनसे राजा निमि को तथा सदस्यों को माया के स्वरूप के जानने की इच्छा है, अतः राजा पहले उनसे प्रश्न करता है—

(१) एक प्रकृति से पर जगत्कर्त्ता की माया, दूसरी मोक्षदाता विष्णु की माया तथा तीसरी नियामक ईश की माया, इस प्रकार माया तीन प्रकार की है :—

(१) माया–सर्वभवन सामर्थ्यवाली जो माया हैं वह ईश की माया है ।
(२) माया–विष्णु भगवान् की जो माया है वह 'विद्या-जनिका' माया है ।
(३) माया–प्रकृति से पर जगत्कर्त्ता की जो माया है वह 'व्यामोहिका' माया है ।

प्रथम माया शक्ति का कार्य भी माया है, सर्व समर्थ ईश, बन्ध और मोक्ष का सृजन कर उनके मध्य में मायारूप अन्तर्पट रखकर सबका नियमन करते हैं। वह माया, मायीपुरुष जो

ब्रह्मादि अधिकारी हैं, उनको भी मोह में डालती है, कारण कि विषग सबको मोहित करनेवाला है, वह माया हम पूर्णतः[1] जानें ऐसी हम[2] लोगों की इच्छा है आप सर्वज्ञ हैं अतः कहिये ॥१॥

राजा योगेश्वरों की स्तुति इसलिये करता है कि वे प्रश्न का उत्तर देवें, हम आपके वचन श्रवण से तृप्त नहीं होते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि महापुरुषों के वचन सर्वदा सुनने चाहिये, उन वचनों में भी खास वे वचन अवश्य सुनने चाहिये जिन वचनों में मृत्यु को टालने वाली हरि की कथा हो। हम लोग संसार के आधिभौतिकादि तीन तापों तथा मरण धर्मों से व्याप्त हैं, दूसरे ताप तो मिट जाते हैं, किन्तु ये ऊपर बताये हुए ताप एवं आवागमन के ताप मिटाने की हरिकथामृत-रूप आपके वचन ही औषधि है ॥२॥

श्लोक—**एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुजः ।**
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥३॥

श्लोकार्थ—माया से निर्लिप्त अन्तरिक्षनामा योगेश्वर १४½ श्लोकों से उत्तर देते हैं।

स्व अवस्था, मात्राएं तथा आत्मा (भगवान्) के प्रसिद्धयर्थ भूतों की आत्मा महाभुज (महती क्रिया शक्तियुक्त) आद्य (सबकी जो आदि हैं वैसे भगवान्) ने इन पञ्च महाभूतों से उच्च तथा नीच (देव, असुर मनुष्यादि) रूप उत्पन्न किये हैं ॥३॥

सुबोधिनी— मायाकथनेऽसमंसक्तोऽन्तरिक्ष **उवाच, माया**शब्दः शास्त्रेषु लोके च बहुधा प्रयुक्तः, सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका च शक्ति-रैन्द्रजालिकविद्या च कापट्यादि च तत्तद्रूप-निरूपणार्थं तथा, तथा प्रयुक्तः शब्दः समाधावप्ये-कैव[3] शक्तिरुभयकार्यरूपोक्ता, प्रवाहस्त्वत्र **माया**-शब्देनोच्यते, स च भगवत्कृतो भगवद्रूपश्च, विषयैश्च व्यामुग्धाः सर्वे भवन्त्यतोऽत्र किं युक्तमिति चेदुच्यते तदत्राह सार्धचतुर्दशभिः, तत्रैकेन सृष्टिमाहैभि-रिति, न तत्त्वापेक्षा प्रतीतैरेतैरित्यर्थः, गृहस्थ इव **महाभुजो**ऽत्युत्साहेन कार्यकर्ता, अत **एवोच्चावचानि** नैकरूपाणि, **आद्यः** प्रथमत एव जलमिव प्रविष्टः, **स्व**स्यावस्थासहितस्य **मात्राणां** च भगवतश्चेतित्र-याणां **प्रसिद्धये,** अथ वा **स्वमात्र** एव योयमात्मा स्वप्नवत् तस्य **प्रसिद्धये प्रकर्षेण सिद्धिः** सृष्ट्यन्त-रापेक्षया ॥३॥

व्याख्या—१४½ श्लोकों में से इस एक श्लोक से सृष्टि का वर्णन करते हैं।

इन पञ्चमहाभूतों (पृथिव्यादि) से सृष्टि उत्पन्न हुई ये पञ्च महाभूत प्रतीत हो रहे हैं, इनने सृष्टि की उत्पत्ति करने में तत्वों की अपेक्षा नहीं की, क्योंकि यह सृष्टि अन्तर-सृष्टि मायिक है,

---

१—माया का स्वरूप लक्षण एव कार्य लक्षण क्या है—इसको जानें।

२—'नः' हम, बहुवचन कहने का आशय है कि केवल मेरी ऐसी जिज्ञासा नहीं है किन्तु सब सदस्यों की ऐसी जिज्ञासा है।

३—'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं माया च तदुपाश्रया' मिति व्यासस्य समाधावित्यर्थः।

'महाभुज' पद का आशय है कि गृहस्थ की तरह सृष्टयुत्पत्ति करने में उत्साह से कार्य करनेवाले हैं, क्योंकि महती क्रिया शक्तिशाली है अतएव एक प्रकार के रूपों का निर्माण नहीं किया है, किन्तु उच्च नीच अनेक प्रकार के (देव असुर प्रभृति) रूपों का सृजन किया है इस सृजन में तत्वों को ग्रहण किया है, कारण कि यह सत्या सृष्टि है। आप भूतों की आत्मा आद्य (सब से प्रथम) है, इसलिये पहले ही मानो जल में प्रविष्ट होकर मायिकी सृष्टि करते हैं-क्योंकि अवस्था सहित अपनी, मात्राओं की तथा भगवान् की प्रसिद्धि करनी अथवा जो केवल आप ही यह आत्मा हैं, उसने अपनी प्रसिद्धि के लिए अन्य सृष्टि की अपेक्षा स्वप्नवत् यह सृष्टि की है। इस श्लोक के प्रथम पद में जो सृष्टि कही है, वह मायिकी (अन्तरा) सृष्टि है जिसके मूल में तत्व नहीं हैं, अतः असत् विषयता रूप में प्रतीत हो रही है। दूसरी सृष्टि जो तत्वों से रची गई है वह सत्या है। यह भगवान् ने स्वेच्छा से माया को करण कर और स्वयं प्रेरक एवं कर्त्ता होके बनाई है, अतः भगवत् भिन्न (कार्य) होने से भगवद्रूप हैं अतः सत्या है।

निर्लेप अन्तरिक्ष योगेश्वर माया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, माया शब्द के अर्थ शास्त्रों में तथा लोक में बहुत प्रकार से किये गये हैं।

१. सर्व कुछ करने में समर्थ, २. मोह में पटकनेवाली ३. ऐन्द्रजाल विद्या ४. कापट्यादि[1] रूपों को कहने के लिये 'माया' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

वेदव्यासजी ने समाधि में माया का साक्षात् दर्शन किया, वहां देखा कि माया भगवान् की आश्रित है, अर्थात् भगवान् की एक शक्ति है जो सर्वदा भगवान् के शरण में ही रहती है। वह माया शक्ति, एक होते हुए भी दो प्रकार के कार्य करती है। एक कार्य, जीव को व्यामोह में डालती है। दूसरा कार्य, प्रवाह है प्रकृत प्रसंग में माया का अर्थ प्रवाह है। इस प्रवाह को भगवान् ने रचा है एवं वह भगवद्रूप है।।

सब जीव विषयों से मोह को प्राप्त होते हैं, अतः यहाँ 'माया' शब्द का कौनसा अर्थ लेना उचित है ? इस शङ्का का समाधान आचार्य श्री निम्न कारिकाओं से करते हैं-

कारिका—**मायाशक्तिर्भगवतो नात्र कार्या विचारणा।**
समाधौ तु तथाभानात् प्रयोगस्तु विचार्यते ।। १ ।।
विचारे भगवद्वाक्यं लक्षणं कार्यगोचरम्।
प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्च साधिष्ठानस्य तद्धि हि ।। २ ।।
सुवर्णजलवत् कार्ये प्रक्रियेयं पुराणगा।
तया सह कृतिः क्वापिच्छादनं चांशतोपि वा ।। ३ ।।
निःस्वरूपस्य कार्यस्य तद्धर्माणां सहैव वा।
सदिव स्फुरणं यस्मात् त्रयं मायेति शब्द्यते ।। ४ ।।

१—आदि शब्द से माया का अर्थ बुद्धि, कृपा, दम्भ पण कोष में दिये हैं।

मार्गत्रये हरेः स्फूर्तिस्ततोन्यन् मायया कृतम् ।
प्रतीतिरपि मिथ्येति केचिद् धर्मविचारकाः ॥ ५ ॥

शास्त्रतो निर्णयस्तस्य वस्तुनो मायिकस्य च ।
ज्ञानेपि स्फुरणं यस्य तद्रूपं सत्त्वमुच्यते ॥ ६ ॥

केवला लौकिकी स्फूर्तिस्तावन्मात्रशरीरिणी ।
अस्थिरा मूलराहित्यात् सा मायेति निगद्यते ॥ ७ ॥

मात्रप्रयोगो यत्रास्ति तत्रैकस्यैव रूपणम् ।
उभयं तु हरेः कार्यं द्वितीये करणं तु सा ॥ ८ ॥
द्वितीयमात्रकरणे काशकृत्स्नमतं स्थितम् ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ—माया भगवान् की शक्ति है, जिसमें[१] किसी प्रकार विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ज्ञानावतार व्यासजी को समाधि में ऐसे दर्शन हुए हैं कि 'माया' भगवान् की शरणापन्न शक्ति है। किन्तु माया शब्द का प्रयोग किस तरह, कहाँ और कैसे किया जाय इसका विचार[२] कर्त्तव्य है।

माया का स्वरूप-लक्षण बताते हुए भगवान् ने गीता में "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया[३]" यह श्लोक कहा है।

भागवत् में ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च' इस श्लोक द्वारा "कार्यगोचर लक्षण" कहा गया है। जो पदार्थ हो उसको न दिखावे और जो पदार्थ न हो उसको दिखा दे, अतः इसको माया कहा जाता है, क्योंकि मनुष्य को भुलावे में डालती है, जिसका वर्णन आचार्य श्री ने दूसरी कारिका में इस प्रकार किया है। विचार करने पर भगवत्प्रोक्त गीता वाक्य "दैवी ह्येषा" से स्वरूप लक्षण का ज्ञान होता है, अधिष्ठान[४] सहित कार्य की प्रतीति हो, यों कहकर कार्य गोचर लक्षण का वर्णन किया है ॥२॥

माया के कार्य दो प्रकार के हैं, एक कार्य, कारण, यदि कार्य रूप में आवे तो भी अविकारी ही रहते हैं, जैसे सुवर्ण, आभूषणरूप में परिणत होकर भी अविकारी ही रहता है, इसको अविकृत परिणाम कहते हैं। वैसे ही भगवान् अपनी करण रूप माया से जगत्रूप कार्य में परिणत होते हुए भी अविकारी ही रहते हैं, अर्थात् ब्रह्म, जगत्रूप होते हुए भी विकारी नहीं होते हैं, केवल पूर्व अवस्था में ब्रह्म कहे जाते हैं, और उत्तरावस्था में जगत् कहलाते हैं। यह माया का एक कार्य है, यह अविकृत-परिणामवाद कार्य श्रुति सम्मत् है जिससे परब्रह्म के सर्वभवन सामर्थ्य शक्ति का ज्ञान होता है।

---

१ माया, भगवान् की शक्ति है वा नहीं, इस विषय में।

२—युक्ति अयुक्ति से विषय को समझकर कार्य रूप में लाना।

३—यह मेरी गुणमयी दैवी माया ऐसी बलवती है, जिसको पार करना महा कठिन है।

४—अधिष्ठान उसको कहते हैं जो अधिष्ठाता को सत्तास्फूर्ति करावे।

दूसरा कार्य 'जलवत्' प्रतिबिम्बादि उत्पन्न कर जीवों को मोहित करता है। ऐसे सामान्य रूप से स्वरूप तथा कार्य का निश्चय कर अब ऐसे विशेष कार्य का निश्चय करते हैं।

माया को करण रूप कर, जगत् रचना भी कभी कभी होती हैं, इस प्रकार की प्रक्रिया पुराणों से ली गई है। श्रुति में कहीं भी माया का करणत्व नहीं कहा गया है, यह पौराणिक प्रक्रिया, भागवत् द्वितीय स्कन्ध के 'स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता माययाविभोः" श्लोक में तथा 'वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत्' श्लोक में कही गई हैं।

जगत् के निर्माण समय में सर्व प्रकार समर्थ प्रभु अपनी करणरूप माया शक्ति से जगत् की सर्ग, स्थिति तथा प्रलय के कार्य में सतो, रजो और तमो गुणों को ग्रहण करते हैं।

भगवान् के सत् चित् और आनंद के मलरूप जो सदंशात्मक सत्त्वगुण, चिदंशात्मक रजोगुण तथा आनन्दाशात्मक तमोगुण हैं उनके द्वारा जो नाना प्रकार की कृतियां की जाती हैं, उनमें यद्यपि माया का कर्त्तव्य दृष्टिगोचर होता है किन्तु उन गुणकृत कृतियों में वास्तविक प्रेरक व प्रयोजक कर्त्ता स्वयं प्रभु हैं। माया तो करणमात्र है, वह करणत्व भी भगवदाधीन ही है। इसके अलावा तीसरा कार्य पदार्थ का आच्छादन करना है, यह आच्छादन प्रतिकृति निर्माण, आवरण और विक्षेप इन तीनों द्वारा किया जाता है ॥३॥

निःस्वरूप कार्य तथा उसके साथ उनके धर्म भी सत्रूप देखने में आवे ये तीन ही माया है ॥४॥

भगवान् के कहे हुए श्रुति सम्मत भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्गानुसार तो जगत् रूप कार्य में भगवत्सम्बन्धित्व की स्फूर्ति होती है, तथा जगद्रूप माया द्वारा दीखता है, अतः मायिक है, इस प्रकार का ज्ञान माया के प्राबल्य से ही होता है, जैसे शुक्ति (सीप) में रजत, (चांदी) शङ्ख में पीतता, (पीलापन) आदि मिथ्या है, वैसे ही यह भी मिथ्या है, उन उनको वैसी ही स्फूर्ति होती है, इस तरह दो प्रकार का विभाग मायाकृत होने से 'माया' कहना उचित ही है।

इस विषय में कितने वादी ज्ञान और अर्थ दोनों का सार्वत्रिक अध्यास मानते हैं। उनके मत का अनुवाद करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि 'प्रतीति' भी मिथ्या हैं यों वे धर्म विचारक कहते हैं, और उनकी सिद्धि युक्त्याभासों तथा वाक्याभासों से करते हैं, किन्तु वे शास्त्र विरुद्ध होने से आदरणीय नहीं हैं, जबकि शास्त्र प्रमाणानुसार द्विविध कार्य का बोध होता है और वहां भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, सुख से हो तो ही कार्य प्रमाण सिद्ध हैं, तो फिर सर्वत्र अध्यास मानना श्रेष्ठ नहीं है ॥५॥

इस विषय को विशेष स्पष्ट करने के लिये इस छठी कारिका में कहते हैं कि वस्तु एवं मायिक का निर्णय शास्त्र से करना चाहिये, न कि प्रमाणाभास एवं युक्त्याभासों से करना चाहिये, ज्ञान होने पर भी, अर्थात् ज्ञान दशा में भी ब्रह्मवेताओं को जिस वस्तु का रूप सत्य (ब्रह्म रूप) दिखता है, वह सत्य ही माना जाता है, जैसा कि 'भगवद्रूपं विश्वं' कहा है अन्यत्र श्रुति में भी 'प्राणा वै सत्यंतेषामेष सत्यं' इत्यादि, अतः शास्त्रों से ही निर्णय करना उचित है ॥६॥

अब ७ वीं कारिका में माया को कहते हैं कि सब में 'मायामात्रं तु कात्स्न्येंत्' तथा 'मायामात्रामिदं ज्ञात्वा' एकादश स्कन्ध में जो कहा है वहाँ 'मात्र' अर्थात् केवल पद देने का भाव यह है कि वह लौकिकी स्फूर्ति केवल उतनी ही है, क्योंकि एक तो वह अस्थिर है और दूसरी उसकी कोई मूल (जड़) नहीं है, अतः वह माया कही जाती है ॥७॥

आठवीं कारिका में इसको विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में जहां कहीं 'मात्र' पद का प्रयोग किया गया है, वहाँ एक का ही निरूपण है, हरि की ही दोनों कृतियाँ हैं, इसलिये विक्षेपादि में माया का कर्तृत्व कहने मात्र से भगवान् के सर्व कर्तृत्व में हानि नहीं है, क्योंकि एक स्थान पर भगवान् प्रयोजक होते हैं, दूसरे स्थान पर कर्त्ता होते हैं, अतः रूपभेद से भगवान् का ही कर्त्तापन है, माया कभी एक में कारणमात्र होती है ॥८॥

जहां माया को 'करण' माना है वहाँ 'काशकृत्स्न' का मत स्थिर किया है ॥८½॥

श्लोक—एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः।
एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान् ॥४॥

श्लोकार्थ—प्रभु इसी तरह भूतों (देहों) की रचनाकर और उनमें पञ्च महाभूतों से प्रवेश कर, अपने को ही अन्तःकरण रूप और दशइन्द्रिय रूप बनाकर गुणों (विषयों) का भोग करते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—भोगमाह, स्वार्थं **सृष्टानि भूतानि** देहान् महाभूतैः सह **प्रविष्टो** देवानामिन्द्रियाधिष्ठात्तणामभावादात्मानमेवान्तःकरणेन्द्रियरूपेण **विभज्य** विषयान् सेवत इत्यर्थः ॥४॥

व्याख्या—आत्मा किस प्रकार भोग करता है जिसका वर्णन करते हैं, अपने क्रीडार्थ[1] ही बनाई हुई देहों में पञ्चमहाभूतों द्वारा वस्त्र में तन्तुओं की तरह प्रविष्ट होकर अपने को ही अन्तः-करण और इन्द्रियों बनाकर स्वयं विषयों को भोगते हैं, क्योंकि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव अन्य कोई नहीं है, अतः स्वयं अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ बनकर भोग करते[2] हैं ॥४॥

श्लोक—गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥५॥

श्लोकार्थ—अपने प्रकाशित गुणों से विषयों को भोगते हुए वे प्रभु (अंशात्मा प्रभु) इस सृजित देह को ही अपना स्वरूप समझकर अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। जिससे इस लोक में आसक्त हो जाते हैं ॥५॥

१—भोगार्थ २—यहां काशकृत्स्न का मत स्थिर किया है। भोग तो आत्मरूप से गुणों द्वारा होता है।

सुबोधिनी—आसक्तिमाह, पूर्वं ह्यनासक्तस्तदा स्वयं **प्रभुरेवेन्द्रियैर्विषयान् भुञ्जानो** भवति, ननु भोगे सत्यायातं विषयपारवश्यं, नेत्याहात्म**प्रद्योतितै**रिती, **प्रद्योतनमेव** पालनं च, आत्मनेपदेन तादृशो भोगोपि, अत एव **प्रभुरिदमा निर्दिष्टमात्मानं मन्यमानः** स्वस्य गत्यन्तरं विस्मृत्ये**हैव सज्जते** ।।५।।

व्याख्या—इस श्लोक द्वारा उन (अंशात्मा प्रभु), जो गुणों से गुणों को भोगते हैं उनकी आसक्ति का प्रकार कहते हैं जो प्रभु सृष्टि से पहले अनासक्त थे, वे प्रभु सृष्टि उत्पन्न करने के अनन्तर किस प्रकार आसक्त बनते हैं जिसका वर्णन करते हैं।

प्रभु सर्व समर्थ हैं, अतः स्वरूप से किसी तरह भी विना प्रच्युत हुए इन्द्रियों से विषयों का भोग करते हैं, गुणों से गुणों का भोग करने पर भी स्वरूप से प्रच्युत नहीं होते हैं। अप्रच्युत रह कर ही जैसी सृष्टि[१] है, वैसा भोग करते है, यह स्वारस्य 'भुञ्जानः' पद का है।

भोग भोगने से तो विषयाधीनता प्राप्त होती है इस शङ्का का निवारण करते हैं कि, जिन गुणों से भोग भोगते हैं, वे आपके ही पालन पोषण (प्रकाशित) किये हुए हैं, अतः प्रभु विषयों के आधीन भी नहीं होते हैं, ये गुण प्रभु प्रद्योतित होने से क्षणिक भी नहीं है, किन्तु भोग बहुत समय करते हुए अपने परमगति (परम एवं अनासक्त स्वरूप) को भूल जाते हैं, जिससे इस लोक में (मायिक सृष्टि में) आसक्त होकर देह को ही अपना रूप समझ वैठते हैं ।।५।।

श्लोक—**कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत् ।**
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम् ।।६।।

श्लोकार्थ—कर्मेन्द्रियों से वासनारूप निमित्तवाले कर्मों को करता हुआ वह प्रभु (अंशात्मा) स्वयं होने पर भी देहधारी प्राकृत जीव सम होकर किये हुए कर्मों का फल सुख की आशा में, दुःख ही भोगता है, जैसे मजदूर भार ढो-ढो कर दुःख को ही भोगता है ।।६।।

सुबोधिनी—अस्वातन्त्र्ये सिद्धे **प्रवाहसिद्ध्य**र्थमुपायमाह, भोगस्तु शान्त इव, **कर्मेन्द्रियैः** सवासनानि **कर्माणि** कृत्वा स्वयं च **देहभृत्** प्राकृतजीवो भूत्वा **कर्मणा** जनितं मज्जूरवत् **फलं गृह्णन्** नानाविधक्लेशाननुभवन्नत्रैव **भ्रमति, सुखग्रहणं** च प्रयावृत्तौ हेतुः ।।६।।

व्याख्या—इस प्रकार आत्मा परतन्त्र होने से प्रवाही हो जाता है, जिसका उपाय (साधन) कहता है–यद्यपि उसके भोग तो शांत होने से निवृत्तसम हो गये हैं, तो भी कर्मेन्द्रियों से वासनापूर्वक कर्म करता हुआ केवल देह के धारणार्थ उसका ही पोषण करता है, जिससे प्राकृत जीव सा हो जाता है

१—मायिक सृष्टि अतः भोग भी मायिक है।

है, कर्म करने से उत्पन्न दुःखरूप फल मजदूर की तरह भोगता हुआ अनेक प्रकार के क्लेशों का अनुभव करते यहां[1] ही भटकता है, सुखकी आशा ही पुनः जन्मादिक हेतु हैं ॥६॥

श्लोक—**इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् ।**
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेवशः ॥७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जीव, बहुत क्लेशदायी कर्मानुसार देहों को धारण करता हुआ परवश बन जाता है, और भूतों के महाप्रलय होने तक जन्म मरण के फल को भोगता रहता है ॥७॥

सुबोधिनी—तस्य प्रवाहनिमज्जनमुपसंहरति, **कर्मगति**भेदाः पूर्वमेव प्रपञ्चिताः, **अभद्र**मेव **वहन्तीति** पञ्चमस्कन्धोक्ताः, महा**प्रलय** एवावधिर्न तु कर्मसमाप्तिः, **सर्गप्रलयावु**त्पत्तिमरणे ॥७॥

व्याख्या—यों उस जीव को संसार प्रवाह में डूबना पड़ता है कहकर उस विषय का उपसंहार किया है—पहले तृतीय स्कन्ध एवं पञ्चम स्कन्ध में कर्मगति के भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, एवं कर्म कीं गतियों से किस प्रकार क्लेशादि दुःख भोगे जाते हैं, जिनका भी पंचम स्कन्ध में वर्णन किया है । महाप्रलय में भी कुछ समय के लिये कर्म की विश्रान्ति होती है, न कि कर्म की समाप्ति होती है ॥७॥

श्लोक—**धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।**
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥८॥

श्लोकार्थ—जब महाप्रलय[2] होने का समय निकट आता है तब जन्म और विनाश से रहित काल, द्रव्य[3] और गुणात्मक[4] प्रकट विश्व को मूल प्रकृति में तिरोहित करने के लिये खेंचता है ॥८॥

सुबोधिनी—तस्यावनिरूपणार्थं प्रलयमाह **धातूपप्लव** इत्यादित्रिभिः, तत्र केन भगवत्कृतमाह, **उपप्लवासन्नता** द्विपरार्धावसाने भगवदिच्छया वा, **द्रव्यगुणात्मक**मिति लौकिकसिद्धान्तसिद्धाः पदार्था उक्ताः, तस्य वेदनानभिज्ञत्वाया**नादिनिधन** इत्युक्तं, तिरोभावार्थं प्रयत्न इत्यर्थः ॥८॥

व्याख्या—जिस महाप्रलय में कर्मगति को विश्राम प्राप्त होता है उसका वर्णन करते हैं, इस श्लोक में भगवत्कृत प्रलय का वर्णन करते हैं ।

१—प्रपञ्चप्रवाह में भ्रमण करता है ।

२—धातु-पञ्चमहाभूतों का प्रलय । ३—पृथ्व्यादि स्थूल द्रव्य ।

४ सूक्ष्म शब्दादि रूप प्रपञ्च का ।

जब दोपरार्ध का काल पूरा होता है अथवा भगवदिच्छा से महाभूतों के प्रलय का समय निकट आता है, तब जन्मनाश रहित काल, पृथिव्यादिस्थूल और सूक्ष्मशब्दादिरूपों[1] से व्यक्त विश्व को अव्यक्त[2] की तरफ खींच लेता है ॥८॥

श्लोक—**शतं वर्षाण्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।**
तत्कालोपचितोष्णोर्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति ॥९॥

श्लोकार्थ—जब वह महाप्रलय का समय निकट आने लगेगा तब पृथ्वी पर सौ वर्ष पर्यन्त अनवच्छिन्न (अत्यन्त) अनावृष्टि होगी, अर्थात् वर्षा का एक कण भी शत-वर्ष में नहीं गिरेगा, और सूर्य उस समय ऐसा भीषण तपेगा जिससे तीनों लोक जलने लगेंगे ॥९॥

सुबोधिनी— कार्यप्रलयप्रकारमाह, चतुर्भि-र्व्यष्टीनामभाव उक्तो भवति समष्टेर्दाहनप्लावनाव-ग्रिमाभ्यां ततः पुरुषगमनमिति, अभावस्यापि जगन्नाशकत्वादुल्बणेत्युक्तं, **उपचितश्चासा-वुष्णश्च** ॥९॥

व्याख्या—इस ९ वें श्लोक से लेकर चार श्लोकों में कार्यप्रलय का प्रकार कहते हैं। उन चार में से पहले श्लोक में व्यष्टियों का अभाव दिखाया है, आगे के २ श्लोकों १० वें-११ वें में समष्टि को जलाना तथा डुबाना कहा है। बारहवें श्लोक में वैराज पुरुष विराट् देह का त्याग करता है और अव्यक्त में प्रविष्ट हो जाता है, १०० वर्ष वर्षा का अभाव होता है, जिसके कहने का आशय यह है कि अभाव भी जगत् नाश करने में समर्थ है इसलिए 'उल्बण' शब्द देकर वर्षा के अभाव की भयंकरता दिखाई है, तथा सूर्य वृद्धि तथा ज्योति उष्णता धारण करने से अतिशय उष्ण हो गया है जिससे वह सूर्य जगत् को अतीव सन्तप्त करता है ॥९॥

श्लोक—**पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।**
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः ॥१०॥

श्लोकार्थ—सङ्कर्षण भगवान् के मुख की अग्नि पातालतल से प्रारम्भ होकर वायु से प्रेरित ऊँची-ऊँची (लम्बी २) शिखाओं से चारों दिशाओं को जलाता हुआ बढ़ता ही जाता है ॥१०॥

सुबोधिनी—दाहमाह, पूर्वंशतवर्षमध्य एवास्य प्रवेशः ॥१०॥

१—ये पृथ्व्यादि स्थूल और शब्दादि सूक्ष्म में लौकिक सिद्धान्त सिद्ध पदार्थ है ।
२—मूल प्रकृति में लय कर देता है ।

व्याख्या—प्रलय समय में सङ्कर्षण मुख की अग्नि का दाहार्थ प्रवेश १०० वर्ष में होता है ॥१०॥

श्लोक—**संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।**
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥११॥

श्लोकार्थ—प्रलयकारी संवर्तक मेघगण शत वर्षपर्यन्त हस्ती के शुण्ड के समान जल की धाराएं बरसायेंगे जिस जल में ब्रह्माण्ड लीन हो जायेगा ॥११॥

सुबोधिनी—प्लावनमाह, कालस्याधिदैविकस्याध्यात्मिकरूपा मेघाः, विराड्विलयो दग्धगोमयपिण्डवत् ॥११॥

व्याख्या—इस श्लोक में सङ्कर्षण मुख की अग्नि से दग्ध सृष्टि का जल में डूबना (विलयपाना) कहते हैं, ये संवर्तक मेघ आधिदैविक काल के आध्यात्मिक[1] रूप हैं, विराट् रूप ब्रह्माण्ड (सृष्टि) का विलय दग्धगोमयपिण्ड[2] के समान है ॥११॥

श्लोक—**ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।**
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! जब ब्रह्माण्डरूप उपाधि जल में विलय हो जाता है, तब उपाधि रहित होने से वैराज पुरुष उसका त्याग कर सूक्ष्म अव्यक्त[3] स्वरूप में प्रवेश करता है, जैसे काष्ठ रहित अग्नि अपने सूक्ष्म मूल रूप में अन्तर्हित होती है ॥१२॥

सुबोधिनी—ततः पुरुषगमनमाह, अधिकारिपुरुषत्वज्ञापनाथाव्यक्ते लय उक्तः, अयमप्येकः प्रकारो न त्वयमेव ॥१२॥

व्याख्या—इस श्लोक में कहा गया है कि वैराज पुरुष, विराट् ब्रह्माण्ड देह का त्याग कर अव्यक्त में लय होता है, क्योंकि वह अधिकारी पुरुष है–प्रलय के अनेक प्रकारों में से यह भी एक प्रकार है ॥१२॥

श्लोक—**वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।**
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥१३॥

१—संवर्तक मेघ आधिदैविक काल के आध्यात्मिक रूप कहने से यह स्पष्टीकरण किया गया है कि सूर्य काल का आधिभौतिक रूप है ।

२—दग्धगोमयपिण्डवत् कहने का आशय यह है कि जैसे द्वादश स्कन्ध में प्रलय में अवयव विशरण कहा है वैसे ही यहाँ भी हुआ है ।

३—समष्टि जीव स्वरूप ।

श्लोकार्थ—वायु पृथ्वी का गन्ध खींच लेता है तब वह जलरूप हो जाती है। इसी प्रकार काल जल का रस गुण जब खींच लेता है तब वह अग्नि में लीन हो जाता है, अर्थात् अग्निरूप हो जाता है ।।१३।।

सुबोधिनी—सार्धद्वयेन महाभूतानां लयमाह, व्यावर्तको धर्मो गन्धः, **वायुना** च तस्य हरणं सिद्धं, अनुक्त कालएव **संवर्तकः** ।।१३।।

व्याख्या—भूमि के अन्य तत्त्वों से पृथक् पहिचान कराने वाला गुण प्रथम आशय 'गन्ध' है। इस भूमि के व्यावर्तक गन्ध धर्म को वायु खींच लेती है, यह प्रसिद्ध ही है कि वायु गन्ध को खींचती है, अतः प्रलय के समय में जब वायु पृथ्वी के गन्ध गुण को खींच लेती हैं, तब वह जलरूप हो जाती है, एवं उसकी श्यामरूपतापरण तिरोहित हो जाती है। इसी तरह अन्य जल आदि महाभूतों का भी लय कहा है। जल के रस गुण को कौन खींचता है वह स्पष्ट नहीं कहा गया है किन्तु 'तद्धृतरसं' पद में कहे हुए तत् शब्द से काल समझना चाहिये, अर्थात् जल का रस काल ने चूस लिया, जिससे वह तेजोरूप हो जाता है ।।१३।।

श्लोक—**हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।**
हृतस्पर्शोवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ।।१४।।

श्लोकार्थ—आधिदैविकतम द्वारा रूप के हरण हो जाने पर ज्योति वायु में लीन होती है, अनन्तर अवकाश वायु के स्पर्श गुण को खींच लेता है, जिससे वायु आकाश में विलय हो जाती है ।।१४।।

सबोधिनी—तमोगुणस्य तामसं रूपं **तमः**, आधिदैविकमत्र गृह्यते, कार्यानाधारौ देशकाला **ववकाश**शब्देनोच्येते तत्र देशेन स्पर्शनाशो लोकेपि देशावकाशेन स्पर्शो भवतीति कालत्मनेत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च ।।१४।।

व्याख्या—तमोगुण का तामसरूप 'तम' है, यहाँ वह तम तमोगुण का आधिदैविक[1] रूप ग्रहण करता है। कार्य, के जो आधार नहीं है ऐसे देश तथा काल का 'अवकाश' शब्द से व्यवहार किया जाता है, वहां देश से स्पश का नाश होता है लोक में भी देखा जाता है तो देश अवकाश से स्पर्श होता हैं, कालात्मक से जो होगा, वह आगे के श्लोक में कहा जाएगा ।।१४।।

श्लोक—**कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।।१४½।।**

श्लोकार्थ—कालात्मा द्वारा गुणों के खींचे जाने से आकाश आत्मा में लीन होता है ।।१४½।।

१—यह 'तम' (अंधकार) सत्य वस्तु है, अतः इसको आधिदैविक कहा गया है। (प्रकाश)

सुबोधिनी—कालात्मनावकाशेन, **कालेन** हि | शब्दो नश्यति ॥१४½॥

व्याख्या—काल रूप अवकाश से अर्थात् काल द्वारा शब्द गुण नष्ट होता है जिससे आकाश आत्मा में लीन हो जाता है ॥१४½॥

श्लोक—**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।**
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५½॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियाँ मन और बुद्धि अपने अधिष्ठाता देवों सहित अहंकार में प्रवेश करते हैं, और फिर अहंकार गुणसहित आत्मा (जीव) में प्रवेश करता है॥१५½॥

सुबोधिनी—शिष्टस्य लयमाह, **आत्मनि** जीवे, नायं प्राकृतिको लयः किन्तु केवलमायाकृतः, मायावैभवे ह्यस्य बहुविषयत्वं, अन्यत्रापि क्वचिदेकदेशेनापि शब्दप्रयोगो यथैन्द्रजालिक, मन्त्रगता हि सा, अङ्गेषु स्थिता स्वल्पविषया भवति, अस्याः कार्यं मुख्यं व्यामोहः, पदार्थश्चानुभवश्च त्रयमत्र सम्भवतीति सम्पूर्णा उक्ताः ॥१५½॥

व्याख्या—शेष रहे हुओं का लय कहते हैं–'आत्मनि' पद से यहां जीव लेना है, अर्थात् इस श्लोक में कहे हुए इन्द्रियों से लेकर गुण सहित अहंकार का लय जीव में होता है, कारण कि यह प्राकृतिक[1] लय नहीं है, किन्तु केवल मायाकृत[2] लय है, मायावैभववाली[3] होने के कारण बहुत विषयवाली है अन्यत्र भी वहां एक देश से भी माया शब्द का प्रयोग होता है जैसे ऐन्द्रजालिक, वह मन्त्रगत है, अङ्गों में स्थित होने से स्वल्प विषया होती है, इस माया का कार्य व्यामोह है, तथा पदार्थ, सृजन और उनका अनुभव ये तीनों यहां होते हैं, इसलिये यहां सम्पूर्ण कहे हैं ॥१५½॥

श्लोक—**एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।**
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१६½॥

श्लोकार्थ—जगत् की सर्ग (उत्पति), स्थिति (पालना) और अन्त (प्रलय) करने वाली, त्रिगुणोंवाली, भगवान् की माया शक्ति का वर्णन किया, इसके अनन्तर क्या सुनना चाहते हो ? ॥१६½॥

सुबोधिनी—उपसंहरति, स्वरूपतो हि सा शक्तिर्निर्वक्तुमशक्या, **आकृत्या स्त्रीरूपा** भगवतः पुरुषत्वे सौन्दर्यातिशयेन मुग्धा भवन्तीति मूले न स्वाभाविको दोषः, अत आह **किं भूयः श्रोतुमिच्छसीति** ॥१६½॥

१—पुरुष और अव्यक्त शक्ति के लय न कहने से केवल मायिक अतः प्राकृतिक नहीं है ।
२—एषा माया भगवतः सर्गं स्थित्यन्तकारिणी, यह भगवान् की माया सर्ग स्थिति और लय करती है इस वाक्यानुसार वह मायाकृत लय होने से मायिक है । ३—प्रवाह ।

व्याख्या–इस श्लोक में इस माया के, कार्य लक्षण से पहचान कराई गई है, क्योंकि स्वरूप से इसकी पहिचान करानी अशक्य है। यह त्रिगुण वाली भगवान् की माया शक्ति इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली है। यह इसका कार्य लक्षण है। यह माया आकृति से स्त्रीरूपा है, उस माया का भर्तृत्व भगवान् में है, अर्थात् उसके भर्ता (पति) भगवान् हैं माया की अतिशय सुन्दरता स्त्रीत्व में होने से सर्व लोक स्त्रियों पर मोहित होते हैं, इससे मूल शक्ति माया के स्वरूप में स्वाभाविक दोष नहीं होता है, इसलिये कहते हैं कि फिर क्या सुनने की इच्छा है ?

कारिका—**श्रीरूपत्वाद् धृतं रूपमाकृतिः स्त्री निगद्यते।**
स्वभोगाय तथा दैत्यमोहाय च सदा हि सा ॥१॥

प्रभुसेवकरीत्या हि भक्तिमार्गे निरूपणम्।
श्रुतीनामन्यथारीतिर्न दूषणमिहाण्वपि॥२॥

बीजसंस्कारकृपया नान्योन्याश्रयणं मतम्।
सर्वे मार्गा विलीयेरन् सा चेत् तत्र तथा न हि ॥३॥

अंशपक्षे न दोषोस्ति ह्यवस्थायां तु सा रतिः।
मर्यादापुष्टिमार्गेण मुक्त्यर्थं निन्द्यते परम् ॥४॥

अतस्तद्विषयोल्लङ्घ्यः प्रष्टव्यश्चेत् तदुच्यते ॥४½॥

कारिकार्थ—मूल शक्ति स्वरूप की आकृति क्या है, जिसका निर्धारण करते हैं कि 'श्री' रूप है, अतः वैसी आकृति धारण की है, वह आकृति 'स्त्री रूपा' है अर्थात् आनन्दरूपी हुई है क्योंकि अपने (भगवान् के) भोगार्थ आनन्द रूप की है, वह माया रूप से सदैव दैत्यों (आसुरी जीवों) को भ्रमित करती है। इस कारिका में माया की मर्यादा और प्रवाह मार्ग के स्वरूपों को कहकर दूसरी कारिका में पुष्टि स्वरूप कहते हैं ॥१॥

भक्तिमार्ग में वह माया प्रभु की सेविका बन कार्य करती है, जिससे मर्यादा मार्ग अथवा पुष्टि मार्ग में वह बाधक नहीं होती हैं, तब श्रुति गीत में 'जय-जय' कहकर जो प्रार्थना की है उससे विरोध आता है। जिस विरोध को मिटाने के लिये आचार्य श्री कारिका के उत्तर पद में कहते हैं कि 'श्रुतीनां अन्यथा रीतिर्नदूषणमिहाण्वपि' ॥२॥

श्रुतियों की रीति दूसरे प्रकार की है, अतः यहां अणुमात्र भी दूषण नहीं है। कारण कि श्रुतियों को प्रार्थना करने में ही अधिकार है और इस मायाशक्ति का मोह करने में अधिकार है इसी तरह कार्य विरोध होने से दोनों में (माया और श्रुतियों में) सापत्न्याभाव आजाने से दोनों का कार्य पृथक् है— अतः अपने प्रभु को आज्ञा परिपालन करने से दोनों को लेश भी दोष नहीं लगता है ॥३॥

बीज में ही कृपा का संस्कार होने अन्योन्याश्रयण नहीं माना गया है, वह कृपा जीव में बीज रूप से न हो तो सर्वमार्ग विलय को प्राप्त हो जावे।

श्रुतिगीत में 'जय-जय जह्यजां' इस प्रार्थना में मायानाश की प्रार्थना, इस वाक्य की उपपत्ति नहीं होगी, और 'योगमायामुपाश्रितः' इस उक्ति की भी उपपत्ति नहीं होगी। इस शंका का समाधान आचार्य श्री व्यवस्थापूर्वक ४ कारिका से करते हैं कि 'मर्यादापुष्टि मार्ग रीति से विचार करने पर अंशपक्ष में कोई दोष नहीं रहता है। उसको अवस्था में तो रतिरूपा कहा गया है, रतिरूपा भावात्मिका होने से भगवद्रूपा है।

कृपा, माया से अंशतः जीवोपकार कराती है, एवं अमुक अंश से माया का नाश भी कराती है। इस प्रकार होने से सर्व शास्त्रसामंजस्य होता है जिससे कहा हुआ दोष सिद्ध नहीं होता है तथा पुष्टि मार्ग में भी पूर्वपक्ष के निरास हो जाने से दोष निवृत्ति है।

भक्तों की जो सात्त्विक, राजस और तामसावस्था में वह 'रति' जब उत्कट अनुराग रूपा बन जाती है, तब विचार करने पर समझ में आ जाता है कि मर्यादापुष्टिमार्ग में कहीं भी दोष लेश नहीं है, क्योंकि सर्व सामञ्जस्य हो जाता है।

परन्तु भगवान् गुणातीत होने से वहां सायुज्य प्रकाश शक्ति भी 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' इस प्रमाण से होती है। वह सतोगुण सुख पूर्वक विषयासक्ति कराकर जीव को बन्धन में डालता है, इसलिये सर्वांश से मुक्ति के लिये निन्दा की जाती है ॥४॥

अतः उन विषयों का उल्लङ्घन करना आवश्यक है, इसके बारे में पूछना हो तो पूछिये। पूछने पर कहा जायगा ॥४½॥

इस विषय में यह विशेष जानना चाहिये 'रति' आनंदशक्ति है, क्योंकि 'प्रियत्व' उसका धर्म है, सृष्टि दो प्रकार की है (१) स्वार्थ (अपने लिये) (२) परार्थ (दूसरों के लिये) यों दो प्रकार होने से सर्व रस भोक्ता रसेश्वर प्रभु के भोग विचित्रता के लिये जो जो तामसादि भाव है, वे भी रति (आनंदशक्तियों) में व्याप्त होने से, अन्तर्यामि न्यायवत् भगवान् में ही व्याप्त है इसलिये भगवद्रूप है, जैसे लोहे के गोले में अग्नि व्याप्त होतो है, इस कारण से ही प्रभुचरणों ने भक्ति के भावों को भगवद्रूप कहा है, और आचार्य श्री ने अपने इस पुष्टि मार्ग को निर्गुण कहा है, इसलिये शङ्का का कोई भी अंश नहीं है ॥१६½॥

॥ कारिकाशय प्रकाशानुसार ॥

राजोवाच—श्लोक—**यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तयजामकृतात्मभिः।**
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७½ ॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने अपने अन्तःकरण का भगवत्परायण नहीं किया है और जो देह को ही आत्मा मानने वाले हैं वे ईश्वर की शक्ति रूपा दुस्तर इस माया को जिस सुगम उपाय से पार कर जावे वह उपाय कहिये, इस उपाय को कहने के योग्य आप ही हैं क्योंकि आप महान् ऋषि हो ॥१७½ ॥

सुबोधिनी—तदेवाह, 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूया' दिति प्रश्नः, वेलाकूलान्तवेगित्वा**दकृतात्मभि**रित्युक्तं, **स्थूलधिय** इति 'मामेव ये प्रपद्यन्त' इत्यपि निराकृतं, अलौकिकतापहारी हि **महर्षिः**, प्रतिपुरुषमुपायपरिज्ञानादेक एव निर्धारितमेकमुपायं वक्तीत्येकवचनं, **स्थूलधियो** बहिर्मुखा ज्ञानभक्तिरहिता इत्यर्थः, तत्र **स्थूलधियां तरणो**पायो वक्तव्यः, 'मामेव ये प्रपद्यन्त' इत्येवकारेण 'सर्वेषामनुपायत्वं' प्रतीयते, **स्थूलबुद्धि** स्थापयित्वैवोपायो वक्तव्य इति नाग्रहः किन्तु **स्थूलबुद्धी**नामपि यथा **तरणं** सिध्यति तथोपायो वक्तव्यः ॥१७½॥

व्याख्या—बिना पूछे किसी को नहीं कहना चाहिये (ऐसा सिद्धान्त है) इसलिये राजा प्रबुद्ध योगेश्वर से पूछता है कि यह माया ऐसी प्रबल है जो भगवत्प्राप्ति के निकट पहूंचे हुए तपस्वी आदि महापुरुषों को भी काम क्रोध आदि द्वारा प्रवाह में पटक देती है तो जिन्होंने अन्तःकरण को भगवत्परारण नहीं किया है और स्थूल देह को ही अपनी आत्मरूप समझ बैठे हैं, एवं ज्ञान भक्ति रहित होने से प्रवाह में पड़े हुए हैं, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' यह उपाय सर्व जनीन नहीं है, केवल शरणागतों के लिये है, अतः आप महर्षि हैं, सर्वतापहारी हैं उसलिये आप प्रत्येक के लिये सरल माया से तरने का उपाय बता सकते हैं; अतः केवल स्थूल बुद्धि का शरणागत ही माया को पार कर सके वह उपाय नहीं कहिये किन्तु सर्व प्रकार के बुद्ध एवं अबुद्ध भी जिस एक ही उपाय से माया के पार पहुँच भगवदानंद प्राप्त करें वह सरल एव सहज उपाय कहिये ॥१७½॥

प्रबुद्ध उवाच—श्लोक—**कर्मण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।**
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम ॥१८½ ॥

श्लोकार्थ—राजा के इस प्रकार प्रश्न करने पर प्रबुद्ध योगेश्वर कहने लगे कि नारायण के परायण होना ही उपाय है भगवत्परायण होने का साधन भक्ति है जिसको समझाने के लिये पहले कहते हैं कि जो स्त्री के साथ रह कर गृहस्थी बन के दुःखो के नाश करने को एवं सुख प्राप्ति के लिये बार-बार कर्म करते हैं, किन्तु उन कर्मों का फल उलटा ही होता है, यह देखकर भी मोह का त्याग एवं विवेक की जानकारी प्राप्त नहीं करते हैं ॥१८½ ॥

सुबोधिनी— तत्रोपायो नारायणपरत्वमेव, तद् भक्त्या, सा च भगवद्धर्मैर्भगवच्छास्त्रे साधनत्वेन प्रतिपादितैः, ने च गुरुसेवया, सा च गुरुशरणं गतस्य, तच्छरणगमनमैहिकामुष्मिकफलभोगविरागाभावे न भवति "न तस्य तत्त्वग्रहणाये" तिवचनात्, तत्रैहिकवैराग्यं स्त्रीधनभेदेन, तत्र 'लौकिकानि कर्माणिस्त्रियं च परित्यजे'त्युक्ते न परित्यजत्यनुभवस्य बलिष्ठत्वात्, अनुभवमेवाह **नृणामिति** लौकिकानां, **मिथुनीचारिणा**मित्याग्रहः, प्रथमतः 'सुखमस्यात्मनो रूप'मितिन्यायेन **कर्मारम्भ** एव विपरीतं भवति **कर्माणी'** तिबहुवचनात् पुनःपुनरारम्भः कर्मणा **दुःख**मित्यनुभवः, सुतरां फलाभावे, अपेक्षित**सुख**कालोपि पुनःपुनरारम्भे गच्छति, **विपर्यासमेव पश्येत्**

व्याख्या—सबके लिये एक ही सरल सहज उपाय भगवत्परायण होना है, भगवत्परायण होने का साधन भक्ति ही है, वह भक्ति कैसे हो, उसका उपाय है, भगवत्शास्त्र में साधन रूप से कहे हुए भगवत् धर्मों का ज्ञान प्राप्त करना, उनका ज्ञान गुरु-सेवा से होता है, वह किसको प्राप्त होती है ? जो गुरु की शरण लेता है। मनुष्य गुरु की शरणागति तब प्राप्त कर सकता है, जब इस लोक के सुख और परलोक के सुखों से वैराग्य प्राप्त कर लेता है। 'न तस्य तत्त्वग्रहणाये' इस शास्त्र वचन से यह निश्चित है कि वैराग्य के सिवाय कार्यसिद्धि नहीं होती है, इसमें इस लोक का वैराग्य दो प्रकार से करता है एक स्त्री से, दूसरा धन से लौकिक कर्म और स्त्री के छोड़ने से वैराग्य हो, किन्तु वे छोड़े नहीं जाते हैं, क्योंकि कर्म करते हुए एवं स्त्रीसङ्ग का अनुभव करते हुए व्यसन हो गया है। लोक में स्त्री के बिना अकेले कैसे रहा जायगा ? इसलिये स्त्री के साथ ही रहने का आग्रह हो गया है। पहले उसको यही दृढ़ आग्रह हो जाता है, आत्मा (देह) का रूप सौन्दर्य में ही सुख है, जिससे कार्यों का आरम्भ ही विपरीत होता है, जिससे सुख के बदले दुःख को ही प्राप्त करता है। बार-बार कर्म करने से सुख को भी कभी दुःख में परिणत करता है।

कारिका—**उपक्रमानुरोधेन स्वयं चापि तथाविधः ।**
स्वस्याबाधकता वाच्या परस्त्वध्रुव एव हि ॥१॥

प्रवाहात् तु पृथग् ज्ञानं प्रतिकर्म व्यवस्थितिः ।
शास्त्रतः सर्वनिर्धारो यस्य तस्येदमुच्यते ॥२॥

प्रवाहपतिता नात्र विचार्या इति मे मतिः ॥२½॥
एवं स्त्रीतत्सङ्गिपरित्याग उक्तः ॥१८½॥

कारिकार्थ—प्रारंभ में पूछे हुए प्रश्न के अनुसार, राजा स्वयं भी स्थूल बुद्धिवाला है, अतः राजा को भी मायो रुकावट न करे ऐसा उपाय बताने की कृपा चाहता है। प्रवाह पतित जीव तो अधिकारी है ही नहीं, क्योंकि उसके लिये श्रुति कहती है कि 'जायस्व म्रियस्व (छा० उ० ५-१०-८)' तू जन्म ले, फिर मृत्यु को प्राप्त कर, यों प्रवाह में चक्कर लगाता रह, इसलिये ऐसा जीव अधिकारी हो नहीं सकता है, यदि वह अधिकारी नहीं हो सकता है तो किस प्रकार का जीव अधिकारी होगा ? इस शङ्का का निर्णय 'प्रवाहात्' पृथक् कारिका में करते हैं। ज्ञान को तो प्रवाह से पृथक् प्रत्येक कर्म के विषय में निर्णय करना पड़ता है। कर्म दो प्रकार के हैं- १) नित्य कर्म तथा २) काम्यकर्म हैं, नित्यकर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिये **और काम्यकर्म** से निवृत्ति लेनी चाहिये। यह निर्णय शास्त्रानुसार ही है इस शास्त्राज्ञा को मानने वालों के लिये ही यह कहने में आया है, जो जीव प्रवाह में पड़े हैं, उनका वहां विचार ही नहीं करना चाहिये, ऐसी अपनी सम्मति आचार्य श्री देते हैं ॥१८½॥

श्लोक—**नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।**
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९½॥

श्लोकार्थ–नित्य पीड़ा देने वाले दुर्लभ जिसे प्राप्त करने में मृत्यु भी हो जाती है और फिर नश्वर (नाशवान) भी है, ऐसे धन से किसी प्रकार का सुखादि लाभ नहीं है तो उससे

प्रीति क्यों की जाय ? अर्थात् उससे प्रेम करना व्यर्थ है, यदि कहो कि सदा धन के ही सहारे से गृहस्थ चलता है, जिससे ही गृह सन्तति बन्धक, पशु आदि सुख के साधन मिलते हैं, इसलिये इससे प्रेम करना चाहिये तो यह कहना भी व्यर्थ है। क्योंकि गृहादि भी नाशवान और चलायमान होने से वास्तव में, अंत में दुःख ही देते हैं। अतः धन से तथा इनसे प्रीति करने में लाभ नहीं है ॥१९३॥

धनपरित्यागमाह,

कारिका—**तद्धि चिन्तनमारभ्य विनाशावधि दुःखदम् ।**
मृत्युस्तु सुलभो लोके दुर्लभं धनमेव हि ॥१॥

एवमपि मृत्युरूपं, एतादृशेन का प्रीतिः ? तेन साधितैर्रा ?
ममतास्पदाश्चत्वारोन्येषामेष्वेवान्तर्भावात् ॥१९३॥

कारिकार्थ—धन को उसका विचार करने के समय से उस (धन) का नाश हो जाने तक सर्व को दुःख देता ही रहता है। लोक में मृत्यु सुलभ है किन्तु धन दुर्लभ है किन्तु यह धन अन्त में मृत्युप्रद ही होता है, ऐसे धन से एवं ममतास्पद गृहादि से प्रेम करना मूर्खता ही है। कारण कि वास्तव में धन स्वयं मृत्यु रूप ही है जिससे सुखाशा मृगतृष्णा जैसी ही है ॥१९३॥

श्लोक—**एवं लोकं परं विद्यान् नश्वरं कर्म निर्मितम् ।**
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०१ ॥

श्लोकार्थ—जैसे इस लोक का कर्म-निर्मित (कर्म द्वारा पाया हुआ) फल नाशवान् है, वैसे ही परलोक का भी कर्म निर्मित फल नाशवान् है। जैसे मण्डलेश्वर राजा भी समान श्रेणीवालों के साथ स्पर्धा (डाह) करते हैं, उत्कृष्ट श्रेणीवालों से ईर्ष्या करते हैं, अधिक उत्कृष्ट (उत्तम) राजाओं से उन (मडण्लेश्वर राजाओं) के नाश का भय रहता है। वैसे ही पुण्यात्माओं में भी परस्पर स्पर्धा ईर्ष्या रहती हैं विशेष पुण्यावस्था में ईर्ष्यालु देव हमारे सुख का ध्वंस (नाश) करेंगे, ऐसा भय रहता है, तात्पर्य यह है कि कर्म मार्ग में दुःख ही है, अतः इससे भी वैराग्य करना उचित है ॥२०१ ॥

कारिका—**भूम्यादिवृत्तयः सिद्धाः साध्यानां गृहशेषता ।**
देहे तु यस्य वैराग्यं स पूर्वत्र निरूपतिः ॥१॥

कारिकार्थ—जो लौकिक आजीविकादि गृहस्थ के कार्य चलाने के लिये कृषि आदि वृत्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे अस्थिर हैं, अन्य साध्य पदार्थ भी गृह का अंग होने से चलायमान हैं, यों बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है अतः अस्थिर (चलायमान) पदार्थों में राग (प्रेम) करने से लाभ कुछ भी नहीं है, किन्तु अन्त में दुःख ही है, यों समझकर जिसमें देहादि से राग मिटाकर वैराग्य ग्रहण किया

है, वह विरक्त ही अधिकारी है, यह आगे १२ वें श्लोक में निरूपण किया है। गृहस्थी रागी पुरुष दुःखी होता है, यों वैराग्य का उपदेश दिया है।

सुबोधिनी—पारलौकिकं वैराग्यमाह,

व्याख्या—शङ्का 'जो दुःख से भिन्न नहीं[१]' "चातुर्मास्य यज्ञकर्त्ता को अक्षय सुख मिलता है[२]।" "श्राद्धादि से प्रसन्न पितामहादि स्वर्ग मोक्ष, सुख और राज्य देते हैं[३]" 'लोक में जो जो इष्ट कर्म किये जावे, वे सर्व भगवान् को अर्पण करने चाहिये, जिससे अनन्तफलदायी होते हैं, इत्यादि से तो अनन्त कर्मफल प्राप्त होता है, फिर नश्वर कैसे[४]' यदि ऐसी शंका हो तो इस शङ्का का समाधान आचार्य श्री इन कारिकाओं द्वारा करते हैं।

कारिका—**अयथाज्ञानतो जातं वैदिकं स्मार्तमेव च।**
पौराणं च ततो जातं फलं गृहवदेव हि ॥१॥

अक्षयतृतीयाश्राद्धादि तथानन्तव्रतादि च।
समर्पितं प्रियं विष्णौ ततोपि फलितं तथा ॥२॥

अतो नश्वरमित्युक्तं पृथग् भक्तिफलात् क्रमात्।
सतुल्यातिशयध्वंसमन्तःकरणदोषतः ॥३॥

ज्ञानभक्तिफले मोक्षे नायं दोषस्ततो भवेत्।
ऐश्वर्यसहितेप्येवमिति दृष्टान्तसङ्ग्रहः ॥४॥

स्पर्धासूयायुतो लोको मण्डलाधिपगोचरः।
लोकद्वयफल यस्मादेवमेवेतिनिश्चयः ॥५॥

अतो मोक्षफले हेतुर्मूलभूतस्तमाह हि ॥५½॥२०½॥

कारिकार्थ—पहली कारिका में आज्ञा करते हैं कि जिसको पूर्णरीति से वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे वैदिक कर्म, स्मार्तकर्म और पौराणिक कर्म का फल प्राप्त हो तो भी वह कर्म फल नश्वर (नाशवान्) गृह की तरह निश्चय अस्थिर (चलायमान) है ॥१॥

दूसरी और तीसरी कारिकाओं में आज्ञा करते हैं कि अक्षय तृतीया के दिन किये हुए श्राद्धादि तथा किये हुए अनन्तव्रतादि व्रत, एवं विष्णु को अर्पण किये हुए सकाम दानादि इस प्रकार के सकर्मों का फल कर्त्ता के असन्तोष स्पर्धा, ईर्ष्यादि दोष युक्त अन्तःकरण के कारण नश्वर होते हैं,

---

१—यन् न दुःखेन संभिन्नं २—चातुर्मास्ययाजिनो अक्षय्यं ह वै सुकृतं इति श्रुतिः।

३—स्वर्गं मोक्ष सुखानि च प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा स्मृतव।

४—तत्तन् निवेदयेन् मह्यम् तदानन्त्याय कल्पत, इत्यादि पुराणेश्चानन्त्य कथनात् कथं तत्फलस्य नश्वरत्वं बुध्यते।

निष्काम भक्ति पूर्वक किये हुए कर्मों के फल से ये सकाम कर्म के फल जुदे प्रकार के हैं, अतः नश्वर कहे गये हैं ।।२–३।।

चतुर्थ कारिका में कहते हैं कि, ज्ञान तथा भक्ति के फल रूप मोक्ष में इस प्रकार का कोई दोष नहीं है । ऐश्वर्यवान् ब्रह्मलोक में भी जब नश्वर फल है, तब अक्षय तृतीयादि फलों में नश्वरता हो तो क्या विशेषता, है इसलिये यहां ये दृष्टान्तरूप में दिये हैं ।।४।।

५–५½ कारिका में आज्ञा करते हैं कि जैसे मंडलेश्वरों को स्पर्धा, ईर्ष्यादि दोष युक्त होने से वैसे ही ईर्ष्यादि युक्त लोक ही फलरूप में मिलते हैं, वे जैसे नश्वर हैं वैसे अक्षय तृतीयादि कर्मों के फल भी नश्वर होने से दृष्टान्तरूप में दिये हैं जिस ज्ञान भक्ति का फल निर्दोष मोक्ष है, उस ज्ञान भक्ति की क्रिया में मूलभूत हेतु वैराग्य है । अतः यहां से वैराग्य का उपदेश किया गया है । सारांश यह है कि ज्ञानी एवं भक्त को इहलोक परलोक के विषयों से वैराग्य करना आवश्यक है ।।५–५½।।

ज्ञानी एवं भक्त को वैराग्य क्यों करना आवश्यक है, जिसका कारण यह है छः श्रुति ने "तद्यथा इह कर्म चितोलोकः क्षीयते एवमेव अमुत्र पुण्याचितोलोकः क्षीयते" इसमें कहा है कि कर्म से अर्जित इस लोक का सुख जैसे नश्वर है वैसे ही पुण्य से अर्जित स्वर्गादि परलोक का सुख भी नश्वर है । अतः इन दोनों से वैराग्य करना उचित है । आचार्य श्री ने स्वर्ग का अर्थ अक्षय सुख कर निष्काम सुकृति को वह आत्मसुख रूप स्वर्ग मिलता है, यों कर एक रहस्य निबन्ध से सर्व निर्णय प्रमाण प्रकरण में समझा दिया है ।

अब इस असार संसार से निकलकर भगवदानंद प्राप्ति के लिये मनुष्य को वैराग्य प्राप्त कर भगवद्शरणागति अवश्य कर्त्तव्य है, किन्तु भगवद्शरणागति से प्रथम गुरु की शरण लेना उचित है ।

प्रबुद्ध योगेश्वर उवाच-श्लोक—**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।**
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपरमाश्रयम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—अब प्रबुद्ध योगेश्वर गुरु शरणागति का उपदेश देते हैं—जिसको भगवद् प्राप्ति वा मोक्ष की जिज्ञासा है, जो शब्द ब्रह्म (वेद) में निष्णात् होकर सर्व सन्देह निवृत्त करें, न केवल इतना, ही किन्तु परब्रह्म के स्वरूप लीलादि तत्त्व के रहस्य को हृदयङ्गम् जिसने किया हो, ऐसे उत्तम गुरु की शरण लेनी चाहिये जो गुरु स्वयं जीवन मुक्त होकर शिष्य के हृदय में भगवत् तत्व को स्थिर कर सकें, वैसे इन्द्रियजेता ब्रह्मनिष्ठ गुरु करना चाहिये ।।२१।।

यद्यपि वैराग्यान्तर भगवत्प्राप्ति आवश्यक है, किन्तु उससे भी पहले गुरु की शरण लेनी चाहिये, जिसके प्रयोजन को आचार्य श्री कारिका में कहते हैं ।

कारिका—**निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते ।**
हरेः कृपाविशिष्टोपि गुरुहीनस्तथैव हि ॥१॥

यथा भक्तिः स्वतन्त्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी ।
जिज्ञासाशेषभावत्वं तथापि विनिगद्यते ॥२॥

कारिकार्थ—जैसे स्थान से भ्रष्ट पुरुष, आधार रहित होकर भटकता रहता है, लोक में फिर उसे कहीं भी आश्रय नहीं मिलता है। हरि की कृपायुक्त होने पर भी जो पुरुष गुरुहीन होते हैं, उनकी भी वैसी ही दशा होती है ॥१॥

जैसे भक्ति स्वतन्त्र कही गई है, वैसे ही गुरु सेवा भी वैसी ही स्वतन्त्र[1] है, तो भी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा अङ्गरूप है, उस इच्छा पूर्ति करने योग्य गुरु जीवन मुक्त उपरमाश्रय (शान्त स्वभाव) आदि गुण युक्त ही होना चाहिये, वैसा गुरु ही शिष्य के हृदय में भगवत्प्रवेश करा सकता है और वही गुरु परोक्ष तथा साक्षात् अनुभव कराने में समर्थ होता है, गुरु में वैराग्य गुण ही सर्वोपरि है, जिसको आचार्य श्री निम्न कारिका द्वारा समझाते हैं।

यदेव पृच्छ तदेव वदिष्यतीत्युत्तमं श्रेय इत्युक्तं, स गुरुर्मुक्तः, लोके ज्ञापकं रूप-मुपरमाश्रयमिति, सर्वसन्देहवारणाय वैधदीक्षावद् धृदयप्रवेशाय चोभयनिष्णात-त्वम् ।

कारिका—**मार्गान्तरस्थितो ह्यत्र बोधको न स्वमार्गगः ।**
प्रपञ्चितं तत् प्रथमे शुको वक्ता न नारदः ॥१॥

सप्तमेत्र च कृष्णस्य दर्शनार्थी तथापि तु ॥२१॥

कारिकार्थ—आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जिस शिष्य को स्वयं सर्व त्यागकर केवल 'पर' प्राप्ति की इच्छा से उपदेष्टा गुरु की इच्छा है, वैसे अधिकारी को गुरु भी वैसा वैरागी ही चाहिये जिसका विस्तार से वर्णन प्रथम स्कन्ध में किया गया है, सर्वत्यागी परीक्षित का गुरु, परम विरक्त श्री शुकदेवजी ही हुए हैं, वे ही वक्ता होकर उपदेष्टा बने, भक्तवर नारदजी वहां मौजूद थे, किन्तु वह वैसे उत्तमाधिकारी नहीं थे, अतः वह वक्ता न हुए। नारदजी श्रीकृष्ण के दर्शन प्रेप्सु की (इच्छा) वाले होने से सप्तम स्कन्ध तथा यहां उन्हें वक्ता कहा है, किन्तु वे मध्यमाधिकारी हैं श्री शुकदेवजी सर्वगुण सम्पन्नता के साथ पूर्ण वैराग्यवान् थे, अतः उत्तमाधिकारी होने से वक्ता बने। उत्तम गुरु में स्नेह, श्रद्धा एवं पूज्य भाव तथा देवत्व बुद्धि उत्पन्न होती है। मन्त्रशास्त्रों में भी कहा है कि मन्त्र सफल एवं सिद्धिकर, तब होते हैं, जब पहले गुरु मुख द्वारा श्रवण किये जाते हैं। अर्थात् गुरु से दीक्षा रूप में लिये जाते हैं।

१—प्रकाशकार कहते हैं कि ऐसा निश्चय नैष्टिक ब्रह्मचर्य विधायक वाक्यों से होता है।

श्लोक—**तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।**
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥२२॥

श्लोकार्थ—गुरु की सन्निधि में बैठकर गुरु को आत्मावत् प्रिय, देववत् आदरणीय समझ निष्कपट भाव से उनकी सेवा करते हुए उनसे भागवतधर्म की शिक्षा प्राप्त करें, जिन भागवतधर्मों से हरि प्रसन्न होवें, प्रसन्न होकर अपनी आत्मा तक भी दे देते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—सर्वज्ञात्वात् सर्वं वदिष्यन्तीत्याशयेनाह **तत्रे**ति, **गुरो**रात्मत्वे स्नेहः श्रद्धाराध्यत्वेन ज्ञानं च **देव**तात्वे, मन्त्रस्त्रेप्युक्ता मन्त्रा **गुरुमुख**व्यतिरेकेण न फलन्तीति तत्र **शिक्षा**, गुरुसन्तोषोपायमाह निष्कपटा**नुवृत्ति**भिः, **भागवत**धर्माणामेव शिक्षायां हेतुमाह **तुष्ये**दिति, स्वसन्तोषाभावे हेतुरेव न सिध्येत् फलदातुरसन्तोषे फलमतः स्वपरनिर्वाहिका **धर्मा** इति, किञ्च दुःखाभावोप्यानुषङ्गिकः ॥२२॥

व्याख्या—गुरु सर्वज्ञ होने से धर्म का सर्व रहस्य बताऐंगे इस आशय से कहते हैं कि 'तत्र' गुरु सन्निधि में रहकर वा उस (गुरु) में आत्मपन से स्नेह करना, देवता जान ज्ञान प्राप्त करना । वे आराध्य हैं, इसलिये उनमें श्रद्धा करनी मन्त्र शास्त्र में भी कहा है कि गुरुमुख से मन्त्र श्रवण करने चाहिये, अन्यथा निष्फल है । गुरु से ही शिक्षा (उपदेश) लेनी चाहिये । गुरु प्रसन्न हो, गृह्य रहस्य भी बतावे जिसका उपाय बताते हैं कि निष्कपट भाव से उनकी सेवा करनी, भगवत्धर्म ही सीखने चाहिये, जिसका कारण बताते हैं कि उन धर्मों से ही हरि प्रसन्न होते हैं, यदि हरि स्वयं सन्तुष्ट न होवे तो हेतु ही सिद्ध न होवे, अर्थात् जिस फल प्राप्ति के लिये भागवत्धर्म सीखे जाते हैं. वह फल प्राप्त न होवे, हरि के प्रसन्न होने पर वे अपनी आत्मा भी दे देते हैं, दुःखाभावादि, फल तो आनुषङ्गिक है ॥२२॥

आभास—तत्र प्रथमं श्लोकत्रयेण प्रवाहान् निवृत्तिः कर्ममार्गप्रवेशो ज्ञानमार्गप्रवेशश्चोच्यते तदभावे भागवतधर्मानधिकारात्, तत्र प्रथमं प्रवाहान् निवृत्तिमाह सर्वत इति,

आभासार्थ—२३-२४-२५ इन तीन श्लोकों, से प्रवाह से निवृत्ति, कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग में प्रवेश कहते हैं, इनके अभाव में भगवत्धर्म शिक्षण का अधिकार नहीं है, प्रबुद्धजी उनमें से प्रथम शिक्षा प्रवाह से निवृत्ति २३ वें श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**सर्वतो मनसोसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।**
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—प्रथम जिन धन पुत्रादि में मन आसक्त है, उनसे मनको खींच लेना अर्थात् उनमें आसक्ति न करनी, फिर भक्तों का सङ्ग करना, भूत मात्र में निष्कपट दया, मैत्री करना और उनको उचित आश्रय देना ॥२३॥

सुबोधिनी—संसक्तेभ्यो **मनस** आकर्षणं मनसा हि सर्वं भवतीति स्वसिद्धिसाधनेषु प्रथमं **सत्सङ्गः**, लोकानां परित्यागः पूर्ववच्च न सम्भवत्यतो विशेषमाह दीनेषु **दया** समेषु **मैत्र्युत्तमेषु प्रश्रयः**, **यथोचित**मिति देशकालानुरोधः ।।२३।।

व्याख्या—'सर्वतः' देहतत्संबंधी स्त्री पुत्रादि धन गृहादि जिनमें भी मन लगा हुआ है उनसे मन को खींच लेना चाहिये, क्योंकि मन से ही सब कुछ होता है, अपने अभिलषित सिद्ध करने वाले साधनों में प्रथम साधन सत्सङ्ग है, सबसे मन को खींचलेना, चंचलमन निराधार नहीं रह सकेगा अतः यों होना अशक्य समझ दूसरा उपाय बतलाते हैं, कि दीनों पर दया करनी, समानों से मैत्री रखना, उत्तमों से विनय और उनका सम्मान करना, यह सर्व, देश और समयानुसार जैसा उचित हो वैसे करना ।। ३।।

आभास—कर्ममार्गप्रवेशमाह शौचमिति,

आभासार्थ—इस श्लोक में कर्म मार्ग करने के सम्बन्ध में कहते हैं—

श्लोक—**शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।**
ब्रह्मचर्यमहिंसा च समत्वं द्वन्द्वसञ्ज्ञयोः ।।२४।।

श्लोकार्थ—शौच[1] (देह और अन्तःकरण की पवित्रता) तपस्या (कृच्छ्र (कठिन) चान्द्रायण व्रतादि करना) तितिक्षा (शीतादि दुःखसहन) मौन (वृथालाप–परित्याग) वेदपाठ सबसे सरल वर्ताव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, द्वन्द्व[2] में समान रहना ।।२४।।

सुबोधिनी—कर्म त्रिविधं कायिकादिभेदेन,तत्र त्रयंत्रयमेकैकस्य, **शौचं** मृदादिभिस्**तपः** **कृच्छ्रादि** शीतादिसहनं **तितिक्षे**तिकायिकं,वृथालापपरिवर्जनं वेदाभ्यासः सर्वत्र प्रियभाषणं वाचनिकं,मानसं हि कामजयः क्रोधजयो वैषम्याभावश्चेति, निर्देशे हि **द्वन्द्वे**नैव तयोः **सञ्ज्ञा** निर्दिष्टा यथा "सुखदुःखे" "प्रियाप्रिये" इति ।।२४।।

व्याख्या—कर्म मार्ग में प्रवेश के विषय में कहते हैं–भागवत्धर्म शिक्षण में कायिक, वाचनिक और मानसिक भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं। फिर प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। कायिक के तीन भेद हैं (१) शौच (मिट्टी व जलादि से देह को पवित्र करना) (२) तपस्या कायिक व्रतादि से शरीर का शोषण (३) तितिक्षा (शीतादि को सहन करना)। वाचनिक कर्म के तीन भेद हैं— (१) मौन (वृथा भाषण न करना) (२) स्वाध्याय (वेदाभ्यास) (३) आर्जव (सबसे सरलता के साथ मीठे वचनों से बोलना)। मानसिक कर्म के तीन भेद (१) ब्रह्मचर्य धारण करना (इसके पालन से काम को जीतना) (२) द्वन्द्व की अवस्था में चित्त को उत्तम रखना (हर्ष-शोक अवस्था में समान भाव

१—देह की मिट्टी जल आदि से शुद्धि बाह्य शौच, भगवत् चिन्तन से अन्तःकरण शुद्धि आभ्यन्तर शौच ।

२—सुख में हर्ष, दुःख में चिन्ता न करनी, दोनों में समान चित्तता ।

धारण करना) (३) अहिंसा का पालन करना (इससे क्रोध को जीता जा सकता है, तथा अन्य को कष्ट नहीं दिया जाता है).

इन कहे हुए कर्मों के करने से कर्म मार्ग में प्रवेश और अन्त में सिद्धि होती है।

आभास—ज्ञानमार्गप्रवेशमाह सर्वत्रेति,

आभासार्थ—ज्ञान मार्ग में प्रवेशार्थ क्या क्या करना चाहिये, वह इस श्लोक से बताते हैं।

श्लोक—**सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।**
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—सर्व वस्तु मात्र में एक ही सच्चिदानंद परमात्मा विराजते हैं यों देखना, एकाकी रहना, गृह नहीं बनाना, सादे वस्त्र पहिनने, जो कुछ देववश प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहना, इन धर्मों के पालन करने से ज्ञान मार्ग में प्रवेश करने का अधिकारी होता है, ऐसा ही ज्ञान मार्ग में प्रवेश पाकर फललाभ कर सकता है ॥२५॥

सुबोधिनी—**आत्मेश्वरयोरैक्ये** सिद्धे तस्य | **सर्वत्र** निरीक्षणं ज्ञानं,

व्याख्या—'सर्वत्र' आत्मा तथा ईश्वर की एकता सिद्ध हो जाने पर ही उस (सच्चिदानन्द परमात्मा) का सर्वत्र दर्शन होना ही 'ज्ञान' है।

कारिका—**सङ्गाभावो गृहाभावो वस्त्रभोजनसंयमः ।**
चतुष्टयं ज्ञानमार्गे साधनं सर्वदा मतम् ॥१॥

चीराणामपि विवेको न बाहुल्यं,
सप्तभिर्भक्तिमार्गो हि स यतस्तादृशो मतः ॥

तत्र दोषाभावफलयोराद्यन्तनिरूपणं मध्येपरिचितधर्माः परिचयश्च सेवकानुप्रवेशः सेवकतुल्यता तत उत्तमं साधनमेवं पञ्चार्थाः ॥२५॥

कारिकार्थ—सङ्ग का अभाव, गृह का अभाव, वस्त्र का अभाव, तथा भोजन का संयम, ये चार ज्ञान मार्ग में सर्वदा साधन माने गये हैं। वस्त्र स्वल्प धारण करने, उनका संग्रह न करना ॥१॥

अब सात श्लोकों से भक्ति मार्ग का वर्णन करते हैं, क्योंकि वह वैसे ही पाँच प्रकार का है।

अतः प्रथम श्लोक में भक्तिमार्ग निर्दोष है यों सिद्ध किया है, अन्त के ७ श्लोकों में फल निरूपण किया है मध्य में (१) परिचित धर्म, (२) परिचय (३) सेवकों में इसका प्रवेश (४) सेवक समता (५) उत्तम साधन, इसी तरह भक्ति प्राप्त करने का निरूपण किया है।

आभास—तत्र प्रथमं भक्तिमार्गप्रवेशाय साधनान्याह श्रद्धामिति,

आभासार्थ—पहले भक्ति मार्ग प्रवेशार्थं साधन कहते हैं।

श्लोक—**श्रद्धां भागवते शास्त्रे निन्दामन्यत्र चापि हि।**
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥

श्लोकार्थ—भागवत शास्त्र में श्रद्धा करनी दूसरे शास्त्रों की निन्दा भी न करनी, मन [1], वाणी [2] और काया [3] का दण्ड धारण करना, अर्थात् इनको वश में रखना और सत्य [4], शम [5] तथा दम [6] का आचरण करना ॥२६॥

सुबोधिनी—प्रथमतः प्रमाणे महती **श्रद्धा** ततो विरुद्धानामस्मरणमपि, **स्मरणं निन्दाद्वारा हि सम्भवति सापि न कर्तव्या**, न युक्तयोनुसन्धेयाः किन्तु श्रद्धैव, पूर्वं मार्गान्तरे साधनत्वेनोक्ता अपि मौनादयः पुनरत्र नियतसाधनत्वायोच्यन्ते, प्रमाणसिद्धचनन्तरं व्यभिचारपरिज्ञानात् **कायवाङ्मनसां दण्डः** कर्तव्यः, अनीहादयोन्ये वा येनैव दण्डिता इतिबुद्धिर्भवति, **सत्यं भगवन्मार्गे परमं साधनं**,भगवन्निष्ठा बुद्धिः **शमः**,इन्द्रियनिग्रहो **दमः**, वाङ्मनःकायानां वा गुणा उच्यन्ते ॥२६॥

व्याख्या—प्रथम साधन-प्रमाण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत शास्त्र में श्रद्धा, तथा अन्य [7] शास्त्रों का स्मरण भी न करना क्योंकि विरुद्ध शास्त्रों का स्मरण निन्दा द्वारा ही होता है, अतः स्मरण न किया जाएगा तो स्वतः निन्दा न होगी। विरोधियों के तार्किक युक्तियों का अनुसन्धान भी न करना कारण कि उनके अनुसन्धान करने से फिर उनके खण्डन में प्रवृति होने से निन्दा ही होगी। यद्यपि २४ वें श्लोक में ज्ञान मार्ग के साधन (उपाय) मौनादि कहे हैं, फिर यहां कहने का भावार्थ यह है कि मौनादि भक्ति मार्ग में आवश्यक साधन हैं। अतः भक्तिमार्गीय को यह सावधानता रखनी चाहिये कि मन आदि भक्ति मार्ग से विरुद्ध तो नहीं जाते हैं, तदर्थ उनका **दण्ड** (रुकावट) **अनीहा** (आलस्य) आदि से अवश्य करें जिससे वे भगवत् धर्म में निरुद्ध रहें।

भगवन्मार्ग से सत्य बोलना भगवान् को प्रसन्न करने का परम साधन है। भक्ति मार्ग में शम का भावार्थ है भगवान् में निष्ठायुक्त बुद्धि, वैसे ही 'दम' का तात्पर्य है, इन्द्रियों को साँसारिक पदार्थों से खींचकर भगवान् में एवं उनकी सेवा में निरुद्ध करना।

'सत्य' यह वाणी का गुण है, 'शम' मन का गुण है और 'दम' काया का गुण है। अतः इन गुणों की रक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि इनकी रक्षा से वाणी, मन और काया की रक्षा होती है, जिनसे भगवत्स्मरण, भगवत्चिन्तन और भगवत्सेवा आदि किये जा सकते हैं ॥२६॥

१—प्राणायाम से मन को वश में करना। २—मौन (वृथा वार्तालाप का त्याग) से वाणी को वशमेंकरना।
३—इच्छाओं के त्याग से काया को वश में करना। ४—झूठ न बोलना यह भगवत् मार्ग में परम साधन है।
५—भगवान् में निष्ठा शम है। ६—इन्द्रियों को भगवत्सेवा में ही निरुद्ध करना दम है।
७—जो शास्त्र श्रीमद्भागवत सिद्धान्त से विरुद्ध है उनका त्याग करना

श्लोक—**श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।**
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७॥

श्लोकार्थ—अद्भुत लीला करने वाले हरि की प्राकट्य लीला और गुणों का श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान करना, अपनी सकल इन्द्रियों की समस्त चेष्टाएं भगवदर्थ ही करनी है ॥२७॥

सुबोधिनी— प्रथमसाधनान्याह **श्रवण**मिति, प्रेमसाधनं श्रवणादित्रयमिति पूर्वमुक्तं, **अद्भुतकर्मण** इतिविशेषः, शुद्धलीलासहितो न दशविधलीलासहितो विजातीयानां बहूनां साधनानामनुष्ठितत्वात्, अत एव **जन्मकर्मगुणानां** चेत्युक्तं, चकारात् तेप्यद्भुत**कर्मणः** सर्वमोचकाः, शिष्टेन्द्रियकार्याणामप्यनुप्रवेशः सर्वेषामेकमुख्यत्वाय, पूर्वोक्तचतुर्णामर्थे सर्वेन्द्रियाणां विनियोगं **शिक्षेत्** ॥२७॥

व्याख्या—श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान ये तीन प्रेम के साधन हैं अतः श्लोक में ये पहले कहे गये हैं। ये श्रवणादि भी शुद्ध लीला सहित अद्भुत कर्मा रसेश का ही करना चाहिये, न कि, दशविध लीला सहित पुरुषोत्तमरूप का, क्योंकि उन लीलाओं में विजातीय बहुत साधनों के अनुष्ठित होने से, इसलिये ही साफ समझाने के लिये जन्म, कर्म और गुणों के श्रवणादि पृथक् कहे हैं, 'च' पद देने से स्पष्ट किया है कि वे भी अद्भुतकर्मा के श्रवणादि करने चाहिये क्योंकि वे ही सर्वप्रकार के जीवों को संसार से छुड़ाने वाले हैं। शेष इन्द्रियों के कार्यों का प्रवेश इनमें ही होता है, क्योंकि सर्व का (इन्द्रियों के अस्तित्व का) प्रयोजन भगवान् के लिये ही है।

प्रेम सहित श्रवण-कीर्त्तन तथा ध्यान के लिये ही सफल इन्द्रियों का विनियोग हो, ऐसी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ॥२७॥

आभास—ततः कियत्कालसेवया परिचये जात आत्मसमर्पणं कर्तव्य मित्याहेष्टमिति,

आभासार्थ—इस प्रकार कितने ही समय तक सेवा करने पर जब परिचय हो जावे, तब आत्मसमर्पण करना चाहिये, जिसकी शिक्षा इस श्लोक में देते हैं।

श्लोक— **इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।**
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदयेत् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—यज्ञादिकर्म, दान, एकादशी उपवासादि व्रत, जप, लौकिक, अलौकिक और अन्य जो कुछ कर्म और जो अपने को प्रिय हों, जैसे धन गृहादि पदार्थ, एवं स्त्री, पुत्र, गृह तथा प्राण इत्यादि सबको और जो कुछ अपना समझ रखा है, उनको भगवान् को निवेदन करना चाहिये ॥२८॥

सुबोधिनी—दत्तस्याभयदानपरत्वे न्यासधर्मो न्यासव्यतिरिक्तत्रयाणां वा धर्माः, **वृत्तं** सदाचारः, **आत्मनः प्रियं** प्रवाहः, दारादीनां स्वतुल्यत्वाभिप्रायेणाह **दारानिति**, स्वभागो वा, अन्येषामेष्वेवान्तर्भावः, देहस्य पूर्वमेव विनियुक्तत्वात् **प्राणा** उक्ताः ॥२८॥

व्याख्या—आत्म समर्पण के प्रकार बताते हैं कि, जो पदार्थ अपने को प्रिय लगते हैं वे सब, पर ब्रह्म परमात्मा को निवेदन करने, दत्त (दान किये हुए) का अभयदान परत्व होने पर न्यास (सन्यास) धर्म है, अथवा सन्यास के अलावा तीन आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) के धर्म जानले। 'वृत्त' पद का भावार्थ है, सदाचार। अपने को प्रिय है प्रवाह, स्त्री आदि कहने का आशय है कि वे भी अपने तुल्य हैं, 'दारान्' पद कहने का स्वारस्य है कि अपना भाग अन्य पदार्थों का इनमें ही अन्तर्भाव है, अर्थात् अन्य पदार्थ इन पदार्थों के कहने से आ जाते हैं। देह का विनियोग पहले कहा गया है, अतः यहां 'प्राणान्' प्राण कहे हैं—इसी प्रकार कहे हुए सर्वभगवान् को निवेदन करने चाहिये, जिससे इन सर्व में से अपनी अहन्ता ममता नष्ट हो जाय और अपना दासत्व सिद्ध हो ॥२८॥

आभास—एवं विधानपूर्वकमात्मनिवेदनं कृत्वा तादृशैः सह भगवत्परिचर्या कर्तव्येत्याहैवमिति,

आभासार्थ—इसी तरह विधिपूर्वक आत्म निवेदन करने के वाद जो कृष्ण के अनन्य भक्त होवें उनके साथ मिलकर भगवत्सेवादि करने यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्री कृष्ण को ही जो अपना नाथ समझते हैं, ऐसे दृढ़ भाव-भक्तिवाले मनुष्यों से सौहार्द भाव करना, सेवा तो दोनों की यथोचित् करनी। दोनों के कहने का आशय है, भगवान् तथा भगवदीय की यथोचित सेवा करनी।

भगवदीय की सेवा करने का कारण बताते हैं, कि वे भक्तिमार्ग की सर्व प्रकार से अपने आचरण आदि से रक्षा करते हैं, अतः उनके लिये महत्सु, नृषु, साधुषु तीन विशेषण देकर उनके स्वरूप का ज्ञान कराया है ॥ २९॥

सुबोधिनी—येषां कृष्णेऽसाधारणः स्वामित्वाभिमानस्ते कृष्णात्मनाथाः, मनुष्यभावः साधारणो भावः, स्वयं राजेतरश्च रङ्कस्तथापि स्वस्य तस्य च यः **साधारणो भावो** 'क्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखाय' इतिश्रौतन्यायेनेत्यर्थः, तेषु **च सौहार्दं, चकारात्** पश्वादिषु च भगवदीयेषु सर्वत्र, **परिचर्या चोभयत्र** भगवति भगवदीयेषु च, तदीयेषु विशेषमाह **महत्सु नृषु**, स्त्रीपशुकनिष्ठा निवारिताः, सम्प्रदायरक्षार्थं तत्रापि सदाचारेषु, सानुभावपुरुषत्वे सति सदाचारेष्वित्यर्थः, **चकारात्** स्वस्यापि तादृशत्वम् ॥२९॥

व्याख्या—वैष्णव को मनुष्य में मानवता के कारण सौहार्द (स्नेह) करना चाहिये, यह साधारण भाव है, किन्तु जो मनुष्य कृष्ण को ही अपना नाथ समझते एवं मानते हैं, तदनुकूल (वैसा ही) आचरण करते हैं, उन भगवद्भक्तों से तो सौहार्द विशेष रूप से करना चाहिये। 'च' पद का भाव बताते हैं कि, साधारण स्नेह तो पशु आदि को सर्वत्र करना चाहिये। 'सेवा' तो भगवान् और भगवदीय दोनों की करनी चाहिये। भगवदियों की सेवा क्यों करनी चाहिये? जिसके लिये विशेष कारण (लक्षण) बताते हैं। जो भगवदीय महान् हों, पुरुष हों, सम्प्रदाय की सर्व प्रकार सदाचारादि से रक्षा करने वाले हों, दम्भी न हो, उनकी यथोचित सेवा (आदरभाव सत्कार) करनी चाहिये। यों कहकर स्त्री, पशु और कनिष्ठ योनि के जीवों के साथ विशेष स्नेह करना एवं उनकी सेवा करने का निषेध किया है।

महत्सु, नृषु और साधुषु तीन विशेषणों से स्पष्ट है कि सेवा एवं समादर करने के योग्य तथा उपदेष्टा के योग्य तो आचार्यादि ही हो सकते हैं। वैष्णव को भी स्वतः सदाचारादि गुण संपन्न होना चाहिये ॥२९॥

आभास—फलरूपं साधनमाह परस्परेति,

आभासार्थ—फल रूप साधन का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।**
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृ तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥

श्लोकार्थ—वैष्णवों को परस्पर मिलकर भगवान् के यश का ही अनुवाद (गान) करना चाहिये, क्योंकि वह सर्वथा पवित्र करने वाला है, और परस्पर रति (प्रेम) तुष्टि (सन्तोष) और परमानन्द देने वाला है तथा प्रभु भी इससे प्रसन्न होते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—भक्तानां **परस्परं** संवादो यत्र भगवदुक्तमर्थं **परस्परमनुवदन्ति** यस्मिन् **यशसि**, तच् **छिक्षे**दितिसम्बन्धः, स्नानाद्यासक्तिनिवारणाय **पावन**मित्युक्तं, **भगवद्यश** इति भगवतोपि प्रीतिजनकं चरित्रं, श्रवणकीर्तने एव परस्परं क्रियमाणे **मिथः**प्रीतिस्तथैव **तुष्टिः**, आद्यन्तधर्मावेतौ, पूर्वोक्तानुसन्धानेनैव परमा **निवृतिः**, अन्तःकरणस्य फलरूपा अपि त्रयो भावाः, **शिक्षे**त् सफलस्यावृत्तेरिति ॥३०॥

व्याख्या—जहाँ वैष्णव जन मिलकर परस्पर भगवत् यशोगान करते हैं वहां जाकर वह श्रवण करे एवं, शिक्षा प्राप्त करे, यह भगवदीय का प्रथम एवं परम कर्त्तव्य है, स्नान से ही हम पवित्र होते हैं, ऐसी भ्रान्ति व आसक्ति निवृत्त हो तदर्थ यहाँ 'पावन' पद देकर बताया है कि वास्तविक सर्व प्रकार की पवित्रता तो भगवत् यशोगान से ही होती है, तथा यशोगान से भगवान् भी प्रसन्न होते हैं, श्रवण और कीर्तन परस्पर मिलकर करने से आपस में प्रेम बढ़ता है, तथा हृदय में सन्तोष होता है। ये दोनों आदि और अन्त के धर्म है एवं इन श्रवण तथा कीर्तन के अनुसन्धान करते हुए परम सुख की भी प्राप्ति होती है। ये तीनों (प्रीति, तुष्टि और निवति) धर्म साधनरूप हैं, तो भी वे फलरूप

बन जाते हैं, 'आत्मनः' पद से ये धर्म अन्तःकरण के हैं, यों जाना जाता है, किन्तु ये आनन्दरूप होने से फलरूप हैं अतः इनकी बारंबार आवृति करनी चाहिये ॥३०॥

श्लोक—**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोघौघहरं हरिम् ।**
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—भगवद्भक्त जब परस्पर भगवदीय मण्डली में मिलते हैं, तब पापों के समूह के हरण करने वाले हरि का स्वयं स्मरण करते हैं, तथा अन्यों को स्मरण कराते हैं, इसी तरह जब श्रवण कीर्तन स्मरणादि भक्ति के उद्रेक से प्रेम भक्ति का प्रवाह उनमें उमड़ता है, तब उसके स्रोत के वेग से भगवदियों के शरीर रोमाञ्चित एवं पुलकित हो जाते हैं, वाणी गद्-गद् तथा आँखें अश्रु पूर्ण हो जाती है, जिससे आनन्दोदधि में (आनन्द के समुद्र) में मग्न हो संसार को भूल जाते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी— तेषामवान्तरफलमाह **स्मरन्त** इति, रत्यादिमतामप्यन्यचित्तगमनवद् विस्मरणं सम्भवति तत आह **स्मरन्त** इति, अन्योन्यं दृष्ट्वा स्वत एव **स्मरणं-स्मारणं**, एकदेशबोधनात् न श्रवणं, विस्मरणे निषेधानां किङ्करत्वात् पापसम्पत्तौ प्रायश्चित्तं कृत्वा स्मर्तव्यमित्यत आहा-**घौघहर**मिति, पापं दूरीकृत्य दुःखं दूरीकरोति, विषयत्वेन समागत एव स्मरणात् पूर्वमेव पापसमूहान् दूरीकरोति, अन्यथा स्मरणस्य तत्फलत्वं स्यात्, एवमच्छिद्रतया श्रवणकीर्तनादिसम्पत्तौ सर्वतः **क्षरणजलमिव प्रेम भक्तिरुत्पद्यते तया** व्यापिका **भक्तिरुद्गच्छति यथा** शरीरं पूर्यते, ततः शरीरस्य गाढत्वा**दुत्पुलक**त्वम् ॥३१॥

व्याख्या—असकृत भगवत्स्मरण करने वालों को जो अवान्तर फल मिलता है उसका वर्णन इस श्लोक में किया है। जिन मनुष्यों को भगवान् में रति (प्रेम) आदि उत्पन्न हुई है, उनका भी मन चंचलता के कारण अन्य विषयों में चला जाता है, तो भगवत्-विस्मरण हो जाता है, अतः वह विस्मरण (भूल) न हो इसलिये वे भगवदीय परस्पर मिलने पर स्वतः (अपने आप) 'जय श्रीकृष्ण' कहकर स्मरण करते हैं और अन्य को भी स्मरण कराते हैं, जुदा 'श्रवण' पद न देने का यही आशय है कि स्मरण तथा स्मारण (स्मरण कराने) से उसकी चरितार्थता हो जाती है। विस्मरण में निषेध वचनों का किसी प्रकार का बल नहीं है। कारण कि विस्मरण होवे तो पापोत्पत्ति होती है। हरिस्मरण से पूर्व ही पाप समूहों को हरि नष्ट कर देते हैं। यदि पाप मौजूद हों तो हरि का स्मरण हो नहीं सकता है। अतः स्मरण के बाद प्रभु पापों को नाश करते हैं, यों नहीं समझना चाहिये, यदि यों समझा जावेगा तो स्मरण का फल पाप नाश हो जावेगा। वैसा नहीं है क्योंकि पाप नाश तो स्मरण से पहले ही हो जाते हैं और स्मरण के बाद में तो दोष रूप दुःखादि नाश होते हैं, जिससे बिना किसी छिद्र (दोष) वाली श्रवण कीर्तनादि सम्पत्ति प्राप्त होने पर सर्वतः झरने के जल के समान प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है। उस प्रेमाभक्ति से भगवदीय शरीर में सर्वत्र वह भक्ति रसवत् व्याप्त (फैल) हो जाती है, जिससे उस शरीर में गाढत्व

के कारण पुलकादि उत्पन्न होते हैं, उस समय भगवदीय, भगवद् रस में निमग्न हो जाने से संसार को भूल जाते हैं ।। ३१ ।।

आभास—एवं शरीरे पूर्णस्य भक्तिरसस्य भगवत्प्राप्तिपर्यन्तं कृत्यमाह क्वचिदिति,

आभासार्थ—इस तरह भगवदीय, पूर्णभगवद्रस में मग्न हो भगवत्प्राप्ति पर्यन्त क्या करते हैं जिनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद् धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।**
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ।।३२।।

श्लोकार्थ—वे भगवदीय, अच्युत भगवान् का चिन्तन (प्रभु से मिलने के लिये उन प्रभु को) मन से ढूंढ़ते हैं, जब वह नहीं मिलते हैं, तो रोने लगते हैं इतने में ऐसा स्फूरण होता है कि भगवान् तो सामने खड़े हैं, तो हँसने लगते हैं, और समझते हैं कि भगवान् तो हमारे वश होगये हैं, इसलिये प्रसन्न होते हैं । अनन्तर प्रेममत्त (प्रेम में मस्त) हो जाने से जो मुख में से निकलता है वो ही बोलते रहते हैं इत्यादि अवस्था के कारण वे लौकिक प्रवाह से पृथक् हो जाते हैं । भगवद् लीलाओं की स्फूर्त्ति (ध्यान) आजाने से नाचने और गाने लगते हैं । विशेष अवस्था में वे लीलाएं भी स्वयं करते हैं । इस तरह परमानंदावस्था को प्राप्त कर शांत हो जाते हैं, और अन्तिम निवृत्ति सुख के रस में मग्न हो जाते हैं ।। ३२।।

सुबोधिनी—पूर्णे रसे मत्तावस्थायामिव भेदे विगलिते भगवदन्वेषणेन तमप्राप्येव **क्वचिद् रुदन्ति**, पुनस्तमन्तिके स्फुरन्तमुपलभ्य वृथैव रुदितमिति **हसन्ति**, स्वाधीनतया स्फुरन्तं मत्वा **नन्दन्ति**, ततः सार्वज्ञ्यमत्तावस्थया यत् किञ्चिद् **वदन्ति**, एतावता प्रवाहात् पृथग् भवन्ति, ततः कायवाङ्मनस्स्वध्यासस्य फलमाह **नृत्यगीतानुशीलनानि**, दोषाभावायाजमिति, एवमध्यासस्य सार्थकत्वमुक्त्वा निवृत्तिमाह **भवन्ति तूष्णीमिति**, ततः परमरसं प्राप्य शान्तत्वात् परमसुखिन एव भवन्तीत्यर्थः ।।३२।।

व्याख्या—भगवदीय जब इस प्रकार रस से पूर्ण हो मत्तावस्था (मस्ती) को प्राप्त कर लेते हैं, तब भेद मिट जाने से भगवान् को ढूंढ़ने लगते हैं, ढूंढते ढूंढते जब यों समझने लगते हैं कि मानों प्रभु मिले नहीं, तब रोने लग जाते हैं । फिर उन (प्रभु) को पास में ही खड़े देख कर कहने लगते हैं कि हमने तो फिजूल रुदन किया ये तो यहाँ ही विराज रहे हैं यों कह कर हँसने लगते हैं । अब तो भगवान् हमारे वश में हो गए हैं, यों मान कर प्रसन्न होते हैं, इसके बाद में सर्वज्ञता (सब जानकारी) आने से मत्तावस्था (मस्ती) हो जाती है, जिससे ज्यों मुख से अपने आप जो निकलता है सो बोलते रहते हैं; इन कारणों से वे संसार प्रवाह से अलग हो जाते अर्थात् दुनिया की विचार भावना से अलग हो जाते हैं । काया (शरीर) मन और वाणी में जो अध्यास रहा है उसका फल कहते हैं,

काया से नाचते हैं, वाणी से भगवान् के गुणानुवाद गाते हैं और मन से भगवान् की लीलाओं का मनन करते हुए जब तन्मय (अनुराग से पूर्ण) हो जाते हैं, तब शरीर से उन लीलाओं का अनुकरण (नकल) करते हैं इस प्रकार उन (भगवदीयों) का इन्द्रियों में अध्यास सार्थक और हितकारक है, इन सब से वे मौनावस्था (शांति) प्राप्त करते हैं, क्योंकि परम रस प्राप्त कर वे आनन्दी बन जाते हैं (जैसा कि श्रुति कहती है—"रसे लब्ध्वा आनन्दी भवति") ।।३२।।

श्लोक—**इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।**
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार भागवत् धर्म सीखने से तथा उनका आचरण करने से भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति से भक्त नारायण परायण बनता है । नारायण परायण होते ही शीघ्र इस दुस्तर माया सागर को वह पार कर जाता है ।।३३।।

सुबोधिनी—एवं फलपर्यन्तं भगवद्धर्मानुक्त्वा तच्छिक्षया भगवत्परश्चेद् धर्मैर्धर्मिपरश्चेत् तदा सैव माया भर्तृस्थाने तं नयतीत्याहेतीति, क्षितैः **भक्तिर्भवति** तया **नारायणपरत्वं**, ।।३३।।

व्याख्या—इस प्रकार फल पर्यन्त भागवतधर्म कहे हैं—उनकी शिक्षा से अर्थात् उन पर आचरण करने से भगवान् के परायण होने पर वही माया अपने स्वामी के पास स्वयं उस भक्त को ले जाती है । भागवत्धर्मों के शिक्षण से ही भक्ति होती है. उस भक्ति से मनुष्य नारायण के परायण होता है ।।३३।।

राजो-उवाच-श्लोक—**नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।**
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ।।३४।।

श्लोकार्थ—राजा (जनक) कहने लगे, हे योगेश्वरों ! नारायण जिनका केवल नाम ही है, वैसे परमात्मा ब्रह्म की निष्ठा हमको कहिये क्योंकि आप ब्रह्मविदों में उत्तम हैं ।।३४।।

कारिका—**नारायणः परो यस्य परत्वं कीदृशं मतम् ।**
मार्गान्तराच्चेदुत्कर्षो विषयो ह्येक एव हि ।।१।।
प्रकारश्चेद्धर्मपरो विषयः कीदृशः परः ।
उत्कृष्टबुद्धिः सिद्धैव ततो निष्ठावशिष्यते ।।२।।
तद्धर्माणां न निष्ठात्वमतः पृच्छति संशयात् ।।३।।

कारिकार्थ—जिसका नारायण पर (परमेश्वर) है उसका परत्व कैसा माना गया है ? यदि मार्गान्तर से उत्कर्ष है तो निश्चपूर्वक भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्ग का भगवान् एक ही है । यदि मार्ग का परत्व माना जाता है तो तीनों का परत्व मानना चाहिये ।।१।।

नारायण शब्द का अर्थ नर के अयन का यह नारायण, यह यौगिक अर्थ लेना अथवा रूढ प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करना चाहिये ? यौगिक पक्ष का अर्थ लेने से क्या समझा जावे ? "धर्म" या "मार्ग" ? धर्म भी कैसा लिया जाय ? भगवन्निष्ठ धर्म विषय है, तब तो विषय भगवद्धर्म होगा, अतः किस प्रकार का परत्व माना जाय ? यदि कहो, इतना श्रवण करने पर भी आपकी बुद्धि में परत्व का ज्ञान नहीं हुआ है ? जिसका उत्तर राजा देता है, कि उत्कृष्ट बुद्धि तो सिद्ध हो गई है, अर्थात् परत्व हमने समझ तो लिया है किन्तु उसकी निष्ठा (पराकाष्ठा) जानने की इच्छा है। उसके धर्मों की तो (पराकाष्ठा) जानने की इच्छा है। उसके धर्मों को तो पराकाष्ठा नहीं है। इस संशय से पूछता हूं। आप ब्रह्मविदों में उत्तम हैं, अतः हमको वह सुनाइये ।।२१।।

सुबोधिनी—अतिगूढत्वात् तज्ज्ञापनाय हेतु-कथनं, **ब्रह्मवित्तमा** इति, नाममात्रमेवभेदकमित्य-मिधानपदं, श्रुतिस्मृत्यविरोधेन वक्तव्यमितिभावः ।।३४।।

व्याख्या—नारायण की निष्ठा का ज्ञान अति गूढ है, प्रत्येक इसको नहीं जानता है। इस रहस्य को आप जानते हैं। क्योंकि आप ब्रह्मवेताओं में श्रेष्ठ है। 'नारायण' यह केवल नाम मात्र का ही भेद है, अतः श्रुति तथा स्मृति के अनुकूल जो सिद्धान्त हो, वह कहिये ।।३४।।

आभास—उत्तरमाह षड्भिर्भगवत्त्वमेवोत्तरमिति ज्ञापयितुं,

आभासार्थ—ऊपर के प्रश्नों का उत्तर निम्न ६ श्लोकों से पिप्पलायन नाम के योगेश्वर देते हैं कि 'भगवत्व' ही इसका उत्तर है।

पिप्पलायन उवाच—श्लोक—**स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यः**
स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ।।३५।।

श्लोकार्थ—पिप्पलायन योगेश्वर कहने लगे कि हे राजन् ! प्रभु स्वयं अकारण होते हुए भी इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्त्ता बन कर कारण हो जाते हैं, तथा जो भगवान् इस जगत् के जीवों की स्वप्न, जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्था में अन्तर्यामी स्वरूप से साक्षी हो जाते हैं, और समाधि अवस्था तथा मोक्षदशा में आनन्दरूप से अनुभव कराते हैं, एवं जो सर्वत्र व्याप्त हैं, तथा जिनके व्यापकत्व के कारण देह, इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण आदि चेतनत्व पा कर ही क्रिया कर सकते हैं, वह भगवान् 'पर' स्वरूप हैं ।।३५।।

सुबोधिनी— अग्निरूपो वागधिपतिरिति मार्गत्रयेण परत्वं वक्तव्यं तत्र स्वमतेनाह **द्वाभ्यां** स्वरूपसम्बन्धिभेदात्, प्रथमं स्वरूपेणामाह **स्थितीति**, परत्वं हि त्रिविधमुत्कृष्टत्वं भिन्नत्वं नियन्तृत्वं च

तत्र श्रैष्ठ्यं जगतः परमकर्तृत्वेन, अवस्थात्रय-साक्षित्वं मोक्षेसमाधावप्यनुभूयमानत्वं सत्त्वेन भिन्नत्वानुभव उक्तः, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणान्येव जीवस्य परिकरस्तदुज्जीवकत्वेन नियन्तृत्वं, यद्यपि त्रिविधं परत्वं साधारणो धर्मस्तथापि भक्तिमार्गे भगवानसाधारणो भवति, ततश्च तस्योत्पत्ति-स्थितिप्रलयान् स्वयं करोति प्रवाहवैलक्षण्येन, अवस्थात्रये स्वयमेव सर्वहितकर्ता समाधिमोक्ष-योश्च यथासुखं च देहादीनां विनियोजकः, एतावता "विचिकीर्षितो म" इत्युक्तं भवति ॥३५॥

व्याख्या—वाणी के अधिपति अग्निरूप हैं, इसलिये तीनों मार्गों से परत्व करना चाहिये, जिसमें अपने मतानुसार स्वरूप सम्बन्धी भेद से दो श्लोकों में परत्व कहते हैं। पहले स्वरूप को कहते हैं—भगवान् का परत्व तीन प्रकार से हैं (१) उत्कृष्टत्व से, (२) भिन्नत्व से और (३) नियन्तृत्व से। इन तीनों में भगवान् का उत्कृष्टत्व इसीलिये है कि आप जगत् के मूल कारण हैं। तीनों अवस्थाओं में (जाग्रत, स्वप्न-सुषुप्ति) में साक्षी रूप से विराजते हैं। मोक्ष तथा समाधि में आनन्द रूप अनुभव कराते हैं, जिनसे आपका भिन्नत्व भी रहता है। जीव के परिकर-देह, इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण के उज्जीवक होने से आपका सब पर नियन्तृत्व है। अतः आप नियामक भी हैं; हालांकि यह त्रिविध परत्व साधारण[1] धर्म है, किन्तु तो भी भक्ति मार्ग में भगवान् असाधारण हो जाते हैं, कारण कि उसकी (भक्तिमार्ग की एवं भक्तिमार्गियों की) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आप स्वयं प्रवाह के विलक्षण प्रकार द्वारा करते हैं। तीनों अवस्थाओं में भक्तिमार्ग के और उसके अनुयायियों के सर्व प्रकार हितकर्ता आप ही हैं, और समाधि तथा मोक्ष में भी उनको सुख की परमानन्द की प्राप्ति हो तदर्थ उनके देहादि के विनियोग के संयोजक भी आप बनते हैं, भागवत् के "विचिकीर्षितो म" इस वाक्य के अनुसार भक्ति मार्ग मुझे प्रिय है अतः जिन भक्तों ने सर्व लौकिक आदि त्याग कर मुझे सर्व समर्पण किया है, उनको सर्वथा आनन्द प्राप्त होता रहे यही मुझे इष्ट है ॥३५॥

श्लोक—**नैतन् मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोपि बोधकनिषेधतयात्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥**

श्लोकार्थ—जैसे अग्नि की अपनी ही अंशरूप ज्वालाएं अग्नि के स्वरूप का प्रकाश नहीं करा सकती हैं, वैसे मन उस पर स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता है एवं वाणी, चक्षु, आत्मा, प्राण, इन्द्रियां ये सब परस्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकते हैं। इसी तरह वेदादि शास्त्र के शब्द भी भगवान् के परस्वरूप का बोध यही है, इतना है, ऐसा है, यों पूर्णतया नहीं करा सकते हैं। वेदादि भी कहते हैं कि परब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर हैं, वेद भी अर्थानुसार जितना कहा जा सकता है, उतना ही निरूपण करता है। अर्थात् परस्वरूप के पूर्णतः इदं इत्थं तया (इस तरह) वर्णन करने में सर्व असमर्थ हैं। यदि सर्व से विलक्षण यह मूल स्वरूप न हो तभी यह स्वरूप चक्षु आदि से ग्रहण नहीं किया जा सकता है, इत्यादि निषेध वाक्यों की सिद्धि भी नहीं हो सकती ॥३६॥

---

१ - जीव का कर्तृत्व आदि धर्म साधारण हैं कारण कि उसका कर्तृत्व भगवान् के आधीन है।

सुबोधिनी—सम्बन्धिपक्षं निवारयति तत्त्वेन ज्ञानं हि तत् तत्र धर्मिज्ञानमशक्यमित्याह **नेति**, सम्भावनामात्रं भगवद्विषयकं सर्वेषां वस्तुतस्तु ज्ञानं न सम्भवति करणानामसमर्थत्वात्, **मनः** पूर्वरूपं **वागुत्तररूपं** तेन प्रवाहालौकिकत्वेन न ज्ञानं, वेदव्यतिरिक्तयोगादयोपि सङ्गृहीताः, **उतेति** भिन्नप्रक्रमे लौकिकाः, **चक्षुरात्मेति** बहिरन्तर्ज्ञानशक्ती, **प्राणेन्द्रियाणि चेति** क्रियाशक्तिः, **चकाराद्** देवतावर्गः, "पराञ्चि खानी" त्यत्रापि सम्भावनाज्ञानमेव,विद्यमानस्य सम्बद्धस्य प्रकाशाभावोनुपपन्न इति तदर्थं लौकिकदृष्टान्तमाह, भगवत्तेजोव्यतिरेकाय **स्वा** इति, **अर्चिषो** ज्वालाः, वेदादपीदमित्थतया ज्ञानं वारयति **शब्दोपीति**, वेदाद् भगवज्ज्ञानं त्रेधा सम्भवति स्वतन्त्रकरणत्वेन स्वबोधितकरणत्वेन स्वहेतुत्वे च, तत्र क्रिया वा ज्ञानं वा काण्डद्वयार्थ इति तच्छेषत्वेनैवेतरनिरूपणादन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् स्वतन्त्रतया न स्वतन्त्रकरणत्वेन निरूपणं, विधिशेषत्वं वा ज्ञानशेषत्वं वा सर्वस्य किन्त्वर्थार्थमुक्तं "ब्रह्म भवति" **स्वोद्गमहेतुत्वेन च**, भगवति करणानि तु स्वत एव निषेधति "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिना "को अद्धा वेदे" ति च "वेदा अवेदा" इति च, तर्हि 'ब्रह्मवि' दिति किङ्करणकं ज्ञानं ? स्वकरणकमेवेति ब्रूमो यदि ब्रह्माविर्भवेत् तदा न करणानां काचिच्छक्तिः, तथाज्ञानं तु पूर्वश्लोक एव निरूपित "मात्मानं च प्रदर्शये" दिति, स्वस्यापि वृत्तान्तकथनमात्रत्वं न बोधकत्वं, तथा च शब्दस्य व्यापारोस्ति न बोधकत्वं, करणनिषेधे कथं बोधकत्वमत आह **यद्दतेति**, निषेधावधित्वात्, ब्रह्मानिरूपणे कुतो निवर्तेरन्निति वाक्यार्थापर्यवसानं स्यात् "तमेव विदित्वे" ति तूपासनाकाण्डस्थितत्वात् "**तमेकमेव**" "**सर्वभावेनाश्रये**" दित्युक्तं भवति, अन्यथेतरविज्ञानेन मोक्षः स्यात्, तच्चावश्यकं, तस्मादिदमित्थतया ज्ञानमेव नास्तीति न द्वितीयः पक्षः ।।३६।।

व्याख्या—स्वरूपतः परत्व समझाने के अनन्तर सम्बन्धी पक्ष का निवारण करते हैं–उत्कृष्ट सम्बन्धित्व से जो ज्ञान हो वह तत्व से ज्ञान है किन्तु उससे धर्मी का ज्ञान होना अशक्य है। इसलिये कहते हैं कि 'न' जो ज्ञान वेद प्रचेतों से भगवद्विषयक होना कहा जाता है, वह सम्भावना मात्र ही है। वास्तव में ज्ञान होता नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि जो करण (ज्ञान के साधन) हैं, उनमें ज्ञान (जान लेने) की सामर्थ्य नहीं है, मन पूर्वरूप है, वाणी उत्तररूप है, अतः जैसे सामान्य लक्षण से एवं ज्ञान लक्षण से प्रवाह रूप लोक के पदार्थ के स्वरूपों का ज्ञान होता है, वैसे इनसे परमात्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। कारण कि वेदों में इस दृश्य लौकिक प्रयत्न से नामात्मक प्रपञ्च भिन्नता सिद्ध की गई है। अतः लौकिक प्रपञ्च बन्धक है और नाम प्रपञ्च संसार से मोचक है। लौकिक दृश्य प्रपञ्च अनित्य है और वेद (नाम प्रपञ्च) नित्य है, कारण कि, वह, आधिदैविक तत्त्व का प्रतिपादन कर माया से मुक्त कराता है। वेद व्यतिरिक्त योगादि भी भगवत्तत्व का पूर्ण ज्ञान कराने में असमर्थ है। योग में मनो निरोध का उपदेश है, वह निरोधित मन भी परमतत्व ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। 'उत' पद से यह सूचित किया है कि लौकिक साधन तथा उपाय भी उसके ग्रहण करने में असमर्थ हैं। बाह्यज्ञान शक्ति (चक्षु) आन्तर ज्ञान शक्ति (अन्तःकरण) और क्रिया शक्ति (प्राण तथा इन्द्रियां) और उसके देवता भी उसके ज्ञान प्राप्त करने में अशक्त हैं। योग से निरुद्ध चक्षु आदि भी क्यों नहीं प्राप्त कर सकती हैं, जिसका कारण यह है कि कठोपनिषद में "पराञ्चि खानी" श्रुति से यह सिद्ध है कि इन्द्रियां बहिर्मुख हैं अतः वे परमात्मा को पहुंच नहीं सकती हैं।

इस विषय को समझाने के लिये लौकिक दृष्टान्त दिये हैं कि जैसे अग्नि की अपनी चिनगारियाँ अग्नि से सम्बन्धित होते भी, अन्य पदार्थ को तो प्रकाश देती है, तथा जलाती भी, है किन्तु अग्नि को न प्रकाश दे सकती है और न जला सकती है, वैसे ही मन आदि इन्द्रियाँ भी बाहर के सर्व पदार्थों

को तो देख एवं जान सकती है किन्तु उस परमात्मा को नहीं जान सकती है, वे तो प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र आदि सबकी मूल है ।

शङ्का—यदि वे वागादि अविषय हैं तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुति की चरितार्थता कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि शब्द भी अर्थात् वेद शास्त्र भी आत्म ब्रह्म का प्रमाण होते भी साक्षात् निरूपण नहीं कर सकते हैं, केवल तात्पर्यार्थ से ही इंगित कर देते हैं, जो यों भी न करे तो निषेध की सिद्धि न हो सके ?

वेद से भगवान् का ज्ञान तीन तरह से होता है—(१) स्व (स्वतन्त्र) करण से (२) स्वबोधिक करण से और (३) निज हेतुत्व से । वेद में दो काण्ड हैं, एक पूर्व काण्ड जिसका अर्थ क्रिया (कर्म) है, दूसरा उत्तरकाण्ड जिसका अर्थ 'ज्ञान' है, अतः प्रत्येक काण्ड के अर्थ की मुख्यता मानी गई है, अतः अन्य अर्थ का निरूपण इन मुख्य अर्थों के अङ्ग तरीके से ही किया जाता है, नहीं तो वाक्य भेद का दोष प्राप्त होता है, यह दोष प्राप्त न हो इसलिये किसी भी काण्ड का स्वतन्त्रकरण से अर्थ नहीं किया है और न समग्र वेद का निधि शेषत्व तथा ज्ञान शेषत्व कहा गया है, किन्तु अर्थार्थ के लिये कहा गया है, अर्थात् फलार्थ के लिये कहा है ।

अपने उद्गम हेतुत्व से ब्रह्म स्वयं वैसे बनते हैं, अर्थात् स्वेच्छानुसार रूप धारण करते हैं, वेद स्वयं निषेध करता है कि भगवान् का ज्ञापन[1] इद्रियाँ नहीं कराती हैं, यदि यों है तो, 'ब्रह्मवित्' आप्नोतिपरं ब्रह्मवेत्ता ने ब्रह्म का किस इन्द्रिय से ज्ञान किया है ? जिसका उत्तर है कि भगवान् स्वकरण से ही ज्ञान कराते हैं, ब्रह्म के आविर्भाव होने में किसी करण (इन्द्रिय) [illegible] क्ति नहीं है । इस प्रकार का ज्ञान तो पूर्व श्लोक में निरूपण किया है । वेद जो वर्णन करते हैं वह वृत्तान्त, कथनमात्र है, न कि बोधक है, और वैसे शब्द का व्यापार मात्र है, न कि बोधकत्व है । जब करण का निषेध किया तो, बोधकत्व कैसे ? इस पर कहते हैं कि, यदि यों ब्रह्म का कथन न किया जावे तो निषेधों की सिद्धि कैसे हो, एवं उनकी अवधि का ज्ञान कैसे हो ? यदि ब्रह्म का निरूपण न किया जावे तो 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियों की सार्थकता कैसे हो ? 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' यह श्रुति वाक्य उपासना काण्ड में कहा गया है, तथा 'तमेकमेव' 'सर्व भावेनाश्रयेत्' इत्यादि वचनों से यह सिद्ध है कि उसको ही जानने से जीव मृत्यु का उल्लङ्घन करता है, उस एक ही परब्रह्म को जानो, उसका ही सर्व भाव से आश्रय ग्रहण करो । इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है । उस परमात्मा का ज्ञान एवं आश्रय ग्रहण किये बिना मोक्ष नहीं, अतः वह आवश्यक है, ब्रह्म इतना ऐसा ही है ऐसा सीमित ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है इसी तरह द्वितीय पक्ष (सम्बन्धिपक्ष) का स्वतः निवारण हो जाता है ॥३६॥

श्लोक—**सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।**
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ।३७।

१—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' 'को अद्धावेदविदा अवेदा' जहाँ से वाणी लौटती है, कौन उसको जानता है, जहाँ वेद भी अवेद बन जाते हैं ।

श्लोकार्थ—सत्व, रज तमोगुण रूपा त्रिवृत् (इन तीनों गुणों से जकड़ी हुई) प्रकृति, यह परब्रह्म का प्रथम एक कार्य है, दूसरा कार्य है, क्रिया शक्ति से सूत्र की उत्पत्ति, ज्ञान शक्ति से महान् की उत्पत्ति तथा उससे 'अहं' जीवोपाधिरूप अहङ्कार, और उस (अहङ्कार) से उपहित चैतन्यजीव, इस प्रकार की उपाधिवाला 'जीव' कहलाता है। क्रिया, ज्ञान, विषय तथा फल इन चार प्रकार वाले अनन्त शक्तिमान् परब्रह्म ही सर्वत्र सर्वरूप से प्रकाशित हो रहे हैं। असत् और सत् रूप से तथा उसके परे नियामकरूप से भी वह मूलरूप परब्रह्म ही है ॥३७॥

सुबोधिनी ज्ञानमार्गानुसारेण परत्वमाह **सत्त्वमिति**, ब्रह्मणो निष्ठा शश्वत् सर्वत्र भानानुसन्धानं, भासमानस्य वस्त्वन्तरत्व वारयितुं ब्रह्मत्वविधानार्थमनुवदति, उद्भूतैर्गुणैर्ग्रथितं कार्योन्मुखं प्रधानं तदेकं कार्यमित्यर्थः, तदनु क्रियाज्ञानाहम्मतिरूपं त्रिविधजीवोपाधिरूपं कार्यं द्वितीयं, ततः **क्रिया-ज्ञानविषयफलभेदेन** चतुर्धा मध्य उच्चनीचनियामकरूपत्रयं च, एतावानेव नामरूपयोरपि भानात् तस्य मूलमन्यद् भविष्यतीत्याशङ्कयाह **ब्रह्मैवेति**, माया भवेन् मूलं तथासत्यसत्त्वाद् भानं न सम्भवतीतिभावः ॥३७॥

व्याख्या—इस श्लोक में ज्ञान मार्ग के अनुसार परब्रह्म का परत्व[1] कहते हैं— ब्रह्म की निष्ठा का भावार्थ है कि निरन्तर सर्वत्र प्रकाश का अनुसन्धान, जो कुछ भास रहा है वह अन्य वस्तु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है यों सिद्ध करने के लिये अनुवाद करते हैं।

उत्पन्न हुए 'त्रिवृत्' (सत्व, रजस और तमस) से ग्रथित प्रकृति को कार्य में प्रेरित किया, यह प्रथम कार्य है, द्वितीय कार्य क्रिया, ज्ञान, अहङ्काररूप त्रिविध जीवोपाधिरूप है, अनन्तर क्रिया, ज्ञान, विषय और फल के भेद से ४ प्रकार के बने, तथा मध्य में ऊंच-नीच और नियामकरूप से तीन रूप हुए। सर्व शब्द का अर्थ इतना ही है। नाम और रूप का भान हो रहा है, इसलिये इसका मूल अन्य कोई होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'ब्रह्मैव' ब्रह्म ही मूल है। वह जो भास रहा है, वह सर्व ब्रह्म ही है। यदि माया को मूल माना जाएगा तो यह सब असत्य मानना पड़ेगा। असत्य पदार्थ का भान नहीं होता है जैसे 'ख पुष्प' (आकाश का पुष्प) मायिक है तो उनका भान (प्रकाश) नहीं होता है। अतः मूल सत्य है, यों ही कहा गया है, वह सत्य, 'ब्रह्म' ही है ॥३७॥

आभास—स्मृत्यादिमार्गेण परमात्मनिष्ठामाह त्रिभिः,

आभासार्थ—अब तीन श्लोकों से स्मृत्यादिमार्ग से परमात्मा की निष्ठा कहते हैं।

श्लोक—**नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेसौ**
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।

१—परत्व का भावार्थ तीन प्रकार के जो परिच्छेद हैं वे जिसमें न हो।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो
यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, मरता भी नहीं है, न बढ़ता है और न घटता है, क्योंकि यह आत्मा तो वस्तुतः इस देह के बाल्यादि अवस्थाओं का साक्षी रूप से दृष्टा (देखने वाला) है। यह आत्मा सर्वत्र व्यापक है, और नित्य वृद्धि आदि विकारों से रहित है, ज्ञान स्वरूप है। दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे प्राण उत्पन्न नहीं होते हैं वैसे ही आत्मा भी उत्पन्न नहीं होता तथा जैसे सुवर्ण मनुष्यों के ज्ञान द्वारा इन्द्रियबल से अनेक रूपों में आते हुए भी अन्यथा नहीं होता है, सर्व अवस्था में सुवर्ण ही रहता है वैसे ब्रह्म भी है ॥३८॥

सुबोधिनी— तत्र ह्यात्मपरमात्मनोर्न भेदः किन्त्वात्मन एव कालाद्यनभिभूतं रूपं परमात्मा तस्य सदान्तःकरणे स्फुरणं तन्निष्ठा, तत्र तावता आत्मनो दोषसम्बन्धे तत्त्वेपि तथात्वं स्यादिति प्रथममैहिकदोषं दूरीकरोति नेति, सङ्घाते जायमानानां भवति सन्देहः, तत्र भगवन्मार्गे ब्रह्मवादे च जन्ममरणौ स्तो न त्वन्ये धर्मा "अनित्ये जननं" "जन्म त्वात्मतये" त्यादिनिरूपणात्, स्मृतौ तु चत्वारोप्येते धर्मा न जीवस्य, तत्र हेतुः **सवनविद् व्यभिचारिणामिति**, बाल्यकौमारयौवनादिदेहानामप्यारम्भ्यारम्भकवादानङ्गीकारात्, वैजात्याच्चावस्थासहितानां बाल्यादिदेहानामुत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या, तत्र तेषां कालज्ञानमस्ति तन्न्यायेन जन्ममरणयोरपि भविष्यतीति हेतुत्वं संस्कारः परं नाधीयते, हीत्यनेन द्रष्टृदृश्ययोर्भेद उक्तः, हेत्वन्तराण्याह **सर्वत्रेत्यादिचतुर्भिः** पदैः, न हि व्यापकस्य जन्म सम्भवति न वा नित्यस्य मरणं, सर्वत्राविश्लेषवतो न हि वृद्धिः सम्भवति, न हि विद्धातोः क्षयः सम्भवति तथात्वं च श्रुतेः, सङ्घाते विद्यमानस्य कथमेवमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा प्राणो न जायते**, तत्रापि सन्देहे दृष्टान्तान्तरमाह **यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सदिति**, सत् सुवर्णादि, **इन्द्रियबलेन** ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या वा नानाविकारं प्रापितमपि न जायते, सर्वदा तस्य सुवर्णत्वात् ब्रह्म वाचादिभिः विकारा एव जायन्ते न तज् जायत इत्यर्थः ॥३८॥

व्याख्या—स्मृत्यादिमत में 'आत्मा' और 'परमात्मा' में भेद नहीं है किन्तु आत्मा का ही रूप परमात्मा है जो कालादि से अभिभूत (प्रभावित) नहीं है। उस रूप का सदैव अन्तःकरण में स्फुरण होता रहता है, वह ही उसकी निष्ठा है। ऐसी भावनावालों को आत्मा परमात्मतत्व होते हुए भी कालादि से अभिभूत होनेवाली अवस्था में स्वभाव से दोष सम्बन्ध होने से सदोष भासेगा, इस शङ्का को मिटाने के लिये पहले उसमें ऐहिक दोषों का अभाव 'नात्माजजान' श्लोक से सिद्ध करते हैं

जिनका सङ्घात में जन्म हुआ है, उनके विषय में ही संदेह होता है। इस विषय में भक्तिमार्ग और ब्रह्मवाद में तो जीव के जन्म मरण ये दो धर्म माने गये है, अन्य धर्म नहीं, जन्म का अर्थ समागम है; अर्थात् आत्मत्व से स्वीकार जन्म है। जैसे कि कहा है 'अनित्ये जननं' स्मृतिमत में तो जीव में चारों धर्म नहीं हैं, उसमें कारण यह हैं कि आत्मा देह के बाल्य, कौमार, युवादि अवस्थाओं

के काल (समय) को जानता है। क्योंकि इस में देहों के आरम्भ से उत्पत्ति होती है इस मत को स्वीकार नहीं किया है। वैजात्य (जुदी जाति) के कारण ही अवस्था सहित बाल्यादि देहों की (जीवों की नहीं) उत्पत्ति अङ्गीकार करनी चाहिये, अर्थात् की गई है। उत्पत्ति का स्वीकार काल ज्ञान बिना नहीं हो सकता है। अतः आत्मा को बाल्यादि अवस्थाओं के काल का ज्ञान होता है, इस न्याय से जन्म मरण के काल का ज्ञान भी आत्मा को होता है यों अनुमान हेतु द्वारा जाना जाता है, किन्तु केवल संस्कार का आधान (धारण) नहीं होता है 'हि' पद से दृष्टा और दृश्य का भेद कहा। इस स्मृतिमत की पुष्टि में अन्य हेतु कहते हैं– 'सर्वत्रादि इन चार पदों से' जो व्यापक है, सर्वत्र है उसका जन्म नहीं होता है। जो शाश्वत् नित्य है उसका मरण नहीं होता है। जिसकी केवल उपलब्धि (प्राप्ति) है[१] उसकी वृद्धि नहीं होती है, विद् धातु का अर्थ जानना है नहीं कि क्षय अर्थ है श्रुति भी यों कहती है–तात्पर्य यह है कि इस स्मृतिमतानुसार आत्मा (जीव) के जन्म मरण, बढ़ना और घटना ये चारों धर्म नहीं हैं। किन्तु ये धर्म देह के हैं, जब सङ्घात (देह) विद्यमान है तो यों कैसे माना जावे? जिसके उत्तर में दृष्टान्त देकर अपना सिद्धांत स्थिर करते हैं कि जैसे प्राण जन्मते नहीं, यदि इस दृष्टान्त से भी समाधान न होवे तो दूसरा दृष्टान्त देते हैं। "यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्" सुवर्णादि धातु मनुष्यों के ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय द्वारा अनेक स्वरूपों को धारण करने पर भी विकृत नहीं होता है। सर्व अवस्था में सुवर्ण ही है; वैसे ही ब्रह्म (आत्मा) भी अविकृत रहता है। ब्रह्म में वाणी आदि से विकार पैदा होते हैं, न कि आत्मा स्वयं विकृत बनता है ॥३२॥

श्लोक—अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो
हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥

श्लोकार्थ—खगयोनियों[२] में, मनुष्य योनियों[३] में, वृक्षादि उद्भिज योनियों[४] में और अनिश्चित स्वेदजादि[५] योनियों में जब जीव इन्द्रियों सहित प्रवेश करता है, तब प्राण भी उसके पास पीछे-पीछे दौड़ता जाता है, जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था में देहाभ्यास के कारण आत्मा का पृथक् अनुभव नहीं होता है, किन्तु जब जीव सुषुप्ति अवस्था में निद्रा के कारण भौतिक संघात (देह) से पृथक् हो जाता है, उस समय इन्द्रियों के लय हो जाने से एवं अहङ्कार भी स्वप्नावस्था में गाढ़ लय को प्राप्त होता है, एवं देहादि की भी निवृत्ति सी हो जाती है, तब स्थानाभाव के कारण आत्मा

१—जो किसी से कभी भी पृथक् नहीं होता है, न उसका जन्म, मरण, तथा उसका घटना, बढ़ना होता है वह 'आत्मा' है, ये गुण, धर्म श्रुति बताती है। २—अण्डे से उत्पन्न होने वाले।
३—जरायु से पैदा होने वाले। ४—जल से पैदा होने वाले।
५—पसीने से पैदा होने वाले।

कूटस्थ हो, निर्विकार रूप से स्थिति करता है। अतः सुषुप्ति के बाद जीवों को उस अवस्था का स्मरण रहता है जिससे कहते हैं कि हम 'सुखपूर्वक' सोये थे। उस वक्त किसी का ज्ञान नहीं था इससे सिद्ध है कि सङ्घात में निर्दोष कूटस्थ आत्मा मौजूद है ॥३९॥

सुबोधिनी— एतादृशात्मास्तित्वे प्रमाणमा- **हाण्डेष्विति**, देहान्तरसम्बन्धो जीवस्यास्तीति सिद्धं, तत्र भोक्ता जीवः कर्ता प्राणः, यदा जीव इन्द्रियाणि गृहीत्वा **तत्र तत्र** गच्छति तदा **प्राणो हि जीवमुपधावति, अविनिश्चिताः** स्वेदजाः क्षुद्राः, ततश्च सङ्घाताद् गमनं द्वयोरुक्तं भवति, तथा च सङ्घातभिन्नस्य न तद्धर्मसम्बन्ध इतिभावः, सङ्घाताद् भेदेनुभवमप्याह **सन्न** इति. आधिभौतिकान्निद्रयैव पृथक् कृतः 'सुषुप्तौ पुनरिन्द्रियाहङ्कार- योरपि लयः, तदा स्थानाभावात् **कूटस्थो** भवत्यात्मा, भेदे हि ब्रह्मसकाशे गमनं, अन्यथा स्वयमेव कूटवत् तिष्ठति, स तिष्ठतीत्यत्रास्माक- **मनुस्मरणं** प्रमाणं "सुखमहमस्वाप्स" मिति, ततश्च सर्वदोषरहितः कूटस्थ आत्मा सङ्घाते वर्तत इति सिद्धम् ॥३९॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार के आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये 'अण्डेषु' यह श्लोक में कहा है जिससे यह सिद्ध है कि अन्य देहों का सम्बन्ध जीव को है। वहां जीव भोक्ता है और कर्ता प्राण है जब जीव इन्द्रियों को लेकर देहों में प्रवेश करता है तब प्राण भी जीव के समीप ही पीछे-पीछे दौड़ता है। यहां इस शङ्का का निवारण करते हैं कि जब बृ. उ. श्रुत्यनुसार जीव पुरीत्तति नाड़ी में प्राज्ञ आत्मा से मिलता है, तब कूटस्थ आत्मा देह में है, यह कैसे बन सकता है।

अण्डों से उत्पन्न पक्षियों की योनि, पेशिनाल से बद्ध मनुष्य योनि, उद्भिज पृथ्वी को फोड़कर निकले हुए वृक्ष आदि उनकी योनि तथा अनिश्चित् जिनकी उत्पत्ति का पूर्ण रीति से निश्चय नहीं ऐसे स्वेद (पसीने) से उत्पन्न जीवों की योनि इसी तरह चार प्रकार की जीव योनियां हैं। सङ्घात प्राण और जीव दोनों गमन करते हैं। अतः दोनों सङ्घात से भिन्न हैं जिससे देह धर्म से उनका सम्बन्ध नहीं है, पृथक् होते हुए भी अनुभव तो होता ही है, यों सिद्ध करने के लिये कहा है कि 'सन्ने', जब इन्द्रियगण तथा अहङ्कार सुषुप्ति अवस्था में लय पाते हैं, तब स्थानाभाव से आत्मा कूटस्थ होता है। भेद होने पर ही ब्रह्म के समीप गमन कर सकता है— अन्यथा स्वयं ही कूटस्थ की तरह रहता है। वह रहता है इसमें हमको जो उस अवस्था का स्मरण रहता है, वही प्रमाण है, जैसा कि "सुखमहमस्वाप्तं' सुषुप्ति के अनन्तर जाग्रत अवस्था में आकर कहते हैं कि हम सुख पूर्वक सो रहे थे। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वदोषरहित कूटस्थ आत्मा सङ्घात में है ॥३९॥

श्लोक—**यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतो**
मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितुःप्रकाशः ॥४०॥

श्लोकार्थ—इस श्लोक में आत्मा का परत्व बताते हैं—

जब जीव, भक्तिमार्गानुसार, पद्मनाभ प्रभु के चरणों की प्राप्ति की उत्कट इच्छा से परम प्रेमाभक्ति प्राप्त करता है। तब गुण और कर्म से उत्पन्न उसके अन्तःकरण के मलनाश हो जाते हैं एवं जैसे निर्मल नेत्रवाले को सूर्य का प्रकाश सर्वदा सर्व प्रकार स्पष्ट पूर्णतः दिखता है, वैसे उस भक्त के प्रेम से हुए निर्मल चित्त में सर्वदा साक्षात् परमतत्त्व प्रकाशता रहता है ॥४०॥

सुबोधिनी—तस्य परत्वमाह **यर्हीति**, अन्तःकरणे शुद्धात्मानुभवः परमात्मनिष्ठा, जगत्कारणविग्रहस्य भक्तिमार्गानुसारेणान्वेषणे यत् प्रेम भवति तत् पुनः प्रवृद्धमन्तःकरण**मलानि** दूरीकरोति, भक्तेर्बहुफलत्वात् **यर्हीत्युक्तं**, ज्ञानार्थं यतमानस्यैतद् भवति, सामर्थ्यविशेषयुक्तस्यात्मविशेषस्य **भक्त्यान्तःकरणनैर्मल्यं** वाक्यात् प्रतिसिद्धान्तसिद्धं वा, तन्मार्गे साधनाभावं सूचयति **यर्हीति**, **विशुद्धत्वं** मार्जनेन तेजःसम्पादने तदर्थं च प्रेमैव स्फुरितं वा प्रतिबिम्बे वेति सन्देह **साक्षादिति**, तदवच्छेदेन तस्मिन्नाविर्भावे तेनैव ग्रहणं, ननु जडेन तद्ग्रहणे विषयत्वं स्यात् प्रतिफलितेन ग्रहणेन प्रत्यक्षत्वं स्फुरणमात्रत्वेन पुरुषव्यापार इति चेत् तत्राह **यथेति**, चक्षुरध्याध्यात्मिकं रूपं तथा प्रकृतेप्यलौकिकमप्राकृतं, **सवितुरिति** स्वत एवोद्गतस्य, **प्रकाश** इति स्फुरणं, अपराधीनता च, चैतन्यानुसन्धानमित्यर्थः ॥४०॥

व्याख्या—उस प्रभु का परत्व कहते हैं 'यर्हि इति' अन्तःकरण में शुद्ध आत्मानुभव ही परमात्म निष्ठा है। जगत् कारण विग्रह भगवान् का जब भक्तिमार्गानुसार अन्वेषण (खोज) करते हुए, ज्यों-ज्यों उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा बढ़ती है, त्यों-त्यों प्रेम उत्पन्न होता है, वह प्रेम बढ़कर गुण तथा कर्म से अन्तःकरण में उत्पन्न मलों को नाश करता है, भक्ति बहुफलरूपा है, यों बताने के लिये श्लोक में, 'यर्हि' कहा है। इसी तरह जब बढ़ी हुई प्रेमाभक्ति से मलों के नाश हो जाने से अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तब उस अन्तःकरण में आत्मतत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है। ज्ञानार्थ प्रयत्न करने वालों को यह होता है। सामर्थ्य विशेषयुक्त आत्मतत्व जिसके अन्तःकरण में स्फुरित होता है, उसके अन्तःकरण की निर्मलता भक्तिबल से सिद्ध होती है, यों प्रमाणवाक्य से अथ च प्रति सिद्धान्त से भी सिद्ध होता है, यों कहने का आशय यह है कि कर्म मार्ग में ऐसे साधनों का अभाव है।

जहां इसी तरह अन्तःकरण प्रेमा-भक्ति से शुद्ध हो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, वहां तेजो वृद्धि स्वतः होती है, तदर्थ प्रेम का ही स्फुरण होता है वा प्रतिबिम्ब में प्रतीति होती है? इस शङ्का का निवारण मूल श्लोक में 'साक्षात् आत्मतत्त्व उपलभ्यते' कहा है, अर्थात् प्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु साक्षात् आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। ऐसा अधिकार प्रेमाभक्ति से ही प्राप्त होता है, ऐसे अधिकारी के यहां ही आत्मतत्त्व का परमात्मत्व रूप से प्राकट्य होता है, वह अधिकारी ही उसको ग्रहण कर सकता है, अर्थात् दर्शन कर आनन्दमय हो जाता है, सर्वथा उसका ही अनुसन्धान करता रहता है ॥४०॥

आभास—मार्गत्रयेणाश्रयं श्रुतवतो राज्ञः कर्ममार्गे सर्वदा विशेषेण श्रद्धावतो बहुधा जिज्ञासमानस्य प्रश्नः,

आभासार्थ—राजा जनक ने भक्ति, ज्ञान और कर्म तीन मार्गानुसार भगवदाश्रय का श्रवण किया, किन्तु राजा को कर्ममार्ग में विशेष श्रद्धा है अतः फिर कर्मयोग के विषय में प्रश्न करता है—

राजोवाच श्लोक—**कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।**
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—राजा योगेश्वरों से कहता है कि, हमको वह कर्मयोग बतलाइये मनुष्य शुद्ध होकर मोक्ष में प्रतिबन्धक कर्मों को शीघ्र नष्ट कर परममोक्ष को प्राप्त होता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति कर लेता है ॥४१॥

सुबोधिनी—प्रथमपाद एव प्रश्नः, तस्य स्वमार्गानुसारेण फलनिर्णयमाह त्रिभिः पादैः, संस्कारकर्मक्षयमोक्षा ऐहिकामुष्मिकगमनक्रमेण "स्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुते" "निर्वरुणत्वाये" ति च, "विराजमभिसम्पद्यते" "ब्रह्मार्पण" मिति च, तस्य निर्णयो मार्गान्तरा-विरोधेन ज्ञातव्यः ॥४१॥

व्याख्या—प्रथमपाद में प्रश्न है, तीन पादों में स्वमार्गानुसार फल कहा है। (१) संस्कार, (२) कर्मक्षय और (३) मोक्ष, इहलोक के क्रम से प्रथम शरीरस्थ भौतिक पदार्थों का संस्कार होता है, जैसा कि कहा है 'अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुत' (यजमान अस्थि और मांस का संस्कार करता है) 'निर्वरुणत्वाय' (बन्धन में से छूटने के लिये) 'विराजमभिसम्पद्यते' (वह विराट्) पुरुष से मिलता है, "ब्रह्मार्पणं" (कर्म ब्रह्म को अर्पण करने से बन्धक नहीं होता है) इस प्रकार कर्म मार्ग द्वारा मोक्ष सूचित किया है, संस्कार, कर्मक्षय एवं मोक्ष इन तीनों का निर्णय अन्य मार्ग के अविरोध से समझना चाहिये ॥४१॥

श्लोक—**एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।**
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे ऋषीश्वरों ! मेरे पिताजी इक्ष्वाकु के पास ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार पधारे थे, तब मैंने ऐसे ही प्रश्न उनसे किये थे परन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, जिसका क्या कारण है ? वह कहिये ॥४२॥

सुबोधिनी—किञ्च सन्देहान्तरमाहैवमिति, **पूर्वं कर्मयोगे**ल्पः सन्देहः स्थितः, त्यक्तकर्मणो दृष्ट्वा कृतः प्रश्न परमिक्ष्वाकुसमीपे ततः सन्देहः **कर्मयोग** एवासमीचीनः तेषामवक्तव्यो वा सदोषे परित्यागभयं वा, "न बुद्धिभेदं जनयेत्" दिति वा, **अतस्तत्र कारणमुच्यताम्** ॥४२॥

व्याख्या—राजा को पहले कर्मयोग के विषय में अल्प सन्देह था, किन्तु ऋषियों को देखा कि उन्होंने कर्म करना त्याग दिया है, तब विशेष सन्देह उत्पन्न हुआ। क्या कर्मयोग ही श्रेष्ठ नहीं है,

अथवा दोषपूर्ण है ? इनका उत्तर इसलिये नहीं दिया है कि यह बालक है, उसको कहूँगा कि कर्म असमीचीन (अनुचित) और सदोष है तो वह बालक बुद्धि से कर्म त्याग कर देगा। इसलिये उन्होंने गीता के 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' को ध्यान में रखकर उत्तर नहीं दिया है, अथवा अन्य कोई कारण है वह कहिये ॥४२॥

आभास—कर्मनिर्धारेणैवास्यापि गतार्थत्वादेकस्यैवोत्तरमाह कर्माकर्मेति, सर्वे यज्ञा अस्मिन् प्रकटा भवन्तीति तथा आविर्होत्र इतिसञ्ज्ञेत्यर्थः,

आभासार्थ—कर्म के निर्धार से इसका भी निर्धार हो जायगा। अतः 'कर्माकर्मविकर्मेति' श्लोक से एक का ही उत्तर देते हैं ॥४३॥

आविर्होत्र उवाच—श्लोक—**कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।**
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥

श्लोकार्थ—आविर्होत्र[1] योगेश्वर उत्तर देते हैं—

कर्म, अकर्म और विकर्म का स्वरूप क्या है ? यह वेद ही कह सकता है, क्योंकि यह वाद (विषय) वेद का है, लौकिक नहीं है, अतः वेद विषय निर्धारार्थ लौकिक कल्पना करनी उचित नहीं है, कारण कि वेद की आत्मा ईश्वर है, इसलिये उसके विषय में विद्वान् लोग भी मोहित हो जाते हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—आदौ कर्मणां त्रैविध्यं प्रामाण्यं चाह, विषयो भिन्नो लौकिको वैदिकश्च, तत्र लौकिकाः प्रत्यक्षादिसमधिगम्या वैदिकास्तु वेदैकसमधिगम्याः, तत्र शब्दमूलानां न प्रत्यक्षादिबाधकत्वं, समानशब्देषु सन्देहः, तत्रापि दध्यादिवद् भेद एव, प्रकृते तु **कर्माकर्मविकर्मेति** विहितं निषिद्धं विहिताकरणरूपं च, **वैदिकप्रसिद्धोयमर्थो न लौकिकः**, तत्र **वेदे** परम्परया शब्दार्थनिर्धारेप्यभिप्रायः सन्दिग्धः, न च सन्दिग्धप्रमाणको न वा तथात्वं दोषः, **वेदस्त्वीश्वरः** स्वात्मानं वदति, **तत्राभिप्रायसन्देहात्** स्वभ्रान्त्या प्रतीतेर्थे वेदतात्पर्यनादिनः परस्परमतानुसन्धानेन न मुग्धा भवन्ति, तस्माद् वेदनिर्धारार्थे न कल्पना युक्ता ॥४३॥

व्याख्या—आविर्होत्र पहले त्रिविध कर्म और उनके प्रमाण वे समझाते हैं कि लौकिक और वैदिक विषय दोनों भिन्न हैं, कारण कि, लौकिक विषय प्रत्यक्ष आदि से पूर्णरीति से समझा जाता है, किन्तु वैदिक विषय केवल वेद से ही जाना जाता है। धर्म, देवता स्वरूप तथा कर्म इनका मूल वेद है तो भी वे प्रत्यक्षादि के बाधक नहीं है, समान शब्दों में सन्देह है जैसे व्रीहिपुरोडाश इत्यादि समान शब्दों में दध्यादिवत् भेद[2] ही है।

---

१ इन योगेश्वर को कर्म रूप यज्ञों के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है अतः यह उत्तर दे सकते हैं।

१—प्रकाश—प्रकाशकार इसको स्पष्ट करते हैं कि 'इन्द्रस्य वृत्रं जघ्निष इन्द्रियं वीर्यम्' (ते.सं. २-५-३-५) अर्थ—वृत्र के बध की इच्छा वाले इन्द्र का जो इन्द्रिय वीर्य वह दधि है, यों इस अनुवाद में सिद्ध है, उसी ते. सं. में 'अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतं' ऋषिगण ने उस पुरोडाश को कूर्मरूपवत् देखा, ये कूर्मरूप लोकप्रसिद्ध नहीं है, किन्तु वेद सिद्ध है एवं यज्ञादि पदार्थ लोक से भिन्न हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में शास्त्रों में जिन कर्मों के करने की आज्ञा है वे 'कर्म' कहे जाते हैं, जिन कर्मों के करने की आज्ञा है परन्तु वे न किए जाँए तो वे अकर्म, एवं जिन कर्मों के करने का निषेध नहीं है वे कर्म भी अकर्म हैं।

'विकर्म' वह है जिस कर्म के करने का वेद ने निषेध किया है, इन तीनों पदों का अर्थ लौकिक न होने से लौकिक की तरह समझ में नहीं आता है। इनका अर्थ केवल वेद से ही समझा जाता है, वेद का अर्थ परम्परा[1] से निर्णय करने में आता है, तो भी, उस अर्थ में सन्देह रह ही जाता है, कारण कि 'तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदितः' पिता और पुत्र की प्रकृति भिन्न भिन्न होने से पुत्र ने अर्थ अन्य प्रकार से किया, अतः वेदार्थ बहु प्रकार से हुआ है। आचार्य श्री "निबन्ध" के सर्व निर्णय प्रकरण में आज्ञा करते हैं कि अर्थ भिन्न हो जाने से 'वेद' का प्रमाण संदिग्ध नहीं माना जाता है वेद संदिग्ध विषय वाला है अतः प्रमाण नहीं, यों भी नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य, वेद निर्दोष एवं असंदिग्ध ही है। वेद को ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता है। वेद का रहस्य अतिगूढ़ एवं अगाध होने से, उसके अर्थ करने वाले पृथक् पृथक् अर्थ करें जिससे संदिग्धता भासे (दिखाई दे), इसमें किसी प्रकार आश्चर्य नहीं है। इससे वेद सदोष वा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। वेद साक्षात् ईश्वर रूप होने से अपना ही स्वरूप वर्णन करता है। भागवत में शब्द ब्रह्म (वेद) की गति भगवान् ने ही कही है वेद का वास्तविक अभिप्राय क्या है ? उसको न जानकर अपनी भ्रान्ति से जो कर्म उनकी प्रतीति में आता है उस ही अर्थ में वेद तात्पर्य का वाद करने वाले अपने-अपने मत के अनुसन्धान से मुग्ध हो जाते हैं, इसी मुग्धता के कारण वे वादी वेद का आशय केवल कर्म के करने में ही है, उनका फल स्वर्गादि लोक ही है, यों कल्पना द्वारा सिद्ध करते हैं अतः वेद के तात्पर्य निर्णय करने में कल्पना करना उचित नहीं है ॥४३॥

आभास—तत्र स्वमतेनाभिप्रायं वर्णयति परोक्षेति,

आभासार्थ—आविर्होत्र, अपने मतानुकूल अभिप्राय का वर्णन 'परोक्षवादो' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**परोक्षवादो वेदोयं बालानामनुशासनम् ।**
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥

श्लोकार्थ—यह वेद परोक्षवादी है, वेद बालों (अज्ञानी जीवों) का मोक्षार्थ अनुशासन करता है, जैसे रोग नाश के लिये औषधि दी जाती है, वैसे ही कर्म-बन्धन से छूट कर मोक्ष प्राप्ति के लिये ही वेद कर्म करने की आज्ञा देता है ॥४४॥

---

१ पितापुत्र की परम्परा से अर्थात् पिता से पुत्र ने वैदिक शब्दों का अर्थ जैसा सुना वैसा प्रकट किया ।

सुबोधिनी—**अयं** कर्मप्रतिपादको **वेदः** फलांशे **परोक्षवादः** कर्माभावसम्भ्याद् वदति फलभोगदशायां कर्माभावात्, अन्यथा फलांशे लौकिकं स्यात्, वस्तुतस्त्वलौकिका एव पश्वादयोपीत्यवोचाम, **बालानुशासन**परत्वे तु तुल्यता लौकिकस्येष्टत्वात्, मोक्षश्च फलानां मुख्यः, "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" 'तमध्यापयीते' ति **बालानुशासनत्वं**, फलविचारे क्रियमाणे नालौकिकत्वेन समाधानं किन्तु सुखदुःखाभावाभ्यां, तथा च ब्रह्मात्मसुखस्य फलत्वे "सर्वेह्योपरतिस्तनु" रितिन्यायेन स्वाभाविककर्मणां निवृत्तिरपेक्षिता, अन्यथा वेदस्य वैयर्थ्यापत्तेः, **यथा** रोगाधिकारे प्रवृत्त आयुर्वेदस्तथा संसाराधिकारे वेदः, अतो वैदिककर्मणा स्वाभाविक**कर्माणि** निवर्तन्त इति सिद्धम् ॥४४॥

व्याख्या—यह वेद जो कर्म का प्रतिपादक है वह फलांश में परोक्षवाद (ही) है, क्योंकि जब जीव मोक्षफल भोगता है, तब उस समय कर्म का अभाव ही होता है अर्थात्—उस दशा में कर्म रहता ही नहीं है। यदि उस दशा में भी कर्म रहे तो फलांश में भी लौकिक हो जावे। वास्तव में यज्ञ की समस्त सामग्री पशु आदि भी अलौकिक ही हैं।

बालक को जैसे लौकिक पदार्थ प्रिय हैं, वैसे ही अज्ञानी जीवों को लौकिक प्रिय है। अतः उनको वहाँ से हटाने के लिये पहले लौकिक सुखों का लोभ देकर अन्त में मोक्ष प्राप्ति कराने के लिये ही कर्म का विधान है, न कि, लौकिक स्वर्गादि, लोगों के लिये कर्म का विधान है। फलों में मुख्य फल 'मोक्ष' है। वेद सबसे बलवन्तर प्रमाण इसलिये है कि जिसको कोई भी प्रमाण नहीं समझा (बता) सके उस अर्थ को वेद ही बता सकते हैं।

वेद के अनुष्ठान करने में बालक के समान अज्ञानी जीवों की अभिरुचि होवे, और श्रद्धापूर्वक वे कर्म करें, इस प्रकार वेद के लौकिक अनुशासन होने में सर्ववादी सम्मत है।

आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि वेद बालानुशासन परत्व है, इसमें हम भी सम्मत हैं। जब आप इस में सम्मत हो तो स्वर्गादि, पशु, पुत्रादि लौकिक फलों को क्यों नहीं मानते हो ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि सर्वफलों में मुख्य फल मोक्ष ही है, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' 'तमध्यापयीत' इत्यादि वचनों से वेद बालकों पर अनुशासन करते हैं, अर्थात् उनको सहज कर्मों से हटाकर वैदिक कर्म में रुचि कराके अन्त में सुख प्राप्ति और दुःखाभाव से फल विचार का समाधान कर ब्रह्मात्मसुख (मोक्ष) ही फल है, लौकिक सर्व पदार्थों से उपरति (निवृत्ति) होने से स्वाभाविक कर्मों की निवृत्ति ही अपेक्षित है, अन्यथा वेद की व्यर्थता की आपत्ति होगी, अर्थात् वेद व्यर्थ हैं—जैसे रोगाधिकार में (रोग कैसे निवृत्त हो) इस विषय में आयुर्वेद शास्त्र प्रवृत्त हुआ है, वैसे ही 'संसाराधिकार में' (संसार से छुड़ाने के विषय में) वेद प्रवृत्त हुआ है, अतः वैदिक कर्म करने से स्वाभाविक लौकिक कर्मों की निवृत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ है ॥४४॥

आभास—अकरणे बाधकमाह नेति

आभासार्थ—कर्म के त्याग से विपरीत फल मिलता है अर्थात् कर्म न करना यह मुक्ति में बाधक है, इस विषय को 'नाचरेद्' इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥**

श्लोकार्थ—पूर्ण ज्ञानी दशा के अभाव में, इन्द्रियों पर जय न पाने की अवस्था में होते हुए भी जो, अज्ञ, और अजितेन्द्रिय मनुष्य अपने को ज्ञानी तथा योगी समझ वेदोक्त कर्म का त्याग करता है, वह मृत्यु से मृत्यु पाता है, अर्थात् वेदोक्त कर्म के त्याग से वेदाज्ञा न मानने का दोषी बनता है जिससे नरक यातना रूप मृत्यु को प्राप्त कर तदनन्तर फिर मृत्यु को प्राप्त करता है ॥४५॥

सुबोधिनी— 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन" "चित्तवृत्तिनिरोधो योग"श्च, उभयाभावे वेदोक्तकर्माभावे च मृत्वा "पुन" र्मृत्यु "मापद्यन्ते" "अर्द्यमानाः स्वकर्मभि"रितिन्यायेनानिष्टफलं स्यात्, स्वाभाविककर्मणा कथं पारलौकिकानिष्टफलत्वं ? तत्राह **विकर्मणा ह्यधर्मेणेति**, आज्ञोल्लङ्घनमधिकोयं पोषः, अधिकारिणः सर्वथा अधर्महेतुः, स्वाभाविककर्मणां तु मृत्युप्राप्त्यनन्तरं जन्म, अत्र तु यातना भुक्त्वा पुनर्मरणमितिविशेषः ॥४५॥

व्याख्या—वेद में कहे हुए कर्म न करने से जो बाधा होती है सो कहते हैं—जो मनुष्य वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करता है वह विकर्मी होने से मृत्यु की भी मृत्यु को पाता है। यदि वेद, कर्म से मुक्त कराने के लिये कर्म करने की आज्ञा देता है, तो जैसे "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" सर्व प्रकार के भूतों (प्राणियों) की हिंसा न करनी, यह आज्ञा दी है, वैसे कर्म न करने की आज्ञा क्यों नहीं दी है ?

इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि, जैसे आयुर्वेद शास्त्र, रोगी को रोगनिवारण के लिये औषधि के साथ खानपानादि में पथ्य (परहेज) भी बताता है, केवल पथ्य से रोग निवृत्ति नहीं होती हैं; औषधि लेना भी आवश्यक है, वैसे ही संसार रूप रोग से मुक्त होने के लिये वैदिक कर्म कर्त्तव्य रूप औषधि लेना आवश्यक है; साथ में फलत्यागरूप पथ्य करने की वेदाज्ञा है इस प्रकार की आज्ञा यदि नहीं मानी जाती है तो वह मृत्यु से भी मृत्यु को प्राप्त होता है। ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरूतेऽर्जुन'[1] 'चित्तवृत्ति निरोधो योगः'[2]।

इन प्रमाणों के अनुसार मनुष्य को प्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये तथा योग द्वारा इन्द्रियों को वश में करना चाहिये, इन दोनों को जब तक सिद्ध नहीं किया है और वेदोक्त कर्म को त्याग कर देता है, वह मनुष्य मृत्यु को प्राप्त कर फिर मृत्यु को पाता है।

---

१ हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मों को भस्म करती है। — गीता

२—चित्त की वृत्तियों को अपने वश में कर लेना योग है। —योग शास्त्र

तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य केवल लौकिक कर्म आसक्ति से करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् फिर जन्म लेने से मृत्यु को प्राप्त करता है, किन्तु जो मनुष्य वेदोक्त कर्म का त्याग करता है, एवं विकर्मी बनता है, वह यम यातनारूप मृत्यु को प्राप्त कर फिर मृत्यु को पाता है ।।४५।।

श्लोक—**वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।**
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।४६।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य निःसङ्ग होकर अर्थात् फल की इच्छाओं का त्याग कर केवल वेद में कहा हुआ कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, वह नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है और वह समझता है कि वेद में कर्म करने से विविध फलों की प्राप्ति लिखी है वह केवल कर्म में रुचि प्राप्त्यर्थ लिखी है ।।४६।।

सुबोधिनी—ननु वेदोक्तकर्मकरणेऽपि न निस्तारः स्वाभाविकानामपि विद्यमानत्वादौषधपथ्यवत् सङ्गदोषाश्चान्ये तथा करणे दोषाः फलवाक्यानि च बाधकानि श्रुतिलिङ्गयोर्हि श्रुतिर्बलीयसी, समुच्चयो वा फलयोः, तथा च बहुबाधकानां विद्यमानत्वाद् व्यर्थः प्रयास इति चेत् तत्राह **वेदोक्तेति**, वैदिको भूत्वा कर्मकरणे वैदिकमेव कुर्याद् यजनयाजनादिभिः, अकरणकालेषु **निःसङ्गः**, उपक्रमविरोधान् न मानसः, **अर्पितमेव** करोतीति न साधनवैगुण्यं, वेदाभिप्रेतार्थकरणात् **सिद्धिं** प्राप्नोति, तथाप्यभिप्रेतानां फलानां कथमभावः ? तत्राह **रोचनार्थं** रुच्युत्पादनार्थं बहूनि **फलानि** वेदे बोधितानि न तु तत्र तात्पर्यं, कर्तुः फलाभिसन्धानाभावे न भविष्यतीतिभावः ।।४६।।

व्याख्या—वेद में कहे हुए कर्म करने से निस्तार (संसार से छुटकारा) न होगा, कारण कि जैसे औषध लेने के समय पथ्यादि का झंझट है वैसे वेदोक्त कर्म करने के समय सहज कर्म करने का झंझट बाधक होता है, एवं अन्य भी सङ्गादि दोष प्राप्त होते हैं जैसे कि अन्धत्व (अन्धापन) और पङ्गुत्व (लंगड़ापन) आदि इन्द्रिय दोष, (असमर्थ इन्द्रियों) का दोष अर्थ ज्ञान तथा फल, वाक्य भी लक्ष्य से गिराने में सहायक होते हैं, तथा श्रुति और लिङ्ग में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होवें तो न्यायानुसार प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, अर्थात्—मनुष्य जो कर्म करता है वह इसलिये करता है कि कर्म से मुक्ति हो, यदि यों है तो तदर्थ 'कर्ममोक्षार्थं कर्म कुर्यात्'-ऐसी श्रुति वा लिङ्ग मानना पड़ेगा, जिसके लिये इस प्रकार की 'कर्ममोक्षार्थं कर्म' श्रुति की कल्पना रचना करनी पड़ेगी, तो वह कल्पना-दोष साधारण नहीं है, जिसको सहन किया जाए । जबकि लिङ्ग से प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, यदि श्रुति का आनर्थक्यता दृष्टिगोचर हो तो समझना चाहिये कि प्रमाणों में कोई बलवान् है कोई निर्बल है, यों मानने से प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, यह दोष भी मिटता जायगा । यदि कहो कि दोनों फलों का समुच्चय करने से आनर्थक्य दोष न रहेगा, तो हमारा (पूर्ववर्ती) का कहना है कि कर्म मोक्षार्थ कर्म करने चाहिये, यह सिद्धान्त ही व्यर्थ है क्योंकि इस सिद्धान्त में बहुत बाधाएँ आती हैं । इस पर मूल श्लोक में स्पष्टता की गई है कि निःसङ्ग हो । (फलेच्छात्यागकर) ईश्वरार्पण बुद्धि से वेदोक्त कर्म करने से स्वतः नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वैदिक होकर ही

कर्म करने में यजनयाजनादि वैदिक कर्म ही करने पड़ते हैं, जिनके करने में त्याग ही है, जिस समय यज्ञादि वैदिक कर्म से समय मिले तो उस समय असङ्ग होकर रहे, मानस भी न करे, क्योंकि उनके करने में उपक्रम का विरोध होगा, अतः उस समय निःसङ्ग हो सहज कर्म भी करें तो संसर्ग दोष न होगा, कारण कि, जो कुछ करता है वह ईश्वरार्पण बुद्धि से ही करता है, जिससे साधनों में वैगुण्य नहीं होता है बल्कि वेद के अभिप्रेत (इष्ट), अर्थ (कर्म) को करते से सिद्धि को प्राप्त करता है, तो भी अभिप्रेत फलों का अभाव कैसे होगा ? वे तो मिलेंगे ही, इसके उत्तर में कहते हैं कि वह कर्म कर्त्ता, स्थिर बुद्धि से समझता है कि यह जो कर्म करने से फल प्राप्ति कहीं है, वह केवल इसलिये है कि कर्म करने में हमारी रुचि हो, इसके सिवाय अन्य कोई तात्पर्य नहीं है। कर्त्ता, कर्म के फलों का अभिसन्धान ही न करेगा तो फलों की प्राप्ति स्वतः नहीं होगी, इस प्रकार वेदाज्ञानुसार स्वकर्त्तव्य वेदोक्त कर्म फलाभिसन्धि रहित हो, ईश्वरार्पण बुद्धि से जो मनुष्य करता है, वह कर्म बन्धन में नहीं पड़ता है, किन्तु नैष्कर्म्य सिद्धि को सुख पूर्वक प्राप्त करता है ।।४६।।

श्लोक—**य आशु हृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।**
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।।४७।।

श्लोकार्थ—जिसको शीघ्र हृदय ग्रन्थि को तोड़कर मुक्ति प्राप्ति की इच्छा है उसको विधि पूर्वक परमात्मा केशवदेव की वैष्णवतन्त्रानुसार सेवा करनी चाहिये ।।४७।।

सुबोधिनी—एवं वैदिककर्मयोगनिर्धारमुक्त्वा सुगमसर्वजनीनतान्त्रिककर्मनिर्धारमाह **य** इति, लौकिकस्यानर्थस्य लौकिकैरेव निवृत्तिर्युक्तेति साङ्ख्यादयः सिद्धांताः प्रवृत्ताः, तत्रापि शीघ्रहृदयग्रन्थिविभेदको **वैष्णवः, परात्मनो विधिना** न विभूत्यादिभजनप्रकारेण, **केवलपुष्टिमार्गेण**ेत्यर्थः, **तत्राशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्**, अथ वा समुच्चयो मर्यादया, उभयथापि **पुष्टिमार्गस्थितत्वात् केशवमेव भजेत्** ।।४७।।

व्याख्या—इस प्रकार वैदिक कर्म योग का निर्धार कह कर अब सरल सर्वजनीन वैष्णव कर्त्तव्य का निर्धार कहते हैं -

लौकिक अनर्थ को नाश करने के लिये उपाय भी लौकिक सम होने चाहिये, क्योंकि उन(लौकिक उपायों) से ही इन(लौकिक) अनर्थों की निवृत्ति होना उचित है। वे लौकिक उपाय ४ हैं-(१) साङ्ख्यप्रोक्त (२) योगप्रोक्त, (३) पाशुपत (शैवत्व) प्रोक्त और (४) वैष्णव प्रोक्त। इन चार सिद्धान्तों में भी शीघ्र हृदय ग्रन्थि को खोलनेवाला वैष्णव[1] है। परमात्मा की सेवा विधिपूर्वक करनी चाहिये, न कि जैसे विभूतिरूप देवों का भजन पूजन किया जाता है, अर्थात् केवल पुष्टिमार्गीय प्रणाली के अनुसार ही सेवा करने से शीघ्र ग्रन्थि का विभेदन होता है, यदि यों करने में अशक्त है तो तन्त्रोक्त प्रकार से भी कृष्ण का ही भजन करे, अथवा मर्यादापूर्वक मिलीजुली रीति से करे—

१—वैष्णव मार्ग है।

दोनों प्रकार से अर्थात् शक्ति एवं इच्छानुसार करे—किन्तु पुष्टिमार्ग (अनुग्रहमार्ग) में स्थित होकर श्री कृष्ण को ही सेवा करे ।।४७।।

श्लोक—लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन् मूर्त्याभिमतयात्मनः ।।४८।।

श्लोकार्थ—वह मनुष्य प्रथम आचार्य श्री का अनुग्रह प्राप्त करता है, अर्थात् आचार्य श्री से भक्तिमार्ग की दीक्षा लेकर भक्तिमार्ग का अधिकारी हो जाता है, उन्होंने (आचार्य चरणों ने) जो भक्ति मार्ग के सेवादि प्रकार का आगम बताया है, अर्थात् सेवादि करने की विधि बताई है, तदनुकूल वह अपने अभिमत स्वरूप (मूर्ति) द्वारा भगवान् श्री कृष्ण की सेवा करे ।।४८।।

सुबोधिनी— मार्गान्तरविरोधाभावं वदन् भजनप्रकारमाह लब्धेति, **दीक्षायामन्याधिकारो निवर्तते, अनुग्रहस्य प्राप्तत्वान् न देवताविरोधः,** उपनयनादिकर्ताचार्यस्तदनुग्रहान् **न वेदविरोधः,** अन्येनावरुद्धे नान्यस्य विकर्मत्वं, स्वयं करणे हि सर्वत्र दोषः, **आचार्या** भगवन्मार्गस्था वा, उद्देश्ये फले न कर्मणामुपयोगः कर्तृसंस्कारस्त्वन्यथापि भविष्यति, **आशिवनिवचनान् न परलोकबाधकत्वं,** अहङ्कारग्रन्थिनिवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमतसाधारणं फलं, **आचार्यै**णाप्यागम एव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते, **महापुरुषः** श्रीकृष्णः, **अभिमतया मूर्त्या** प्रकारसहस्रमध्ये **नवनीतचौर्या**दिरूपेषु स्वभावो नियामकः ।।४८।।

व्याख्या—जिस भगवद्भजन करने से वेद का विरोध नहीं होता है, भजन का वह प्रकार कहते हैं— वह भजनकर्ता आचार्य श्री से भक्तिमार्ग की दीक्षा लेता है, जिससे अन्यमार्ग (वैदिक कर्म करने) का अधिकार उसका स्वतः निवृत्त हो जाता है, अतः वैदिक मार्ग बाधक नहीं होता है; क्योंकि उसने आचार्य श्री का अनुग्रह प्राप्त कर भक्तिमार्ग की दीक्षा ले ली है जिससे भगवान् भी जब उसके अनुकूल हो जाते हैं, तब देवता भी विरोध नहीं कर सकते हैं। उपनयन करने वाले आचार्य के अनुग्रह[1] से वेद विरोध भी नहीं है और दीक्षित हो जाने से भगवत्सेवादि को वेद विरुद्ध विकर्मत्व भी नहीं होता है। यदि आचार्य श्री द्वारा भक्तिमार्ग की दीक्षा न लेकर स्वतः मनमानी वृत्ति से सेवादि की जावे तो सर्वत्र दोष है, भगवत्मार्गस्थ परमभगवदीय तथा श्रीमदाचार्य चरणों का अनुग्रह प्राप्त कर भक्तिमार्गानुसरण करते हुए भगवत्सेवादि करने वाले को समय पर वैदिक कर्म न करने से किसी प्रकार वेद विरोधादि दोष भी नहीं लगते हैं, कारण कि भगवद् भजन करने वाला अर्थादि किसी की कामना वाला नहीं होता है, वह निष्काम एवं निरपेक्ष होता है जिससे उसके लिये दोष की संभावना मात्र भी नहीं है, दोष उनको लगता है जो सकाम है, और दीक्षित नहीं है कर्त्ता का संस्कार केवल कर्ममार्ग द्वारा नहीं होता है, किन्तु अन्यथा भी होते हैं। कर्म न करने से परलोक बाधक होगा, यह शङ्का भी 'आशु' पद कहकर

१—उपनयनादि वैदिक संस्कार कर लिये हैं, अतः उन आचार्य का भी अनुग्रह ही है।

निवारण करदी है, अर्थात् दीक्षित हो, श्री कृष्ण की सेवा करने से हृदयग्रन्थि शीघ्र खुल जाती है जिससे वह बिना किसी रुकावट के शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, यह सर्वमत साधारण फल है, आचार्य चरण भी आगम ही बताते हैं, अर्थात् पञ्चरात्रादि सात्विक शास्त्र का उपदेश देते हैं। 'महापुरुष' शब्द से यहां 'श्रीकृष्ण' कहे हैं, 'अभिमतया मूर्त्या' पद से यह सूचित किया है कि मूर्तियों के अनेक प्रकारों में से भक्तजन का माखन चोर आदि स्वरूप में ही प्रेम होता है इस विषय में स्वभाव ही नियामक है ॥४८॥

श्लोक—**शुचिः सम्मुख आसीनः प्राणसंयमनादिभिः ।**
पिण्डं विशोध्य सन्यासः कृतरक्षोर्चयेद् धरिम् ॥४९॥

श्लोकार्थ—प्रथम शौचादि के अनन्तर स्नानादि से पवित्र होकर, एवं प्राणायामादि से शरीर को शुद्ध कर न्यासपूर्वक रक्षा कर तथा देवता का आह्वाह्न कर भगवान् के सम्मुख बैठ हरि का पूजन करे ॥४९॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तदोषाभावाय कर्तृ शुद्धिमाह **शुचिरिति, शौचं स्मार्तं, सम्मुख आसीनः** प्रतिमायाः, **आदिशब्देन** भूतशुद्धिप्रकारा उक्ताः, **न्यासेन** देवतावाहनं, **रक्षायां** बाधकनिवृत्तिः, **हरिं न प्रतिमाम्** ॥४९॥

व्याख्या—पूर्वोक्त कर्ता के संस्कार के दोषों का नाश हो तदर्थ इस श्लोक में शौचादि द्वारा कर्त्ता की शुद्धि का प्रकार बताते हैं।

प्रथम पवित्र होने का प्रकार स्मृति शास्त्रों में कहा है, अतः वह स्मार्तधर्म कहा जाता है, जैसे कि प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना भगवत्स्मरणादि के अनन्तर शौचादि से निवृत्त हो दन्तधावन कर स्नानादि से शरीर की बाह्य (बाहर की) शुद्धि करनी, तथा तिलक धारण करना, चरणामृत लेना, तुलसी माला पहनना आदि भगवत्सम्बन्धी कृत्य कर पश्चात् भगवान् की मूर्ति के सामने बैठना आदि शब्द से भूत शुद्धि के प्रकार कहे हैं, वह शुद्धि भगवत्सम्बन्ध द्वारा हो जाती है न्यासविधि द्वारा देवता का आह्वाहन करना, मन्त्र द्वारा दिग्बन्ध करने से बाधकों को निवृत्ति होती है इत्यादि करने के बाद हरि की सेवा करें, न कि प्रतिमा (मूर्ति) की, यों कहने का भावार्थ यह है कि मूर्त्ति को पाषाणादि की प्रतिमा न समझ, मेरे उद्धारार्थ हरि ही यहां प्रादुर्भूत हुए हैं, अतः यह भगवत्स्वरूप है, ऐसी दृढ़ निश्चयात्मक बुद्धि से हरि की सेवा करे ॥४९॥

श्लोक—**अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।**
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ—इस श्लोक में द्रव्यादि की शुद्धि का प्रकार इसलिये बताते हैं कि भगवत्पूजा के समय मध्य में विक्षेप न हो अथ च अश्रद्धा न हो, अतः प्रथम पदार्थों की शुद्धि करनी चाहिये।

भगवद्भक्त को चाहिये कि बाहर विराजमान प्रतिमा की (भगवत्स्वरूप) तथा हृदयस्थ भगवान् की पूजार्थ समय पर जो भी सामग्री प्राप्त हो उनको शुद्ध करे, एवं आसन का भी प्रोक्षण करे, पुनः उनसे भगवदर्चनादि करे ॥५०॥

सुबोधिनी—अत एवाधिकरणस्याव्यवस्थां वदन् मध्ये व्युत्थानाभावायाहार्चेति, स्पष्टम् ॥५०॥

व्याख्या—प्रतिमादि की अव्यवस्था होने से सेवा में मध्य में विक्षेप न हो, श्रद्धा का अभाव न हो, तदर्थ, प्रतिमा सामग्री आदि की प्रथम इस श्लोक द्वारा शुद्धि कही है, विशेष स्पष्ट है ॥५०॥

श्लोक—**पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।**
हृदयादिकृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ—एकाग्रचित्त हो हृदय में भगवान् का ध्यान करता हुआ न्यास पूर्वक उस पाद्य आदि (पैर धोने के लिए जलादि) सामग्री से भगवान् का अर्चन (पूजन) करे ॥५१॥

सुबोधिनी— अन्तरङ्गप्रकारमाह **पाद्येति** आदिशब्देनार्घ्याचमनीयादि, **अथ** भिन्नप्रक्रमेण विधानेन प्रवृत्तः, **सन्निधापनादि** मुद्रया देवता-सन्निधानं कृत्वा, ततः सावधानः ततो **हृदयादिकृतन्यासः** स्वस्मिन् ध्यानेन **मूलमन्त्रेण चार्चयेत्** ॥५१॥

व्याख्या—अनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सामग्री शुद्ध पात्रों में धर, वे पात्र प्रतिमा (भगवत्स्वरूप) के समीप स्थापित करना, फिर सावधान हो के 'हृदयाय नमः' 'शिर से स्वाहा' आदि मन्त्रों द्वारा हृदयादि का न्यासकर, ध्यानपूर्वक भगवान् को हृदय में वा मूर्त्ति में पधरा कर (प्रकटकर) अष्टाक्षर आदि मूलमन्त्र से हरि का पूजन करना ॥५१॥

श्लोक—**साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्त्तिं स्वमन्त्रतः ॥५२॥**
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ।

गंधमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद् धरिम् ॥५३½॥

श्लोकार्थ—जिस मूर्त्ति में सम्पूर्ण अङ्ग विराजमान हों, तथा उपाङ्ग (सुदर्शनादि) एवं पार्षद भी हों ऐसी भगवान् की मूर्त्ति (स्वरूप) का अपने-अपने मन्त्रों से पूजन करें ॥५२॥

ऐसे स्वरूप को जो आनन्दमात्र श्री अङ्ग से विराज रहे हैं, उनको पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय स्नान वस्त्र एवं आभूषण, चन्दन, पुष्प, अक्षत और माला आदि से सर्व क्रिया पूर्णतः कर पश्चात् तिलक करे, अनन्तर धूप दीप तथा सामग्री समर्पण करे, यों करने के बाद स्तोत्रों से स्तुति कर प्रणाम करना चाहिये ॥५३½॥

सुबोधिनी—**साङ्गे**ति, **अङ्गानि** चरणादिनि, **उपाङ्गानि** चक्रादीनि, **पार्षदाः** सुनन्दादयः, एवं **साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां** 'हृदये' पूजयेदिति पूर्वेण सम्बन्धः, **तामित्याद्यु**त्तरपादद्वयमर्धमाह **साङ्गे**ति, **तां** पूर्वोक्तप्रकारेण हृदयपूजितां मूर्तिरूपां बाह्यां कृत्वा **नमेदिति**सम्बन्धः, कथमेवमत आह **स्वमन्त्रतः**, आन्तरस्य बाह्यत्वं **मन्त्रवशाद्** भवति **मन्त्रतस्तां मूर्त्तिमि**त्युद्देश्यविधेयभावः ॥५२॥ पूजाक्रममाह **पाद्येतिसार्धेन, आदिशब्देन** मधुपर्काभ्यङ्गाद्यैः, **अक्षता** माला कुङ्कुमाक्षता वा, **नमनं** क्रियासमाप्तिसूचकं, स्तोत्रनमने न पूजायां प्रविशत इति क्त्वाप्रयोगः, अयं भिन्नमिति वा ॥५३½॥

व्याख्या—अङ्ग, उपाङ्ग और पार्षद सहित भगवान् के स्वरूप का प्रथम हृदय में भावद्रव्यों से पूजन करना अनन्तर हृदय पूजित स्वरूप को बाहर मन्त्र द्वारा मूर्ति में प्रकट हुआ समझ नमन करना चाहिये ॥५२॥

इस श्लोक से बाह्य (बाहर का) पूजा का क्रम कहते हैं पाद्यादि से मधुपर्क अभ्यङ्ग आदि समझने, अर्थात् इन पदार्थों से जो क्रिया होती है वह सर्व पूजा की क्रिया करनी चाहिये, चावल, और माला अर्पण करनी, चाहिये अथवा रंगे हुवे चावल अर्पण करने पश्चात् प्रणाम करना, यह प्रणाम पूजा की समाप्ति का सूचक है। स्तोत्र द स्तुतिकरना और नमन पूजा से संबन्ध नहीं रखते हैं, इसलिये 'त्वा' प्रत्यय दिया है, अथवा स्तुति, पूजा और नमन तीनों पृथक् हैं ॥५३½॥

श्लोक—**आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्त्तिं सम्पूजयेद् धरेः ।**
शेषामादाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४½॥

श्लोकार्थ—अपनी आत्मा को भगवन्मय समझे अथवा उनसे (भगवान् से) व्याप्त जाने, ऐसी भावनाकर हरि के मूर्ति (स्वरूप) का ध्यान करते हुए हरि का सम्यक् प्रकार से प्रेमपूर्वक पूजन करे, भगवत्प्रसादी माला को शिर पर धर के पूजित उस

भगवत्स्वरूप को पोढ़ा के फिर शयन मन्दिर में शय्या पर शयनार्थ स्वशक्तियों में लीला करे इस–भावना से विराजमान करे ॥५४३॥

सुबोधिनी—अनेवंविधेन तस्य पूजा न कर्तव्येति कर्तृ नियममाहात्मानमिति, स्वस्वरूपं भगवद्रूपं भावयन भगवता व्याप्तं वा, मूर्तौ भगवदागमोस्ति न तु स्वस्मिन्निति ज्ञापयितु **निर्माल्यं शिरस्याधाय हृदय उद्वास्य** तत्र पुनः सत्कृत**मात्मानं तन्मयं ध्यायन्निति** सम्बन्धः, आत्मनि सर्वदा मन्त्रसम्बन्धान् नियतत्वम् ॥५४३॥

व्याख्या—भिन्न प्रकार से भगवन्मूर्ति की पूजा नहीं करनी चाहिये, कर्त्ता (पूजा करने वाले) के नियम कहते हैं कि कर्त्ता को अपनी आत्मा भगवद्रूप है वा भगवान् से व्याप्त है यों भावना कर ध्यान करना चाहिये, मन्त्र के सम्बन्ध से ही मूर्ति में भगवान् पधारे हैं, न कि हमारे में भगवान् पधारे हैं जिसकी पुष्टि में कहते हैं कि सेवा करने वाले को भगवत्स्वरूप (मूर्त्ति) की प्रसादी माला को सिर पर धारण करनी चाहिये हृदय में संस्कृत हुए आत्मा को तन्मय जान ध्यान करना मन्त्र संबंध के कारण ही आत्मा से भगवत्रूप का सर्वदा नियत सम्बन्ध है ॥५४॥

श्लोक—एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजन्नीश्वरमात्मानमचिरान् मुच्यते हि सः ॥५५३॥

श्लोकार्थ—इसी तरह जो मनुष्य अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदय में स्थित आत्मस्वरूप की पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्ति पाता है ॥५५३॥

सुबोधिनी—एवं स्थलान्तरेपि पूजां वदन् फलमाहैवमिति, **आदि**शब्देन ब्राह्मणादिः, **हृदये** चेति द्विरूपता, भगवतो द्विरूपत्वं प्रतिपादयति सामर्थ्यमावश्यकत्वं च, यजन्नित्यन्तपयन्त सन्तति-रुक्ता, **हीति** प्रमाणानुसन्धानं सकृद् दृष्ट्वापि अन्ते स्वरूपस्थित्यर्थं **स** इति ॥५५३॥

व्याख्या—इसी तरह जो मनुष्य, अग्नि, सूर्य, जल तथा ब्राह्मण एवं अतिथि और हृदय में आत्म स्वरूप से नियामक होके सदा विराजमान भगवान् की पूजा तथा सेवा नित्य प्रेम से करता ही रहता है, वह मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति पाता है, 'हि' पद से निश्चयता कही है, एक बार भी जो इसी तरह सर्व समर्थ भगवान् को सर्व–व्यापी समझ और सबका नियामक जान उपरोक्त सर्व पदार्थों से भावनापूर्वक भजन करता है, वह स्वरूप में बिना विलम्ब के स्थित हो जाता है ॥५५३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव मुक्ति) प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्‌भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी–टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव) प्रकरण

"अध्याय—" ४

भगवान् के अवतारों का वर्णन

राजोवाच-श्लोक— **यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।**
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥१॥

श्लोकार्थ—सर्व प्रकार के दुःखों को हरण करने वाले हरि ने स्वच्छन्दता पूर्वक जो जो अवतार धारण कर भक्तों के कर्म व बन्धनों को प्रमेय बल से जोड़ने के लिये जो जो चरित्र किये, कर रहे हैं, और करेंगे वो कृपया हमको कहिये ॥१॥

सुबोधिनी—यानीति, कालभेदेन करणभेदेन स्वरूपवैजात्येन **यानि** भिन्नानि **तानि** कथयेत्यर्थः, तत्तत्काले कृतानि तत्तत्कालकृतदोषनिवर्तकानि भवन्ति, तत्तज्जन्मकृतानि तादृशजन्मवतां निवर्तकानि **कर्माणि** च सजातीयकर्मकृतदोषनिवर्तकानीति भेदप्रश्नादवगम्यते, **स्वच्छन्देति** कर्मनिर्बन्धनिराकरणं भक्तेच्छा वा ॥१॥

व्याख्या—काल भेद से (भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न चरित्र) करण भेद से (भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा भिन्न-भिन्न चरित्र) और स्वरूप की विजातीयता[1] से जो पृथक् पृथक् चरित्र किये वे सब हमको सुनाइये ।

पृथक् पृथक् काल में पृथक् चरित्र करने से, उस काल में जो काल कृत भक्तों में दोष थे वे निवारण किये । पृथक् प्रकार के साधन (विविध योनियों में लिये हुए अवतार) द्वारा वैसे प्रकार

१—भिन्न भिन्न प्रकार के रूप धारण कर ।

के जन्मवालों के कर्मों (दोषों) को मिटाया, सजातीय कर्मकृत दोषों को उन विजातीय रूपों के चरित्रों से मिटाया। स्वच्छन्द पद का तात्पर्य है कि भगवान् ने भक्तों के कर्म बन्धन अपने प्रमेय बल से जोड़े अथवा भक्तों की इच्छा से यों विविध अवतार ले विविध कर्म कर भक्तों के कर्म बन्धनों का निवारण किया ॥१॥

द्रुमिल उवाच—श्लोक—**यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।**
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित् कालेन नैवाखिलसत्त्वधाम्नः ॥२॥

श्लोकार्थ—द्रुमिल योगेश्वर उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, जो मनुष्य सर्व प्राणी मात्र के अन्तर्यामी अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों की गणना करना चाहता है, वह बाल बुद्धि है, कदाचित् किसी प्रकार समय लगाकर पृथ्वी के रजकणों को गिना भी जाय किन्तु प्रभु जो सर्वथा अनन्त हैं, उनके असीम गुणों की गणना हो नहीं सकती ॥२॥

कारिका—**मायातत्करणज्ञानकर्मनिर्णयबोधनैः।**
शुद्धचित्तः शुद्धलीलां हरेः पृच्छति मुक्तये ॥१॥

तृतीयेयं समाख्याता कक्षा हरिकथा सदा।
श्रोतव्येति यतश्चित्तं सर्वथा तत्परं भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—माया उसके करण (साधन) ज्ञान निर्णय और कर्म निर्णय इन सबके स्वरूप के समझ लेने से जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वह मुक्ति के लिये हरि की लीलाओं को पूछता है। १।

हरि की कथा सदैव सुननी चाहिये यह तीसरी श्रेणी है, जिससे श्रोता का चित्त सर्व प्रकार से भगवान् के परायण हो जाता है ॥२॥

सुबोधिनी—अलौकिकनामा उत्तरं वदन् सर्वकथनमशक्यमित्याह **य** इति, एते कालविलम्बान् न वदन्त्यन्ये वक्ष्यन्तीति भ्रमं वारयति, **अन्तो** नाशः परिच्छेदो वा, **अनन्तो** देशकालापरिच्छिन्नः, अपरिमितब्रह्माण्डेष्वपरिमितब्रह्मकल्पेषु चैकस्मिन् ग्राम एकस्मिन् दिवस एकमपि कर्म गणयेत् तदा जन्मनां कोटिः समाप्येत, किञ्च **गुणास्तु** ज्ञानकृतिभेदप्रकाशका यथा वेदादिविद्याः शिल्पादिविद्याश्च, तत्रैकयापि विद्यया यद्येकं कार्यं कुर्यात् तथाप्यानन्त्यं, तिष्ठतु कर्मणां वार्ता कारणभूतगुणानामपि **गणना**शक्या, **अनन्त**शब्दः सङ्ख्यापरिच्छेदमपि वारयति, **गुणानां** कर्मत्वेन गुणा एव गणनीया न तु स्वोपयुक्तत्वेन, अतो व्याघातानननुसन्धानाद् **बालबुद्धिः**, **बुद्धिग्राह्य**सङ्ख्यावत्त्वं बहूनामन्तता तदभावोऽ**नन्तत्वं**, अत एतावत्त्वाभावाज् **ज्ञानमेव** नास्ति वचनं दूरापास्तं, नन्वशक्त्या तथात्वं भविष्यतीत्यत आह **रजांसीति**, सूक्ष्मा दृश्या एव कणा **रजः**शब्देनोच्यन्ते ते परमाणुशतेन भवन्तीति प्रसिद्धिः, तत्कोटिर्गुञ्जायां ततः पञ्चाशत्कोटिरूपायां परं पुरुषभारा भवन्ति, एवं कथञ्चिद् **गणयेत्**, नन्ववताराः परिगणिता एव गुणाश्चेति कथमेवमत आह सर्व**सत्त्वान्तर्यामिणः**, "तृतीयं सर्वभूतस्थ" मिति "एकस्तृतीयः पुरुषावतारः," तत्र **गुणानाम्** ॥२॥

व्याख्या—अलौकिक नामवाले (द्रुमिल) योगेश्वर उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् के सर्वगुण कहने अशक्य हैं—

गुणों की गणना में समय बहुत लगेगा, इसलिये ये नहीं कहते हैं, किन्तु दूसरे कहेंगे, अर्थात् यदि ये न बताएंगे तो हम दूसरों से पूछ लेंगे। ऐसा भ्रम राजा के मन में न हो, तदर्थ इस श्लोक में उस भ्रम के निवारणार्थ स्पष्टीकरण कर देते हैं, कि प्रभु सीमा रहित है, अर्थात् देश वा काल से वह परिच्छिन्न नहीं हैं। गणनारहित ब्रह्माण्डों एवं गणनारहित ब्रह्मकल्पों में, एक ग्राम में, एक दिवस में, प्रभु के किये हुए एक कर्म की भी गणना की जावे तो कोटि जन्म पूर्ण हो जावे तो भी गणना नहीं हो सकती है। किञ्च गुण तो ज्ञान और कृति के भेद का प्रकाश करनेवाले हैं, जैसे, वेदादि विद्या, शिल्पादि विद्या, इनमें से एक भी विद्या से यदि एक कार्य किया जावे तो, भी उस कार्य की अनन्तता होती है, अर्थात् उसका अन्त ही नहीं आता है। कर्मों की वार्ता उन कर्मों के कारण भूत गुणों की गणना अशक्य है तो होने दो केवल इतना ही नहीं, किन्तु अनन्त शब्द सङ्ख्या के परिच्छेद[1] का भी निवारण करते हैं। गुणों के कर्मत्व से गुणों की ही गणना करनी चाहिये, न कि अपनी उपयुक्तता[2] के लिये अतः जिस वस्तु के गुण कर्मादि की असीमता के कारण अनुसन्धान[3] भी न हो सके, उसका वर्णन करने के लिये उद्यत[4] होना बाल बुद्धि (अज्ञता)[5] है।

जिसके गुण बहुत होते हुए भी बुद्धि की संख्या (गिनती) में आ जावे तो वे अन्तवाले हैं, जो गिनती में न आवे वह अनन्तता है। अतः इतना ही है इसके अभाव से, यों कहना कि ज्ञान नहीं है, वह वचन (कहना) दूर से ही खण्डित हो गया। यदि कहो कि श्रेणी एवं कर्मों के गिनने की वा कहने की शक्ति नहीं है, इसलिये यों कहते हो तो, इस शङ्का का दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं। सूक्ष्मकणों को ही 'रज' कहा जाता है, वे शत (सौ) परमाणु परिमित[6] होते हैं, यों प्रसिद्ध है। उनकी कोटिगुञ्जा में होती है, उससे पचास कोटि रूप गुञ्जा में पुरुष भार कहा जाता है। इस प्रकार जैसे तैसे मन सन्तोषार्थ समझ लें कि गिनती हो गई। आप यों क्यों कहते हो कि, जब भगवान् के अवतार गिने हुए है और उनके गुण (कर्म) भी गिने हुए हैं, तब इस पर कहते हैं कि 'अखिलसत्त्वान्तर्यामिणः' सकल प्राणियों के अन्तर्यामी हैं, 'तृतीयं सर्वभूतस्थं' 'एकस्तृतीयः पुरुषावतारः' इत्यादि प्रमाणों से प्रत्येक जीव को गुण कर्म की प्रेरणा करने से गुणों की अनन्तता है जिससे गणना होनी असम्भव है ॥२॥

श्लोक—भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने प्रथम अपने निर्मित्त पञ्चभूतों से विराट् रूप पुर (देह) का निर्माण कर लिया, अनन्तर जब उसमें अपने आनन्दांश से प्रवेश किया तब आदि देव नारायण 'पुरुष' नाम वाले हुए ॥३॥

१—सीमा २—सुविधा ३—खोज ४—तैयार ५—अज्ञानता ६—सीमावाले

सुबोधिनी—अवताराश्चानन्ता इत्यवोचाम तथापि त्रिकालानुगतानवतारान् वक्तुं प्रथमं सर्वावताराणां बीजं पुरुषावतारमाह **भूतैरिति**, यदा **स्वांशेन विष्टस्तदा पुरुषाभिधानमवापेतिसम्बन्धः**, **स्वांश** आनन्दांशः, श्रुतिकारणवादानुसारेण पञ्च महाभूतानि भगवतैव सृज्यन्ते "एतस्माज् जायते प्राण" इत्यादिना साक्षात्सर्वं लक्षन्यायेन न साङ्ख्याद्युनुसारेण **स्वांशेन विष्टत्वे** हेतुरत एव विराजः पुरत्वेन निर्माणं, अस्मिन् कल्पे सर्वमात्मार्थमिति गम्यते, पुरं पुरुष आविश" दितिश्रुतेः पुरप्रवेशात् **पुरुषत्वं**, उषधातुः प्रवेशार्थ इति, पुराशब्दादासधातोः पूःशब्दाद् वा धातोर्वर्णव्यत्याससंप्रसारणषत्वैरिदं रूपमिति **वेदविदः**, असाधारणसृष्टिरेषा, **मर्यादाभक्तिमार्गे नारायणो** मूलभूतः स न जलवासेन **किन्त्वादिदेवः, आदिकारणभूतोपि देवमार्गप्रवर्तकः, अभिधानमवापेति**-वदन् कदाचिदेव **पुरुषस्यावतारत्वमिति** सूचयति ॥३॥

व्याख्या - अवतार अनन्त हैं यों कहा जाता है, तो भी त्रिकाल में हुए अवतारों को कहते हुए प्रथम सर्व अवतारों का बीज रूप पुरुषावतार 'भूतैः' श्लोक से कहते हैं—'यदा स्वांशेन विष्टस्तदा पुरुषाभिधानमवापेतिसंबंधः'[1] 'स्वांशः' पद का अर्थ है 'आनन्दांश' वेद में सृष्टि उत्पत्ति का कारण भगवान् ही कहा गया है, अतः पंच महाभूतों को भगवान् ही अपने में से उत्पन्न करते हैं, जैसे श्रुति भगवती कहती है कि 'एतस्माज् जायते प्राणः' यहां जो सिद्धान्त कहा गया है वह साङ्ख्यमतानुसार नहीं है किन्तु श्रुत्यनुसार है, जिसमें हेतु है 'स्वांशेन विष्ठः' अपने आनन्दांश से विराट् देह प्रविष्ट हुए इस कल्प में जो सृष्टि रची गयी है वह अपने लिए ही भगवान् ने रमणार्थ रची है, यों जाना जाता है, 'पुरं पुरुष आविशत्' श्रुति के अनुसार पुर में प्रवेश करने से 'पुरुषत्व' को प्राप्त हुए, पुरुष पद में 'उष्' धातु प्रवेश अर्थ में है, इत्यादि व्याकरण नियमानुसार वेद जानने वाले 'पुरुष' शब्द का भावार्थ बताते हैं। यह सृष्टि (इस कल्प में की हुई सृष्टि) साधारण सृष्टि नहीं है, मर्यादा भक्ति मार्ग में **नारायण** जो मूलभूत हैं वह जल में निवास करने से मूलभूत नहीं किन्तु वह स्वयं आदि देव हैं आदि कारण भूत होते हुए भी देवमार्ग के प्रवर्त्तक हैं, 'अभिधानं अवाप' नारायण संज्ञा धारण की यों कहने से यह भाव प्रकट होता है कि, कदाचित् 'पुरुष' ने अवतार भी लिया है॥३॥

श्लोक—**यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।**
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥४॥

श्लोकार्थ—भगवान् के जिस विराट् देह में तीनों भुवनों का सन्निवेश हुआ हैं, जिस विराट् की इन्द्रियों से जीवों के दोनों प्रकार की इन्द्रियों को (ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को) कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है, जिस भगवान् के ज्ञान द्वारा ही जीवों को स्वानुभव प्राप्त होता है जिस भगवान् के प्राणोंद्वारा जीवों को बल, ओज और चेष्टा प्राप्त होती है वे ही भगवान् सत्त्वादि गुणों से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं इतना ही नहीं किन्तु जगत् के आदिकर्त्ता भी वे ही भगवान् हैं ॥४॥

१—जब विराट् देह में अपने आनंदांश से प्रविष्ट हुए तब 'पुरुष' नामवाले कहलाये ।

सुबोधिनी—अस्य चरित्रमाह **यत्कायेति**, मुख्या पालनशक्तिरेषा शरीरेन्द्रियान्तःकरणप्राणैः सर्वपरिपालनं करोति, सर्वावतारबीजं च, **भुवनत्रयस्य सम्यङ्निवेशो** यस्मिन् काये, लोकत्रयमपि पुत्रमिवाङ्के स्थापयतीत्यर्थः, किञ्च **यस्येन्द्रियै**रस्मदिन्द्रियदेवताविषयैः, **तनुभृतां ज्ञानक्रियामया**नीन्द्रियाणि, आधिदैविकस्यैवोपाध्यनुप्रविष्टस्याध्यात्मिकत्वमिति गोलकविनियोगः, इन्द्रियाणां तु विषयत्वं, हस्तेन दुग्धमिव पाययतीत्यर्थः, अन्तःकरणे विशेषमाह, **ज्ञानं स्वतः**, इन्द्रियत्वे तु पूर्वोक्त एव विनियोगः, स्वानुभवहेतुत्वे स्वस्य **स्वत** एव नित्यसिद्धं **ज्ञानं**, **ज्ञानरूपस्यात्मनो** ग्रहणाशक्तावन्तःकरणप्रतिबिम्बितस्य ग्रहणं भवति, तदत्र नास्ति, स्वत सिद्धज्ञानेन **सर्वान्** भावयतीत्यर्थः, प्राणकार्यमाह **श्वसनतः** शरीरेन्द्रियशक्ती, साधारणं च कार्यमासन्यस्य चेष्टा, क्षुत्पिपासे च चेष्टया परिगृहीते, अवान्तरोत्पत्तिस्थितिप्रलयानाह **सत्त्वादिभिरिति**, तावन्मात्रत्वं निराकरोत्**यादिकर्ते**ति ।।४।।

व्याख्या—इस पुरुष रूप भगवान् के चरित्र कहते हैं कि, वह पुरुष ही मुख्य पालन शक्ति है, अतः शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणों से सबका पालन करते हैं और यह ही सर्व अवतारों का बीज है।

जिसकी काया में तीनों भुवनों का सन्निवेश हुआ है अर्थात् तीनों लोकों को भी अपने अंग में पुत्र की तरह स्थापित करते हैं, जिस भगवान् की इन्द्रियाँ हमारे (जीवों के) इन्द्रियों का देवता है, जिनसे ही जीवों की इन्द्रियों ने ज्ञान एवं क्रिया की शक्ति प्राप्त की है, उपाधि में प्रविष्ट आधिदैविक का ही आध्यात्मिकत्व है। इस प्रकार गोलक[1] का विनियोग है। इन्द्रियों का तो विषयत्व है, दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे माता बालक को अपने हाथ से दूध पिलाकर अन्य विषय में लगाती है, वैसे जीवों की इन्द्रियों को भी पुरुष (मुख्य पालक शक्ति) अपनी इन्द्रियों द्वारा विषयों में प्रवेश कराते हैं।

अन्तःकरण में विशेषता बताते हैं—हम जीवों को जो ज्ञान होता है वह स्वतः सहज होता है क्योंकि ज्ञान नित्य एवं स्वतः सिद्ध ही है, अतः पुरुष का स्वतः सिद्ध नित्य ज्ञान ही जीव को अपने अनुभव में हेतु हो जाता है, इन्द्रियपन में तो पूर्वोक्ति ही विनियोग है, जैसे अन्यत्र ज्ञानरूप आत्मा ग्रहण करने में असमर्थ होता है तो अन्तःकरण प्रतिबिम्बित ही ग्रहण कर लेता है, वह सिद्धान्त यहाँ नहीं है, यहाँ तो स्वतः सिद्ध ज्ञान से ही सर्व को ज्ञान हो जाता है।

प्राणकार्य कहते हैं 'श्वसनतः' प्राण द्वारा ही शरीर और इन्द्रियों को शक्ति प्राप्त होती है, साधारण कार्य आसन्य की चेष्टा है इस चेष्टा से क्षुधा (भूख) और प्यास ली गई है।

सत्त्वादिगुणों से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं। इस वर्णन से यों न समझना चाहिये कि 'पुरुष' इतना ही है किन्तु आदिकर्त्ता भी यही पुरुष है ।।४।।

आभास—ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां तथात्वमाशङ्क्य तदवतारत्वमाहादाविति,

---

१ – इन्द्रियों के रहने का स्थान।

आभासार्थ—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी ऐसे ही हैं या नहीं ? इस शंका को मिटाने के लिए 'आदावभूच्छतधृती' श्लोक में कहते हैं कि वे इस पुरुष के अवतार हैं।

श्लोक—**आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे**
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥५॥

श्लोकार्थ—प्रथम जगत् की उत्पत्ति के लिए, रजोगुण धारण करने से ब्रह्मा हुए फिर वह ही सतोगुण धारण करने से धर्म तथा ब्राह्मणों के रक्षक यज्ञपति विष्णु रूप बने, वह ही प्रलयार्थ तमोगुण धारण कर रूद्र बने, इसी तरह निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते रहते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—**अस्य** परिदृश्यमानस्येति **विसर्ग** उक्तः, विसर्गस्योत्पत्त्यर्थ**मादौ** पुरुषो ब्रह्मा जात इत्यर्थः, कमलोद्भवः शतपत्रं धृत इति **शतधैर्य**-वत्त्वेन रजोगुणस्तम्भनं वा, तथैव **विष्णुः** सत्त्वगुणेन पालनं लौकिकं वैदिकं चेति **विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिरि**ति लौकिके तु विष्णोरवतारेण स्थितिर्वैदिके तु निर्वाहिका ब्राह्मणाः, तेषां संसारावर्ते पतनं धर्मस्य च कालेन ग्रासः, अतो निर्वाहार्थं **सेतु**रिति सुखतरणहेतुः, तथा **रुद्रो**पि, **स** त्रिविधोपि **पुरुषः स आद्यो** न त्वन्य इत्यर्थः, नित्योत्पत्तिप्रलयपक्षेण सर्वदास्य कार्यमाहे**त्युद्भवे**ति, **प्रजास्वि**ति प्रकर्षेण **जायमानानां** तथैवेतरौ वर्षाजीववदिति ज्ञापितम् ॥५॥

व्याख्या—'अस्य' सामने देखने में आ रहे पदार्थों को 'विसर्ग' कहा है, इस 'विसर्ग' की उत्पत्ति आदि करने के लिए आदि में 'पुरुष' ने रजोगुण धारण करके ब्रह्मा रूप से अवतार लिया, यह अवतार कमल से प्रकट हुआ शतपत्र धारणकर्त्ता कमलपर था जिससे रजोगुण सूचित किया है।

वैसे ही सतोगुण धारण कर 'विष्णु' रूप से अवतार लिया, जिस स्वरूप के द्वारा लौकिक, वैदिक की रक्षा की, विष्णु यज्ञपति होने से लोक में पालन का कार्य करते हैं, वैदिक में निर्वाहक ब्राह्मण हैं उन ब्राह्मणों का काल अभाव से संसार के चक्कर में गिरना न हो जावे, और धर्म को काल का ग्रास बनना न पड़े अतः इनसे बचाने के लिए विष्णु अवतार सेतु (पुल) है, अर्थात् संसार में न गिरकर सुख से पार पहुँचा दे वैसे महादेव अवतार भी तमोगुण द्वारा प्रलय कार्य कर्त्ता हैं।

वह पुरुष तीन प्रकार के होते हुए भी वह ही आद्य है, न कि, कोई अन्य है।

नित्य उत्पत्ति और प्रलय के पक्ष से सर्वदा इस का कार्य कहते हैं कि, जैसे वर्षा में स्वतः अनेक जीवों की उत्पत्ति तथा लय होता रहता है वैसे ही इस सृष्टि का भी होता रहता है ॥५॥

श्लोक—**धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नरऋषिः प्रवरः प्रशान्तः ।**
नैः कर्म्यलक्षणमुवाच चचार योगं योद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥६॥

श्लोकार्थ—साक्षात् धर्मस्वरूप भगवान् नरनारायण दक्ष की कन्या मूर्त्ति से प्रकट हुए, जो नररूप से श्रेष्ठ उत्तम ऋषि है और विशेष शान्त स्वरूप है एवं जिसने वह योग बताया है जिससे नैष्कर्म्य का ज्ञान हो तथा योग का भी आचरण किया है जिनके चरण की सेवा आज तक भी नारदादि श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा हो रही है ॥६॥

सुबोधिनी—एवं सामान्यतो भगवच्चरित्रमुक्त्वा **पुष्ट्यवतारान्** वक्तुं साधारण्येन सर्वरक्षकं धर्मद्वैविध्यज्ञापनाय प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विविधं स्थितिहेतुभूतं नरनारायणावतारमाह'साधनफलयोः फलं बलीयो' **इतिन्यायेन**, स्थितौ सत्यां परिपालनात् सहजप्रवृत्तेरासुरत्वाद् बहुत्वात् समानाधिकरणधर्मानुत्पत्तेर्महत् तप; कर्तव्यं भगवतैव, तच्च निर्दुष्टं कर्तव्यं, तपसि क्रोधो महत्त्वे कामश्चेति, शुद्धसत्त्वावतारादन्तःकरणसम्भवात् तपो दोषौ च सम्भवन्तीतिभ्रमो निराकर्तव्यस्तस्माच् चरित्रं तथैव वक्तव्यं, तदग्रे दशभिर्वक्ष्यते, प्रथममवतारं स्वार्थचरित्रं चाह, मातापितृशुद्धिः नाम्नाधिष्ठानत्वं च **नारायण**नाम्ना ब्रह्मत्वं, **नरस्य ऋषित्वं** मन्त्रद्रष्टृत्वाय, **नर ऋषिर्यस्येति**, लक्ष्मीपतेर्नारायणस्य कर्म कर्तृत्वं नरनिबन्धनमिति, **नर** इति प्रथमः पुरुषः, लोकमर्यादायोरुत्तमत्वमाह **प्रवरः** श्रेष्ठ **प्रकर्षेण शान्तश्च**, न केवलं पुष्टिस्थ इति, इदं रूपं ज्ञान–क्रियोभयरूपं, तत्र ज्ञानकार्यमाह **नैःकर्म्यलक्षणं** पञ्चरात्रोक्तपरिचर्यारूपं लोकोपकारार्थमुक्तवान्, स्वार्थं बहुकालस्थित्यै **योगं चचार**, अत एव **पुष्ट्यवताराणां मध्येयमेवास्ते**, प्रथमस्य फलमाह, **ऋषिवर्याः** पञ्चरात्रोक्तमन्त्रद्रष्टारः, **तत्सेवित–चरणाः**, वैपरीत्यं स्थिते प्रयोजनत्वाय ॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार भगवान् के चरित्र साधारण रीति से कहकर अब जो अवतार विशेषतः अनुग्रहार्थ हैं किन्तु साधारणतः सर्व रक्षक हैं, उस नरनारायण भगवान् के पुष्टि अवतारों का वर्णन करते हैं।

धर्म के द्वैविधा जताने के लिए, प्रकृति तथा विकृति भेद से धर्म दो प्रकार का है। अतः स्थिति के हेतु भूत नरनारायण के अवतार को कहते हैं, कारण कि इस पुष्टि मार्ग (वा अवतारों) में साधन और फल दोनों में से फल बलिष्ठ माना जाता है, यह नरनारायणावतार पुष्टि अवतार है, अतः धर्म की द्विविध स्थिति का हेतु आप ही हैं।

सहज प्रवृत्ति आसुरी होती है और बहुत होती है, जिससे जगत् में धर्म की उत्पत्ति (व प्रवृत्ति) न होवे तो, उस दोष को मिटाने के लिए 'भगवान्' को ही 'तपस्या' करनी चाहिये, वह तपस्या दोषरहित होनी चाहिये, प्रायः तपस्या करते हुए क्रोध उत्पन्न होता है जो बाधक दोष है, और विशेष तप करने से काम (कामनाओं) की उत्पत्ति होती है जिससे तप में विघ्न पड़ता है, अतः ये दोष जैसे न हो उसी तरह तपस्या करनी चाहिये, इस प्रकार कहना एक प्रकार का भ्रम है, क्योंकि यह अवतार शुद्ध सत्वगुणावतार होने से इसमें अन्तःकरण भी वैसा ही होने से यहाँ इन दोषों की संभावना ही नहीं है। वैसा ही यह शुद्ध चरित्र आगे दश श्लोकों से कहा जायगा। भगवान् नर–नारायण जगत् की स्थिति सुचारू रहे आसुरी प्रवृत्ति का विशेष प्राबल्य न होने तदर्थ अद्यापि बदरिकाश्रम में तपस्या कर रहे हैं।

प्रथम पुष्टि अवतार का स्वार्थ चरित्र कहते हैं– कि यह शुद्ध सत्त्वावतार निर्दोष है, आपके पिता धर्म सात्विक तथा माता मूर्ति भी सात्विक होने से शुद्ध है, नाम एवं अधिष्ठान भी शुद्ध है, 'नारायण' नाम से ब्रह्मत्व है, मन्त्रद्रष्टा होने से 'नर' नाम से ऋषित्व है नर है ऋषि जिसको वैसा नारायण है, लक्ष्मीपति नारायण का कर्म कर्त्तापन नर के कारण है, 'नर' यह प्रथम पुरुष है और वह लोक तथा मर्यादा में श्रेष्ठ है और विशेष शान्त स्वरूप है, यह रूप केवल पुष्टिस्थ नहीं है किन्तु ज्ञान और क्रिया दोनों से युक्त है अर्थात् इनमें ज्ञान और क्रिया शक्ति भी प्रकट है।

ज्ञान शक्ति के कार्य का वर्णन करते हैं—पञ्चरात्र में कहे हुए भगवत्सेवारूप कर्म, लोकोपकार के लिए कहा है और अपनी बहुत समय तक स्थिति रहे, तदर्थ योगाभ्यास भी कर रहे हैं, अतः ही पुष्टि अवतारों में यह (नर नारायण) भी है, प्रथम का फल कहते हैं, ऋषिवर्य हैं, क्योंकि पंचरात्र में कहे हुए मन्त्रों के द्रष्टा हैं, उनके द्वारा चरणों की सेवा हो रही है स्थिति की विपरीतता प्रयोजन के कारण है ॥६॥

श्लोक—**इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।**
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥७॥

श्लोकार्थ—नर-नारायण भगवान् की तपस्या देख इन्द्र के मन में शंका हुई कि इस तपस्या से नरनारायण मेरा धाम (स्वर्ग) लेना चाहते हैं इसलिए इस तपस्या को भंग करने के लिए इन्द्र ने गणसहित (अप्सरादि गण) काम को बद्रीकाश्रम भेजा, अप्सरादि गण सहित काम ने वहाँ आकर मन्द-मन्द सुगन्धित वसन्त की वायु तथा अप्सराओं के कटाक्षों से भगवान् नर नारायण के मन को हिलाना चाहा, क्योंकि वह भगवान् की तथा बद्रिकाश्रम की महिमा को जानता नहीं था ॥७॥

सुबोधिनी—चरित्रमाह **दशभिः**, सहस्रकवचवधस्तपश्चर्षिनिबन्धनत्वादत्र मुख्यतो नोक्तं, कामक्रोधजयो **द्वाभ्यां** स्तुतिजयश्चतुर्भिरदेयदानं **द्वाभ्यां द्वाभ्यां** च चरित्रस्याचिन्त्यत्वं, तत्र कामक्रोधोपस्थितिमाहेन्द्र इति, **इन्द्रो** यज्ञः केवलं क्रियाशक्त्यवतारः, भोगावेशेनात्मविस्मरणं, तपसः फल**मिन्द्रत्व** मन्वन्तरातिक्रमे ब्रह्मत्वं तथापि प्रतिष्ठैव न भोगः, ज्ञानोपदेष्टुर्न ज्ञानापेक्षा जगद्रक्षायामपीन्द्रत्वेनैवेति भ्रमः, अत एव **मम धाम जिघृक्षतीति विशङ्क्य**, लोके हि **काम-क्रोधा**भ्यामेव तपःक्षयः क्रोधेनैव च **काम**जयोपि, अतः **कामस्य** जयपराजयाभ्यां स्वकार्यं मत्वा **कामं न्ययुङ्क्त**, स चाग्निरिव हृदयस्थितकामोद्बोधक इति तदुद्बोधे तदुपशमाय **सगण** इति, अनुद्बोधे न स्वरूपनाश उद्बुद्धेप्यशान्त आध्यात्मिकस्य क्षोभे हि सर्वनाश इति, स च कामः, **बदरीत्युप** समीपे **आख्यायां** यस्य **बदरी**नारायणमित्यर्थः, देशसहिताख्यया शब्दादपि ब्रह्मत्वज्ञानं न जातमिति, विभावादिभिः सहित इत्य**प्सरोगणवसन्तसुमन्दवात**सहितो जीवभावं गतो रसो नवभिः शृङ्गारादिभिर्बहिरायाति, भक्त्या तु बहिर्भगवानिति न काचिच्चिन्ता, अभिनयेनाभिव्यक्तिः सजातीयेन सजातीयग्रहणं, **स्त्रीणां** यत् **प्रकृष्टमीक्षणं** त इव इषवः क्षोभकास्तस्य बाणाः,**अविध्यदिति** कामव्यापार उक्तः, न तु भगवति प्रवेशो बाणानां तस्य **महिमाप्रच्युतभगवत्त्वं**, **न हि पाषाणे कश्चित् बाणान् प्रक्षिपति** ॥७॥

व्याख्या—दश श्लोकों से भगवान् का चरित्र कहते हैं। दो श्लोकों से काम और क्रोध पर जय, चार श्लोकों से स्तुति से जय, दो श्लोकों से अदेयदान एवं दो श्लोकों से भगवत् चरित्र की अचिन्त्यता कही है।

इन्द्र यज्ञ रूप है एवं केवल क्रिया शक्ति का स्वरूप अवतार है किन्तु भोगावेश के कारण अपने स्वरूप को भूल गया है। तप का फल इन्द्रत्व है, मन्वन्तर के बाद ब्रह्मत्व प्राप्ति हो तो भी वह प्रतिष्ठा ही है उसमें भोग नहीं है, नरनारायण जो तपस्या कर रहे हैं वह खास इन्द्र पद लेने के लिए ही है क्योंकि उससे ही जगत् की रक्षा कर सकते हैं। यदि कहो कि ज्ञान प्राप्ति के लिए कर रहे हैं तो यह कहना भी अपूर्ण है क्योंकि ज्ञानोपदेष्टा को ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है, इस प्रकार का भ्रम इन्द्र को हुआ जिससे उसको निश्चय हुआ कि इनकी तपस्या मेरे धाम लेने के लिए ही है, इसलिए, अपने धाम की रक्षार्थ नरनारायण को तपस्या में विघ्न डालने के लिए उपाय किया और यह निश्चय किया कि लोक में काम और क्रोध से ही तप का नाश होता है, क्रोध से ही काम की जय भी होती है, यों विचार कर इन्द्र ने काम को उनकी सेना सहित बद्रिकाश्रम में तपो भंग के लिए भेजा, काम की सेना अप्सरागण भी भेजी, क्योंकि कामदेव अग्नि की तरह हृदय स्थित काम को जाग्रत करता है, उसके जाग्रत होने पर उसकी शांति के लिए अप्सराओं की आवश्यकता होती है। अतः वे भी भेज दी थी, यदि काम जाग्रत न हुआ तो भी स्वरूप नाश न होगा, जो जाग्रत हुआ तो अशान्त होगा, यदि अहंकार से आध्यात्मिक का क्षोभ होने लगा तो क्रोधादि उत्पन्न होने से सर्वनाश होगा।

बद्रीकाश्रम वह स्थान है जहां 'बद्री' अर्थात् जहाँ प्रभु 'अमृत' अर्थात् परमानन्द का दान कर रहे हैं। उस नामवाले स्थान में विराजनेवाले तप कर्त्ता नरनारायण ब्रह्म है यह ज्ञान इन्द्र को तब भी न हुआ।

अप्सरागण विभावादि द्वारा बसन्त में चलने वाले मन्द २ वायु से जीव भाव में जो रस है वह शृंगारादि से बाहर प्रकट करा सकती है, किन्तु रस रूप भगवान्[1] तो केवल भक्ति से ही स्वयं बाहर प्रकट होते हैं, इन लौकिक व्यापारों से नहीं, अतः अप्सराओं ने वसन्त वायु आदि ने जो कुछ किया वह यों निष्फल गया ज्यों पत्थर पर फेंके हुए बाण निष्फल जाते हैं ॥७॥

श्लोक—**विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।**
मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥८॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने अज्ञता[2] के कारण इस प्रकार अपनी मर्यादा का उल्लंघन किया है, भगवान् यों जानकर खूब हँसे और डरी हुई इन्द्र की भेजी काम सेना को

---

१ वेद कहता है, 'रसो वै सः' वह प्रभु 'रस' रूप है 'सभानसीत' आत्मा जनानां' वह रसरूप प्रभु मनुष्यों का मग्नसीत आत्मा हैं, अतः इस वास्तविक शुद्ध रस का आविर्भाव भक्ति से ही होता है न कि अन्य लौकिक उपायों से उस रस की प्राप्ति होती है। २—अज्ञानता।

कहने लगे कि, हे मदन ! हे मारुत ! हे देववधुओं ! आप डरो मत, अब इस हमारे निवृत्तिमार्ग वाले आश्रम में सुख पूर्वक निवास कर हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये आप हमारे अतिथि हो अतः आश्रम का त्याग कर इसको शून्य न कर यहाँ ही विराजिये ।।८।।

सुबोधिनी— भगवत्कृतमाह **विज्ञायेति**, बाणानां कार्याभावेपि बाणप्रक्षेपोनुचित इतीश्वरत्वाद् दण्डो विधेयः, स्वाम्याज्ञाकर्तृत्वान् न कामादीनामनौचिती, **भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड** इति प्राप्नोति, क्षोभेज्ञाने वा कामादीनां दण्डः प्राप्नोति, **तच्छक्रकृतमक्रम**मिति निवृत्तिः, स्वतो नारदादिद्वारा वा तपःप्रयोजनं ज्ञातव्यं जीवत्वं च, तदाय **क्रमो** भवति, अज्ञानात् **त्वक्रमः**, भगवत्त्वात् नापराधदण्डौ, **आदिदेव** इति स्वेनैव प्रस्थापितः स्वांशो यज्ञ इति, तूष्णीम्भावे भयादेतेषां मरणमपराधान्तरं सम्भवतीति **प्राह** मच्छिक्षितमप्येतैः प्रयुक्तमिति **प्रहस्येत्युक्तं**, गर्वादप्येवं सम्भवतीति तन्निराकरोति **गतविस्मय** इति, तथा च क्रोधवत् महित्वज्ञानमपि भवेत्, नारायणशक्रदण्डभयात् कम्पः, उभयनिवृत्त्यर्थमे-**जमानान् प्रत्याह, भये हि स्वामिसेवक भावोपगतः**, ततस्तुल्यातया **भो मदन मारुत देववध्व** इति-सम्बोधनं, **मा भैष्टे**तीन्द्रादपि भयाभावः सूचितः स्वामिदण्डभयं च, **कार्यार्थमागता अप्यतिथयो भवन्ति**, चौरा घातुकाश्च निवृत्तिमार्गे, "एतावज् जन्मसाफल्य" मित्यत्र निर्णीतं, **आमाच्च न मनोरथः सिध्यति**, तथाप्याश्रमस्थैरातिथ्यं **कर्त्तव्य**-मित्याह **गृह्णीत नो बलिमस्मत्सम्बन्धिनीं** पूजां, ततः किमत आह**ाशून्यं स्थानं कुरुध्व**मिति, मनोरथसिद्धचभावेपि परोपकारः सेत्स्यतीत्यर्थः निर्दुष्टाना महतां रीतिरेषा, "गृहेषु येष्वतिथय" इतिन्यायात् ।।८।।

व्याख्या—इन्द्र की भेजी हुई काम सेना ने जो अनुचित कार्य कर आप पर आक्रमण किया तो ईश्वर होने से उन्हें दण्ड देना चाहिये, इस पर कहते हैं कि, जहां बाणों का कार्य नहीं है वहाँ बाण फेंकना उचित नहीं है, अतः यहाँ काम सेना को दण्ड देना उचित नहीं है, क्योंकि उसने तो स्वामी की आज्ञा का पालन कर सेवक धर्म पाला है इसमें किसी प्रकार अनौचित्य नहीं है, अतः वह दण्ड के योग्य नहीं है भृत्य (नौकर) यदि अपराध करे तो भी दण्ड भृत्य को नहीं होता है बल्कि स्वामी को होता है, यहाँ तो काम सेना द्वारा कराये हुए अतिक्रम में इन्द्र का भी अपराध है, यों भगवान् नहीं मानते, क्योंकि इन्द्र अज्ञानी है उसने नारदादि द्वारा यह नहीं जान पाया है कि यह तपस्या जगत् के हितार्थ की जा रही है अतः अज्ञान से भ्रमित होकर समझ बैठा है कि मेरे धाम को लेने के लिये तप हो रहा है, इसलिए वह इन्द्र भी दोषी नहीं है, यदि यह तप जिसके लिए हो रहा है वह जानकर भी काम सेना द्वारा आक्रमण करता तो दोषो माना जाता, आप भगवान् हैं अतः इन्द्र का अपराध भी नहीं मानते एवं उसको दण्ड देना अनुचित समझते हैं, आप आदि देव हैं अर्थात् सफल देवों के आदि हैं यानि सब देव आपसे ही प्रकट हुए हैं, इन्द्र को भी यज्ञ रूप से अपने अंश से आपने ही स्थापित किया है ।

भगवान् यदि इस समय मौन धारण कर बैठते तो भय के कारण काम सेना की मृत्यु हो जाती, जिससे दूसरा अपराध बन जाता, इसलिए प्रभु विशेष हँसते हुए कहने लगे कि आपने जो यहां कर्म किया है वह तो मैंने ही आपको सिखाया है, जिसकी आपने यहां परीक्षा दी है, आपने यह

कार्य गर्व से भी नहीं किया है, और वैसे क्रोधवत् अपनी महत्ता का ज्ञान भी हो सकता है, एवं नारायण और इन्द्र के भय से कम्पन होता है अर्थात् कांपते हो इन दोनों भयों के निवृत्यर्थ डरती हुई सेना को कहने लगे कि, आप डरिये नहीं, कारण कि, अपना आपस में स्वामी सेवक भाव है, डरने से वह भाव मिट जावेगा, इस कारण भगवान् उनको इस प्रकार कहते हैं जैसे कि समानता वालों से बोला जाता है भो मदन ! (कामदेव) हे मारुत ! हे देववधुओं ! आप किसी प्रकार मत डरिये, आपको आपका स्वामी इन्द्र दण्ड नहीं देगा और मैं भी दण्ड नहीं दूँगा, आप निश्चिन्त रहिये, किसी भी कार्य के वास्ते जो घर में आते हैं वे 'अतिथि' माने जाते हैं, निवृत्ति मार्ग में तो चोर एवं हत्यारे भी घर में आवें तो उनको भी अतिथि मान उनकी अतिथिवत् सेवा की जाती है, यों अतिथि सेवा करने से ही जन्म की सफलता होती है, जैसे कहा है कि, 'एतावज्जन्म साफल्यं' भ्रम से (अज्ञान से) कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है तो भी आश्रमवासियों का धर्म है अतिथि की सेवा करनी, अतः हम आश्रमवासियों का आतिथ्य स्वीकार कीजिये, इससे क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि इससे आश्रम शून्य न होगा यद्यपि आप जिस मनोरथ से आये हो वह सिद्ध न हुआ तो भी कोई हानि नहीं क्योंकि यहां रहने से विशेष लाभ होगा कि परोपकार की सिद्धि होगी, जो निर्दोष महत्पुरुष हैं उनका तो 'परोपकार करना ही' रीति है। जिससे उनके घर सर्व देव अतिथि आते रहते हैं जैसा कि कहा है 'गृहेषु येष्वतिथयः' ॥८॥

श्लोक—**इत्थं वदत्यभयदे नरदेव देवाः सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।**

नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥९॥

श्लोकार्थ—हे नर देव ! अभय देने वाले भगवान् के इस प्रकार कहने पर, लज्जा से उनके मस्तक नीचे हो गये, यों नम्र हुए कामादि, कृपायुक्त, उन प्रभु को कहने लगे आत्मा में ही रमण करने वाले, जितेन्द्रिय धीर सत्पुरुषों से पूजित हैं चरणकमल जिनके ऐसे अविकारी परब्रह्म आप में यों दया करना किसी प्रकार विचित्र नहीं है ॥९॥

सुबोधिनी—एवं श्लोकद्वयेन कामाभाव उक्तः, तथा च माहात्म्यमुक्तं भवति, पुरुषबुद्धिग्राह्यं जितेन्द्रियत्वादि, तन्निराकरणं **चतुर्भिर्वदन्** त्रिभिस्तदाह, भगवद्भगवदीयासाधारणैर्धर्मैः, तत्र प्रसङ्गं भगवद्धर्ममाह, भयाभावमात्रमाशंसितं, पूजाप्यधिका, तामाहेत्थं **वदतीति**, **महतो वचनमेवाल्पानां पूजाप्रकारः स्वन्यूनताख्यापकः**, **अभयदानान् न परं दानं**, आसनादिकमपि प्राप्तमिति गम्यते, हे **नरदेवे**त्यभयदान देयमिति लौकिक उपदेशः, तेपि स्वरूपतो महान्त इति **देवा** इत्युक्तं, विरुद्धकरणात् **व्रीडा**, महतां बहुमानात् **नम्रशिरस्त्वं**, वेश्यादिदर्शनात् कामे विचिकित्सा तत्सहितं कर्म कृपासहितं वा दीनदर्शनात् क्रियाविशेषणत्वे विज्ञापनामिव भक्तेषु कुर्वन्ति, स्वगाशितान् भक्तान् स्मृत्वा त्वयि सर्वं सम्भवति सर्वेषां पितामहवन् नियामकत्वात् तत्कृतक्षोभाभावाच्च, गुणकार्यं **विकृतं** तदभावे, किञ्च ज्ञानेन्द्रियजययोरपि प्रसिद्धानामपि श्लाध्ये सम्मते ज्ञानेन्द्रियजयौ किं वक्तव्यौ ? तदाह **स्वारामाश्च** ते **धीराश्च** तेषां **निकरैरानतं पादपद्मं** यस्येति ॥९॥

व्याख्या—(इस प्रकार दो श्लोकों से कामादि दोष के अभाव का वर्णन किया और माहात्म्य कहा) अब चार श्लोकों में से तीन (श्लोकों) से पुरुष बुद्धि से ग्राह्य जितेन्द्रियत्वादि का निराकरण करते हैं—

भगवान और भगवदियों के असाधारण धर्मों से वह समझाते हैं जिसमें प्रथम प्रसंग सहित, भगवान् के धर्मों को कहते हैं, अभयदान ही सब दानों में उत्तम कहा गया है और पूजा भी अधिक है, जिसका भी वर्णन किया हुआ है इस विषय का वर्णन 'इत्थं वदत्यभयदे' श्लोक में करते हैं, साधारण जीवों का पूजन (आदर सत्कारादि) महापुरुषों की केवल वाणी से थोड़े शब्द उच्चारण से ही हो जाता है, उन शब्दों से उन (महापुरुषों) में दैन्य के दर्शन होते हैं। अन्नदान, विद्यादान, सुवर्णदान, भूमिदान, वस्त्रदानादि की तुलना में भयभीत हुए जीवों को भय से छुड़ाने का दान ही सब से उत्तमदान है। काम, आदि को आश्रम में अतिथि सत्कार स्वीकार करने के लिये कहा गया जिससे समझा जाता है कि उनको आसन आदि भी मिले हैं। श्लोक में "नरदेव !" सम्बोधन किया है, जिससे सूचित होता है कि आप (राजा) को भी अतिथि सत्कार करना तथा शरणागतों को अभय दान देना चाहिये। यह लौकिक उपदेश (राजा को) है। कामादि भी स्वरूप से महान् हैं अतः उनको 'देवाः' कहा गया है परन्तु उनने बड़े होते हुए भी विरुद्ध कार्य किया, फिर भी नरनारायण ने उनका आदर किया जिससे लज्जा आने के कारण उनके शिर झुक गए। वेश्यादि देखने से नरनारायण को कामदेव के प्रति घृणा हुई, उसके होते हुए भी अथवा कामादि का प्रयत्न निष्फल होने से उनको दीनता पूर्ण देखने से नरनारायण का यह कार्य कृपा-युक्त है। श्लोक में 'सघृण' शब्द यदि क्रिया विशेष माना जाए तो फिर अर्थ ऐसे होगा कि नरनारायण ने नाश किए हुए अपने भक्तों का स्मरण कर अब इन कामादि को इस तरह विनय पूर्वक कह रहे हैं आपके नियामक होने से पितामह की तरह सबकी रक्षा करते हैं। कामादि द्वारा की गई विरुद्ध क्रिया से भी आप को दुःख न हुवा, गुणों का कार्य विकार वाला होता है जो आप में नहीं है तथा जिनने ज्ञान एवं इन्द्रियों को जीत लिया है ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा आप प्रशंसित हैं तो फिर आप में ज्ञान एवं इन्द्रियों पर विजय है तो इस विषय में तो कहना ही क्या ? इस पर कहते हैं कि—आत्मा में ही रमण करनेवाले जितेन्द्रिय धीर सत्पुरुष जिनके चरण कमल पूज रहे हैं वैसे आप हैं ॥९॥

श्लोक—**त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।**
नान्यस्य बर्हिषि बलिं ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥१०॥

श्लोकार्थ—हम जीवों का अपराध करना सहज धर्म ही हो गया है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यों होते हुए भी आप उन पर दया एवं अनुग्रह ही करते हैं, देवलोक स्वर्ग का उल्लंघन कर आपके परम पद वैकुण्ठ को जाने वाले आपके सेवकों के मार्ग में देव अनेक विघ्न करते हैं जिसका कारण बताते हैं कि भक्तजन वैकुण्ठ प्राप्त करने की इच्छा से आपका ही जब भजन करने लगते हैं तब देव समझते हैं कि अब ये भक्त हमको बलि न देंगे अतः विघ्न करते हैं जो आप की भक्ति नहीं करते हैं उनके कार्य में विघ्न नहीं डालते हैं क्योंकि वे देवों को बलि देते हैं, किञ्च जो भक्त अनन्य-

भाव से आपका भोजन करते हैं उनके रक्षक आप हो अतः वे भक्त निश्चिन्त होकर विघ्नों के सिर पर पैर धरकर आपके वैकुण्ठ में सुखपूर्वक पहुंच जाते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—त्वयि सर्वं युक्तं परं सेवकानां दुर्दशेति तन्निराकरणं च पाक्षिकमतो नित्यनिराकरणाय तदनुवदति. **प्रवाहमर्यादासहितो भक्तः पुष्टो भवति तत्रोभयत्राधिकृता देवाः सेर्ष्याः स्वसेवापरित्यागेन भगवत्सेवापराणां प्रवाहमर्यादयोर्विघ्नं कुर्वन्त्यतः** प्रवाहमर्यादयोः पदमलब्ध्वा हीना एव भान्ति, तदाह **त्वां सेवता**मिति, फलपर्यन्तमिति **पदं व्रजता**मित्युक्तं, यद्यपि "यथा तरो"रिति-**न्यायेन** भगवत्पूजायां तृप्ता भवन्ति तथापि **भगवद्भक्तस्य** देयाभावान् न सेवामात्रेण तुष्टा भवन्ति, तदाह **सेवता**मिति, बहुप्रकारा विघ्नास्तत्तत्कार्ये ततश्च किमपि कार्यं न सिध्यतीत्यर्थः, प्रवाहे **बलिं ददतः स्वभागान्** मर्यादायां, न च ते सर्वत्र विघ्नकर्तारो दुर्जना इव, तदाह **नान्यस्ये**ति, अन्यत्वेनैकत्वात्, यद्यपि "यदनुचरितेति" **न्यायेन** भगवतोपीदमभिमतं तथापि लोकापवादन् दयया वा **यद्यविता** विघ्नस्थानं प्राप्नोति कश्चिदित्यर्थः, विघ्नानां प्राचुर्ये किं कर्तव्यमत आह **यदि विघ्नमूर्ध्नी**ति, विघ्नास्थाकार्यं नेतुं मस्तके स्थापितवन्तः, यदि तत्रैव तस्यावनं तदा तत्रैव **पदं च धत्त** इत्यर्थः, उत्तरवाक्यगतो **यच्छब्द**स्तच्छब्दं नापेक्षते, "तथा न ते माधवे" त्यत्र भवदीया यादवा इवोदासीनाः सेवमानास्त्वत्रेति**विशेषः** ॥१०॥

व्याख्या—आप सर्व समर्थ षड्गुण संयुक्त प्रभु जो कुछ करते हैं वह उचित ही है, जिसमें सेवकों की दुर्दशा हो वह उचित कैसे ? इस शंका का निवारण करते हैं—प्रवाही और मर्यादी भक्तों पर जब आप अनुग्रह करते हो तब वे आपके अनन्य भक्त बनकर आपका ही भजन करते हैं उसको सहन न कर प्रवाही तथा मर्यादी देव उनके कार्य (सेवादि) में विघ्न डालते हैं, किन्तु वे उन विघ्नों की परवाह नहीं करते हैं, कारण कि वे समझते हैं कि हमारे रक्षक देवाधिदेवों के अधिपति परब्रह्म स्वयं है, जिससे वे विघ्नों के सिर पर पैर धरकर वैकुण्ठ में सुख से चले जाते हैं, उनको भगवच्चरित्र के गुणगान तथा सेवा का बल है।

वास्तव में 'यथातरोर्मूल निषेचतेन' इस श्लोकानुसार, जैसे पेड़ की मूल में पानी देने से वृक्ष की शाखा पत्ते आदि को पानी प्राप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान् कृष्ण सर्व देवों की जड़ हैं उनके भजन से सर्व देवों का भजन हो जाता है उनकी तृप्ति से सब देव तृप्त हो जाते हैं, अतः देव भगवद्भक्तों की सेवा में विघ्न डालते ही नहीं हैं, यदि कदाचित् प्रभु की विशेष लीला के कारण विघ्न डालें, तो भी भक्तों के आगे वे विघ्न अकिंचित्कर हैं अर्थात् गणना में ही नहीं हैं। १०॥

श्लोक—**क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुत जैह्व्यशैश्नायानस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।**
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोर्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥११॥

श्लोकार्थ—विघ्न अनेक हैं, उनमें से क्षुधा,[१] पिपासा,[२] शीत,[३] उष्णता,[४] वर्षा, वायु, रसना इन्द्रिय का भोग[५] तथा स्त्री पुरुष द्वारा परस्पर रसभोग, इस प्रकार के

---

१ भूख, २—प्यास, ३—सर्दी, ४—गर्मी, ५—जीभ का विविध रसों का भोग, प्रकृति के ८ भोग हैं—भूख, प्यास, सर्दी गर्मी, वर्षा, हवा, जीभ के स्वाद, काम उपभोग।

प्रकृति के आठ मुख्य विघ्नरूप (देव) हैं, अतः इस प्रकार काम समुद्र को कोई बिरला पार कर सकता है, उसमें भी तपस्वी तो छोटे गड्ढे में ही डूब जाता है, वह गड्ढा है 'क्रोध' जो क्रोध के वश हुआ उसकी तपस्या बार बार अहंकार से शाप देने के कारण नष्ट (वृथा) हो जाती है, काम तो व्यवहार में कुछ सुखाभास देता है किन्तु क्रोध तो सर्वथा कष्टप्रद एवं हानिकर होता है ।। ११ ।।

सुबोधिनी—एतद्दृढीकरणाय विघ्नानां माहात्म्यमाह, परः सहस्रेष्वपि विघ्नेषु षड् वयं प्रधानभूतास्तत्राप्युत्तरोत्तराधिक्यं, तदाह **क्षुदित्यादिनां**, "समुद्र इव हि काम" इतिश्रुतेः, **अष्टप्रकृतिकस्य कामस्योत्तरणं कठिनं**, अष्टधा यावज्जीवमनन्तजन्मसु बाधने, तत्र सहनं तरणं प्रतीकारो मज्जनम्, प्रतीकारसाधनानि मज्जनकर्तृणि, **वशी**करणं चापरो धर्मः, सर्वेषामवशीकृतानामेव तरणादिशङ्का, **अतितीर्ये**ति बहुकालसहने तथा न बाधन्त इति ते दुर्लभाः, कामे तु मग्नस्यैन्द्रियं सुखमस्ति क्रोधे तदपि न, शत्रुमरणस्य दुःखाभावहेतुत्वेपि न स्वकृते विशेषः, क्रोधश्च दुःखात्मकः, तदप्यविवेकाभिमानवत एव, किञ्च क्रोधे सहनशङ्कैव नास्ति वशीकृत एव भवतीत्याह **वशं यान्तीति, कामविचारे क्रोधस्त्वतितुच्छः**, **प्रवाहमर्यादायां** स्थित्यभावाद् विवेकविधुतित्वाच्च हेतोरप्यभावात्, तदाह **गोः पदे मज्जन्तीति**, विरुद्धवाक्यस्य पदैकदेशे **मज्जन्तीत्यर्थः**, **कामः कायिकः क्रोधो वाचनिक** इति सिद्धं, उभयोस्तारतम्यार्थं श्लिष्टवचनं, कामे मग्नानां **मर्यादा**फलानुभवोस्ति क्रोधे तदपि नेत्याह, **दुश्चरं तपश्च वृथोत्सृजन्तीति मग्नः** शिरोभारमिव, स्वपरार्थोपयोगाभावाद् **वृथेति**, **त्रिकालगुणाः** शीतोष्णवर्षाः, **अतिशयेन तीर्त्वा पद** खुरनिर्मिते, एवं कामक्रोधाभावं भगवति दृष्ट्वा भक्तेष्टप्रार्थनस्वपौरुषवर्णनमिषेण स्तुतिरुक्ता ।।११।।

व्याख्या—इस विषय को दृढ़ करने के लिये विघ्नों का माहात्म्य कहते हैं—सहस्त्रों विघ्न हैं उनमें से ६ मुख्य हैं उनमें भी उत्तरोत्तर अर्थात् एक से दूसरा बलवान है।

जिसका वर्णन 'क्षुत्तृट्' श्लोक में करते हैं, 'समुद्र इव हि काम' श्रुति कहती है कि काम (चाहना) समुद्र के समान है अर्थात् जैसे समुद्र के पार जाना कठिन है वैसे ही काम को तैर कर पार जाना अशक्य है, क्योंकि उस काम की आठ प्रकृतियाँ हैं एवं उनके प्रतिकार के साधन भी केवल दुस्तर नहीं किन्तु डुबोने वाले हैं, उनको वश करने का धर्म (साधन) पृथक् है, जिन लोगों ने इनको वश में नहीं किया है वे कैसे पार पहुँचेंगे ? बहुत समय तक उनका सहन कर लेने से वैसे बाधा नहीं करते हैं, यों वे सहन करने वाले दुर्लभ हैं। काम और क्रोध की तुलना करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य काम (विषय) में मग्न हैं उनको व्यवहार में लौकिक इन्द्रियों का सुख तो मिलता है, किन्तु क्रोध करने वाले को तो वह भी नहीं प्राप्त होता है, शत्रु के मरने से दुःख का अभाव होता है किन्तु खास अपने को उससे कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता है क्योंकि क्रोध दुःखात्मक है, सदैव दुःख देनेवाला है, वह भी अविवेकी तथा अभिमानी को विशेष दुःखदाता है।

क्रोधी मनुष्य सहन कर सकेगा यह शंका ही नहीं उठती है, अर्थात् क्रोधी में सहन करने की शक्ति ही नहीं होती है, कारण कि क्रोध में वह शक्ति है जो वह क्रोध को अपने वश में कर लेता है क्रोध अति तुच्छ है, अतः प्रवाह वा मर्यादा में भी क्रोधी स्थिर नहीं रह सकता है, क्योंकि क्रोध से

विवेक चला जाता है जिसका कोई कारण भी नहीं होता है, क्रोधी लोग छोटे गड्ढे में ही डूब जाते हैं, जिससे परस्पर विरुद्धवाक्य के भावार्थ न समझने से उसमें ही गोता खाने लगते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि काम कायिक है और क्रोध वाचनिक है, दोनों का तारतम्य (भेद) बताने के लिए इकट्ठे वचन कहे हैं काम में जो मग्न हैं उनको मर्यादा फल का अनुभव होता है, क्रोध में वह भी नहीं होता है, वे क्रोधी अपनी दुस्तर तपस्या भारवाही (बोझ उठाने वाले) की तरह वृथा गवाँते हैं, वे क्रोधी तप से न अपना हित करते हैं और न दूसरों का, अतः तप की व्यर्थता हो जाती है ।।११।।

आभास—एवंज्ञानमचिन्त्यैश्वर्यज्ञानादिति तन्निराकरणाय स्त्रियो वर्णितवानित्याहेतीति,

आभासार्थ—अब तक कामादि देवों को भगवान् के अचिन्त्यैश्वर्य का ज्ञान न था, उस अज्ञान को मिटाने के लिए विभु प्रभु ने अतिसौन्दर्य वाली अद्भुत आभूषणादि से युक्त विविध स्त्रियाँ प्रकट कर दिखा दी, जिसका आशय आचार्य श्री कारिका में दिखाते हैं—

कारिका—**स्त्रीभिः कामजयो यस्य क्रोधस्याप्यर्चनेन हि ।**
उत्कर्षाधायकत्वेन ह्युभयोरित्यचिन्त्यता ।।१।।

कारिकार्थ—भगवान् श्री नरनारायण ने स्त्रियों के (देव स्त्री अप्सराओं के) अनेक प्रकार के नृत्य हास्य और कटाक्षादि से मोहित न हुए अर्थात् काम की सेना का श्रम निष्फल कर काम पर विजय प्राप्त कर ली, इसी प्रकार कामादि के इस अनुचित कार्य करने पर भी क्रोध न कर उनका पूजन ही किया, जिससे अपना उत्कर्ष सिद्ध किया, उन दोनों कार्यों की महत्ता किसी के भी समझ में आना कठिन है ।

श्लोक—**इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।**
दर्शयामास शुश्रूषामर्चने कुर्वतीर्विभुः ।।१२।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार देवता स्तुति कर ही रहे थे तो इतने में सर्वसमर्थ प्रभु ने अपने अलौकिक सामर्थ्य से उन स्त्रियों से भी अधिक विशेष आभूषणादि से सुसज्जित एवं अतिशय लावण्यवती (सुन्दर) अद्भुत स्त्रियाँ प्रकट कर दिखाई, उन्होंने प्रकट होते ही भगवान् की प्रार्थना की, कि हे प्रभो ! आज्ञा करो, और आज्ञा पाते ही कामादि की सेवा में लग गई ।। १२ ।।

सुबोधिनी—**तेषां** सतां तेभ्य इति वा, **तेषामेव** सम्बन्धिन्य इति वा, अण्डान्तरस्थाः, अन्यथोर्वशीदानमनुचितं स्यात्, कामादीनामपि विवेकविस्मारकत्वेनात्यद्भुतत्वं, अत्यद्भुतं दर्शनं यासां ताः **स्त्रीः**, **अर्चने** कामादीनां पूजायां स्नापनादौ, ननु तूष्णीम्भावेनापि सर्वसिद्धौ किमित्येवं कृतवानित्यत आह, **विभुरिति**, समर्थस्य हि सर्वं सह क्रीडनं, तद्वदित्यर्थः ।।१२।।

व्याख्या—नरनारायण ने अपने प्रभाव से जिन स्त्रियों को प्रकट किया, वे स्त्रियाँ भी इनकी संबंधिनी थी, जो यों न होता तो उर्वशी का दान देना अनुचित दिखता, ये स्त्रियाँ अत्यन्त अद्भुत थीं जिसका कारण कामादिदेवों का विवेक (ज्ञान) आदि भी इन्होंने नष्ट कर दिया है, जिससे वे

भी मोहित हो गये। ये स्त्रियाँ जगत् की मूर्त्तिमती लक्ष्मियाँ हैं यों भास रहा था। अतः देवानुचर ऐसे दिव्य स्त्रियों का पूजनादि कैसे कर सकते ? यह सर्व कार्य यदि भगवान् मौन धारण कर लेते तो भी सिद्ध हो जाते, इस पर कहते हैं कि आप 'विभु' सर्वसमर्थ हैं अतः अपना प्रभाव दिखाकर उनका अहंकार नाश करना आवश्यक था ॥१२॥

श्लोक—**ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।**
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के समान मूर्त्तिमती सुन्दर स्त्रियों के दर्शन से एवं उनके दिव्य रूप तथा उदारता से इन्द्र के अनुचरों का तेज नष्ट हो गया और उनके मन मोहिनी दिव्य गन्धमात्र से मोह को प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—अदेयदानं वक्तुं तदपेक्षामाह **ते देवानुचरा** इति, इन्द्राद्यन्तःपुरस्त्रीदर्शनेपि मोहाभावाय, तादृशोपि सर्वजगत्श्रियो मूर्तिमत्य इव जाता इति तासां पद्मकिञ्जल्कगन्धानां **गन्धेनैव** मोहं प्राप्ताः कुतः पूजाज्ञानमित्यर्थः, **श्रीरिति** द्वितीया बहुवचनं, **गन्धेनैव** यत्र मोहः किम्पुनः स्पर्शनादिभिरितिभावः, लोलुपतां वक्तुं विशेषणान्तरमाह, तासां **रूपौदार्याभ्यां** हता **श्रीर्येषामिति**, उत्तरसम्बन्धे षष्ठ्या अलुक्, **श्रीर्द्विविधा**, कान्तिर्धनं चेति, **रूपेण** कान्त्याधारेण कान्तिनाशः, **औदार्येण** च धनस्य, **औदार्याभावे** धनं शिलावत्, अथ वा, **रूपस्य यदौदार्यं** तासां रूपसन्निधिमात्रेण सर्वे रूपवन्तो भवन्तीति पूर्वकान्तेर्नाशः ॥१३॥

व्याख्या—इनको अदेय दान देना है, क्योंकि ये देवानुचर होने से दान लेने के योग्य हैं। इन्होंने इन्द्रादि देवों के अन्तःपुर की स्त्रियाँ देखी हैं अतः इन स्त्रियों के देखने से उनको मोह नहीं होना चाहिये, ऐसों को भी, सर्व जगत् के श्री की मूर्त्तिमती ये स्त्रियाँ थी, अतः इनके केवल श्री अंग की गन्ध से ही वे मोहित हो गये जो मोह को प्राप्त हो जाते हैं उनको पूजा का ज्ञान कैसे होगा ? जहाँ गन्ध मात्र से मोह हो जाता है तो अंग संग से उनकी क्या दशा होगी ? उन स्त्रियों के रूप और उदारता से देवानुचरों की श्री (तेज, शोभा, कान्ति) नष्ट हो गई थी।

'श्री' दो प्रकार की होती है, एक रूप (शोभा), दूसरा धन (उदारता) स्त्रियों के श्री रूप कान्ति से उनका तेज नष्ट हो गया और अपनी उदारता से उनके धन का भी तेज (गर्व) नष्ट कर दिया उदारता नहीं है तो वह धन भी पत्थर के समान निरर्थक है। रूप की उदारता से अन्य जो पास में हो उनका रूप भी विशेष सुन्दर हो जाता है। इसी तरह उन स्त्रियों के पास होने से देवानुचरों के प्रथम रूप की कान्ति का नाश हो गया है ॥१३॥

श्लोक—**तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव ।**
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—इन्द्र के भी ईश श्री नरनारायण मानों हँस रहे हैं, यों आकृति कर प्रणत (प्रणाम करते हुए) उन देवों को कहने लगे कि, इन स्त्रियों में से अपने वर्ण (देववर्ण) वाली और जो स्वर्ग की आभूषण रूप हो उसको ले लो ॥१४॥

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवान् नर-नारायणकी महिमा

सुबोधिनी— तेषामभिप्रायं ज्ञात्वादेयमपि दत्तवानित्याह **तानिति**, अधिकाराभिनिवेशं दृढं मत्वा सन्तुष्ट इव ददातीति **देवानां देवा** इन्द्राद-यस्तेषा**मीश** इति, उर्वश्यापीन्द्रस्य भोगः, अतोप-कारिभोगपर्यवसानान् न दद्यात्, तेषां दोषाभाव-माह **प्रणता**निति, मोहमपि प्राप्य ता न पश्यन्ती-त्यर्थः, अत एव द्रष्टुमपि भीतान् दृष्ट्वा जातमपि हास्यं दोषाभावायापसंहृतमित्याह **प्रहसन्निवेति**, भवतामिन्द्रस्य चोपकाराय **सवर्णा** मिति, **समानो वर्णो** यस्या इतिपञ्चमी ।।१४।।

व्याख्या—भगवान् नारायण ने उनके हृदय का अभिप्राय जानकर जो वस्तु देनी नहीं चाहिये वह भी दे दी। उनका इस पदार्थ में दृढ़ अभिनिवेश[1] है यों समझकर जैसे कोई प्रसन्न होकर देने लगे, क्योंकि आप देवों के देव इन्द्र के भी स्वामी हैं अतः स्वामी को सेवक के मन की इच्छा पूर्ण करनी चाहिये, उर्वशी से ही इन्द्र का भोग हो सकता है (परन्तु) अपकारियों को (तो) भोग योग्य पदार्थ नहीं देने चाहिये? जिसके उत्तर में कहते हैं कि अब इनमें वह दोष नहीं रहा है कारण कि अब ये नमन कर दीन बन गये हैं। स्त्रियों से मोह प्राप्त होने पर भी उनको देखते नहीं है, इसलिए देखते हुए भी जो डरते हैं वे निर्दोष हैं यों मान हँसने लगे जिससे दोष का उपसंहरण कर लिया, आप और इन्द्र के उपकारार्थ अपने वर्ण वाली (देव वर्ण वाली) और जो स्वर्ग की शोभा बढ़ावे वैसी एक कोई भी स्त्री आप ले लीजिये ऐसी आज्ञा की ।।१४।।

श्लोक—**ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरबन्दिनः ।**
उर्वशीमप्सरः श्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ।।१५।।

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञा को 'ओ३म्' कह कर सिर पर चढाया वे देव बन्दी भगवान् को प्रणाम कर अप्सराओं ने उत्तम उर्वशी को आगेकर स्वर्ग को गये ।।१५।।

सुबोधिनी—अत्यनुभावप्रवृत्तिं वक्तुं हेतुमाह **ओमिति**, **ओमित्य**ङ्गीकारे, आज्ञा**मादाय**, **नम**नेन सेवकत्वस्थापनं, दत्तग्रहणे कीर्तिख्यापने च हेतु-**बन्दिन** इति, अप्सरस्त्वमेतेषां सुखाय ।।१५।।

व्याख्या—विशेष अनुभाव की प्रवृत्ति बताने के लिए कारण कहते हैं कि उन्होंने भगवदाज्ञा को 'ओ३म्' कहकर सिर पर चढाया, और प्रणाम करने से अपना सेवकत्व स्वीकार किया, जो प्रभु ने दिया उसके लेने में और कीर्ति के प्रसिद्धि में हेतु बताते हैं कि, वे 'बन्दी' हैं, उर्वशी में जो अप्सरत्व हैं वह इन सबके सुख के लिए हैं ।।१५।।

श्लोक—**इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।**
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ।।१६।।

१—इस वस्तु के लेने की दृढ़ इच्छा है।

श्लोकार्थ—उस काम सेना ने इन्द्र को प्रणाम कर श्री नारायण भगवान् के बल का जोर से सभा में वर्णन किया, जिसको सर्व देवों ने सुना एवं इन्द्र भी सुनकर आश्चर्य के साथ भयभीत हुआ ।।१६।।

सुबोधिनी—अनुभावमाहेन्द्रेति कामादिजयो वशीकरणं, इन्द्रादिमानभङ्गश्चेति **बलं, तत्रासेति** भयं, यथासुखं करिष्यतीति चरित्रेण **विस्मयः** ।।१६।।

व्याख्या—वे इन्द्रानुचर नारायण का प्रभाव कहने लगे-प्रथम तो उन्होंने सभा में जोर से स्पष्ट कहा कि हम पर नारायण ने जय पाई, उनके आगे हमारी कुछ न चली। न केवल इतना ही किन्तु अपने प्रभाव से हम सब को वश में कर लिया, जिससे हमारे स्वामी इन्द्रादि का मान भी भंग कर दिया। ऐसे वे प्रभावशाली हैं, यह सुनकर इन्द्र डर गया, और समझ गया कि वह सुखपूर्वक सब कुछ कर सकेगा, इससे विस्मय में पड़ गया ।।१६।।

आभास—एवं देवविस्मापनं नारायणचरित्रमुक्त्वा क्रमेणोपकारानुसारेण सर्वावतारान् सङ्क्षेपत आह यावदध्यायसमाप्ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार देवों को आश्चर्य में डालने वाला नारायण भगवान् का चरित्र कह कर अब अध्याय समाप्ति तक क्रमपूर्वक उपकारानुसार सर्वावतारों के चरित्र संक्षेप में कहते हैं।

श्लोक—**हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मतत्त्वं दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः ।**
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्णस्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ।।१७।।

श्लोकार्थ—जो भगवान् अच्युत[1] हैं, उनने हँस का अवतार धारण किया, एवं दत्तात्रेय सनकादिक तथा हमारे पिता श्री ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया। ये अवतार भगवान् विष्णु ने जगत् के कल्याणार्थ ज्ञान शक्ति की कलाओं को प्रकट कर लिये हैं, उनने ही ज्ञान क्रिया शक्ति की कलाओं को प्रकट कर हयग्रीव अवतार धारण किया जिससे मधुकैटभ दैत्य का वध कर उससे वेद ले आये ।।१७।।

सुबोधिनी—तत्र क्रियापेक्षया ज्ञानस्य प्राधान्यं तत्रापि प्राथम्यं सनकादीनां तेन प्रथमं **हंसेति हंसः** चरित्रं **त्रयोदशाध्याये** स्पष्टं, तथान्यान् प्रमाणपर्यन्तानाहा**च्युत** इति, सवस्वरूपेष्वपि स्वरूपच्युतिः, **आनन्दरूप एव तत्तदाकारं प्रदर्शयतीत्यर्थः, अवददच्युत आत्मतत्त्वमिति** पूर्वार्धे सर्वत्रानुषङ्गः, **हंसदत्तात्रेयसनकुमार-ऋषभाज्ञानकलावतीर्णाः**, तृतीयपादस्य सर्वत्रावतारेष्वनुषङ्गः, फलवाक्यस्य **कलयेति**, ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या वा, **जगतामिति** त्रिलोकस्थितानां तत्तदुपकारसिद्ध्यर्थं बहुवचनं, अवतारास्त्रिविधाः सहजरूपाः समागताः शुद्धसत्त्वशरीर आविर्भूताः

---

१ अनेक प्रकार के उच्च नीच रूप धारण करते हुए भी जिसमें किसी प्रकार की क्षति (कमी) न हो।

स्वत एवेति च, तत्र पुरुषशरीरे नारायणः शरीरे च तदन्ये शरीरे कृष्णः **स्वतः** ऐक्यमभिमाने, आधाराधेयभावो निरभिमाने, **हंसस्त्वानन्दमयः** प्रियशिरस्त्वादिरूपः, हंसस्येव स्वरूपमस्यास्तीति **हंसस्वरूपी,** अतोस्य भिन्नतया निर्देशः, ततश्चत्वारः, **कुमार**स्यावेशेप्यवतारतुल्यत्वं, ऋषभे विशेषमाह **भगवान् पिता न** इति, षड्गुणैश्वर्याविर्भावो भगवन्मार्गप्रवर्तकश्च, "अजनाभं नामास्यासीद्वर्षदि" त्यैश्वर्यं परिपालनं **वीर्यं** "शतक्रत्व" इति **धर्मो** वा, "जनपद" इति**यशः**, "जयन्त्यामि" ति**श्रीः**, "नायं देह" इतिज्ञानं, "ग्रहगृहीत इवे" तिवैराग्यं, असमञ्जननं भगवन्मार्गः, **तेने**ति सहितस्तृतीयपादे-ग्रिमचतुर्षु ज्ञानप्राधान्येन वेदोद्धरणं हयग्रीवे मधुकैटभवधो वेदोद्धरणं च चरित्रं, **कर्णाभ्या**-मुत्पद्यमानौ शब्दमिन्द्रियमन्तर्भाव्योत्पन्नौ, तद्वधेन तदुदरात् स्वखे निवेश्या**हृताः श्रुतय** इत्यर्थः, **मधोरेव** ग्रहणं प्रकृते ज्ञानोपयोगाय. प्रपञ्चस्य **मधुत्वं, कीटानामपीन्द्रगोपादीनां भा** ययेति तामसी माया, तस्यामुत्पन्नः **कैटभः** प्रवाहपोषक इति तद्वधे मर्यादासिद्धिः ॥१७॥

व्याख्या—क्रिया से भी ज्ञान प्रधान है, उसमें भी सनकादि प्रथम हैं भगवान् हंस के चरित्र का स्पष्ट वर्णन १३ वें अध्याय में किया है, एवं अन्य अवतार भी प्रमाण पर्यन्त कहते हैं, भगवान् अच्युत हैं क्योंकि सर्व प्रकार के रूपों में भी स्वमूल स्वरूप की च्युति (क्षति या कमी) नहीं होती है, वह पूर्णता ही रहती है, सर्वत्र सर्वरूपों में आनन्दाकारी ही है अपने आनन्द को ही उस स्वरूप में दिखाते हैं, इसलिये कहा है कि अच्युत हैं कारण कि वह आत्मतत्व है, यों पूर्वार्ध में सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

हँस, दत्तात्रेय, सनत्कुमार और ऋषभ ये ४ ज्ञान कला के अवतार हैं। तृतीय पाद का सर्व अवतारों में अनुषंग है, कला दो प्रकार की है एक क्रिया कला (शक्ति) दूसरी ज्ञान कला, भगवान् जो भी अवतार ग्रहण करते हैं वे सर्व सकल जगत् के कल्याण के लिए ही हैं, अवतार तीन प्रकार के हैं १–सहजरूप, जिसका समागमन होता है, २–शुद्ध सतोगुण शरीर में आविर्भाव हो जाना, ३ स्वतः प्रकट होने वाले अवतार,।

इनमें से 'नारायण' पुरुष शरीर में प्रकट हुए हैं, इसी प्रकार स्वतः शरीर (शुद्ध सतोगुण) में भी अवतार होते हैं, उनसे अन्य दत्तात्रेय आदि अवतार शरीर रूप में अवतार लेते हैं, किन्तु श्री कृष्ण स्वतः (बिना शरीरादि के) आविर्भूत होते हैं, ऐक्य शरीर के अभिमान होने पर होता है, अर्थात् शुद्ध सतोगुणी शरीर का एवं अवतार का ऐक्याभिमान होता है यों कहने का आशय यह है कि जब भगवान् शुद्ध सतोगुण शरीर में प्रकट होते हैं तब अपने को तथा शरीर को पृथक् नहीं समझ एक ही मानते हैं।

आधार और आधेय भाव उसमें होता है जो निरभिमानी है, हंस तो आनन्दमय है उसके सिर आदि प्रिय रूप है भगवान् ने हंस रूप धारण किया है अतः हंसस्वरूपी कहलाते हैं। इसलिये इस अवतार का पृथक् निर्देश किया गया है।

इसके अनतर चार अन्य भी ज्ञान शक्ति के अवतार हैं, सनत्कुमार भी अवतार समान कहा गया है, क्योंकि उनने ज्ञान कला के आवेश से ज्ञानोपदेश किया है।

ऋषभ के सम्बन्ध में विशेष कहते हैं,— वह भगवान् ऋषभ हमारे पिता हैं इनमें षड्गुण ऐश्वर्य का आविर्भाव हुआ है, अतः आप भगवन्मार्ग के प्रवर्त्तक हुए हैं—आपने अजनाभ नाम वाले खण्ड में अपने ऐश्वर्य से वृष्टि की 'शतक्रत्वः' कई बार दुष्काल आदि में पालना की है जिससे

वीर्य धर्म प्रकट कर दिखाया है प्रजा में प्रेम होने से 'यश' तथा एक सौ पुत्रों को जन्म देने से 'श्री' गुण प्रकट किया है। आपने योगचर्यादि दिखाकर वैराग्य धर्म दिखाया है, ऐसे षड्गुणैश्वर्य युक्त ऋषभ जी ने ९ योगेश्वरों को जन्म दिया है जिससे आप भगवन्मार्ग के प्रवर्तक हैं विष्णु भगवान् इसी तरह अन्य अवतारों में भी ज्ञान एवं क्रिया शक्ति से अवतीर्ण हुए हैं। भगवान् का हयग्रीवावतार ज्ञान प्रधान है, जिससे ही आपने वेदों का उद्धार किया है–और मधु कैटभ दैत्य का वध किया है, दोनों वर्णों से शब्द (वेद) को अपने में छिपाकर प्रकट हुए अतः उन दोनों मधु और कैटभ दैत्यों का भगवान् ने वध किया इस मधु में दैत्यपना यह है कि जिस बाह्य प्रपंच में मधु (रस–आनन्द) नहीं है, उसमें मधु का भान करा कर जीवों को सत्य भगवद्रस से विमुख करना अतः इस दैत्य को मारकर जीवों को शिक्षा दी है कि प्रपंच में 'मधु' (रस) नहीं है इसमें आसक्ति न कीजिये, कैटभ दैत्य वह है जो संसार में जुगनु की तरह किंचित् प्रकाश दिखानेवाली आसुरी माया से उत्पन्न हुवा हो, यह कैटम दैत्य जन्म मरण रूप संसार का पोषण करता है, ऐसे प्रवाह के पोषक कैटभ दैत्य का वधहयग्रीव ने कर, दैवी जीवों में से संसार प्रवाह वर्धक वृत्ति को निकाल दिया है, तथा वैदिक धम की रक्षा की है अतः हयग्रीवावतार भी नारायणवत् ज्ञान क्रिया विशिष्ट अवतार है जिससे आपने लोकोपकार किया है ॥१७॥

श्लोक—**गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये क्रोडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।**
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—ऐच्छिक प्रलय के समय में मत्स्यावतार धारण कर मनु, इला, औषधि एवं वेदों की रक्षा की है, वराहावतार ले, हिरण्याक्ष दैत्य का वध कर भूमि को जल में से ले आये हैं, अमृतमंथनार्थ मंदरपर्वत समुद्र न चला जावे अतः कूर्मावतार ले के उस (मंदराचल) को अपनी पीठ पर स्थापित किया। इसी प्रभु ने हरि (दुःखहर्ता) रूप धारण कर गजेन्द्र को ग्राह से छुड़ाया ॥१८॥

सुबोधिनी—प्रतिपादमवतारानाह **द्वाभ्यां**, वेदोद्धरणसाम्यान् मत्स्य माह **गुप्त** इति, **अप्यय** ऐच्छिक प्रलये, **मनुरिला औषधयश्च, च**काराद् वेदा हयग्रीवासुरवधं कृत्वा आहृताः, बहुकालप्लवन इच्छायामयमवतारः, इच्छयैव प्रलयः अष्टमन्वन्तरानन्तरं **पुष्टित्वाद**दोषः, पृथिव्यग्रिमाधिकारी बीजानि च सम्पादनीयानि च पतन्तीति तथा कृताः, अस्मिन् मन्वन्तरे कृष्णावतारादलौकिकाधिकाराय बहुकालं तथा ज्ञानोपदेशः, भूमिसाम्ययात् तदनन्तरं **वराहः**, **दितिजो** हिरण्याक्षः, तृतीयस्कन्धषडध्यायकथात्र, अत एव भूम्युद्धारो गौणः, **अम्भस** इति न कृष्णावतारवत्, मग्नोद्धरण साम्यात्, तदनु **कूर्मः अमृतोन्मथनार्थं स्वपृष्ठ** इति कालकूटवञ्चनादिदोषसम्भवात् **पुष्टया त्व**दोषः, एवं देहाभिमानरहितान् चतुरोवतारान् निरूप्य चतुर्थपञ्चमषष्ठमन्वन्तवतारान् कार्यसमाप्तौ वैकुण्ठगतान् निरभिमानसाम्येन वैकुण्ठादागतान् चरित्रे णाह, **हरिर्गजेन्द्रं** मोचितवान् "प्रपन्नार्तमोचन" मित आरभ्य पञ्चसु चतुर्थमन्वन्तरावतारचरित्रत्वेन **गजेन्द्रस्य** स्पष्टत्वात् पञ्चमषष्ठयोरग्रिमचरित्रमिति ज्ञायते, ग्राहस्य वैराग्यहेतुत्वादप्यादौ निर्देशः, **प्रपन्न**मिति, "सङ्ग्रामे च प्रपन्नाना" मितिवत्, **पुष्टित्वाददोषः**, अमोचयदितिवक्तव्ये सर्वकर्तृत्वा "**दमुञ्चदि**' त्याह, प्रपन्नमोचने "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चे" ति विरुध्येतेत्यत आहार्तमिति, न हि त ओदनभूता आर्ताः ॥१८॥

व्याख्या—जैसे हयग्रीव अवतार में वेदों का उद्धार किया वैसे ही मत्स्यावतार में भी वेदोद्धार करने से साम्य है अष्टम मन्वन्तरानन्तर जब ऐच्छिक प्रलय हुआ तब भगवान् ने देखा कि पृथ्वी, अग्रिम अधिकारी और बीज आदि नष्ट हो जायेंगे अतः इनकी रक्षा अवश्य कर्त्तव्य है यों विचारकर ही मनु, इला, औषधियाँ तथा वेदों की रक्षार्थ भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया, यह प्रलय ऐच्छिक होने से बहुत समय तक चलने वाला है, अतः यह अवतार भी वैसा ही हैं। अष्टम मन्वन्तर के अनन्तर यह प्रलय हुआ है इसलिये इसमें जो कार्य (लीला) हुआ है, वह पुष्टि है जिससे इसमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं है। कृष्णावतार से इस मन्वन्तर में अलौकिक (अन्य प्रकार का) अधिकार होने से बहुत समय तक ज्ञानोपदेश हुआ है, भूमि के उद्धार की समानता से इसके बाद वराहावतार लिया है, हिरण्याक्ष का जन्म दिति से हुआ है अतः दैत्य है, यहाँ तृतीय स्कन्ध के छठे अध्याय की कथा कही है अतएव यहाँ की भूमि उद्धार लीला गौण है जैसे श्रीकृष्ण ने भूमि का राक्षसों के दुःख से उद्धार किया है वैसे यहाँ उद्धार नहीं है यहाँ तो केवल जल में मग्न भूमि को निकाला है, इसके बाद अमृतमन्थन का कार्य सिद्ध हो तदर्थं कूर्मावतार ग्रहण कर पृष्ठ (पीठ) पर मन्दराचल को धारण किया है, पृष्ठ भाग अधर्म का है इसीलिये उस पर धारण कर दिखाया है कि इस लीला में काल-कूट वचनादि दोष होंगे, भगवान् में पुष्टि है (अनुग्रह धर्म है) अतः दोष नहीं, अनुग्रह द्वारा धर्म पक्ष की रक्षा की है।

देहाभिमान रहित ४ अवतारों का निरूपण करने के अनन्तर ४-५-६ मन्वन्तर के अवतारों का वर्णन करते हैं कि जैसे वे अभिमान रहित वैकुण्ठ से आकर अपने २ कार्य (लीला) पूर्ण कर फिर वैकुण्ठ पधार गये।

उन अवतारों में से चतुर्थी मन्वन्तर का एक अवतार 'हरि' का है, जिसने वैकुण्ठ से पधार कर ग्राह से युद्ध करते हुए पीड़ा पाये हुए शरणागत गजेन्द्र की रक्षा की है और ग्राह का वध किया है, ग्राह वैराग्य का हेतु होने से प्रथम कहा गया है, जैसे महाभारत के युद्ध में शरणागतों की रक्षा की वैसे ही यहाँ भी गजेन्द्र की रक्षा की हैं भगवान् पुष्टिस्थ हैं अतः यों करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है, 'अमोचयत्' क्रिया कहनी चाहिये थी जिसका अर्थ होता है 'छुड़ाया' यों न कहकर 'अमुञ्चत्' क्रिया देकर भगवान् का सर्व कर्त्तृत्व दिखाया है, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इस श्रुति का भी विरोध नहीं है कारण कि गजेन्द्र आर्त्त था आर्त्त ओदन नहीं होता है॥१८॥

श्लोक—संस्तुन्वतोब्धिपतितान् श्रमणानृषींश्च इन्द्रं च वृत्रवधतम्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रियोसुरगृहे पिहिता अनाथा जघ्नेसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

श्लोकार्थ—कल्पान्तर में गरुड़ की सवारी करते हुए समुद्र में गिरे हुए श्रमण तथा ऋषियों का वैकुण्ठ भगवान् ने उद्धार किया, क्योंकि वे अतिशय दुःखित होने से भगवान् की शरण में गये थे। शरणागत का उद्धार करना भगवान् का व्रत है। ब्रह्म हत्या के पाप से इन्द्र को मुक्त किया, देव स्त्रियों को जिनको दैत्यों ने भोग के लिए कैद कर रखा था, उनको उस आपत्ति से छुड़ाया था, नृसिंहावतार धारण कर प्रह्लाद की रक्षा की तथा हिरण्यकश्यप को मारा॥१९॥

सुबोधिनी—**समिति**, पञ्चममन्वन्तरावतार-स्त्रीन् मोचितवान्, उत्तरपूर्वकाण्डस्थानिन्द्रं च, **अब्धिपतितानिति** कल्पान्तरत्वात् तिरोहितं, **कश्यपेध्माहरणसमये**, गोमूत्रपतितानिति केचित्, गजेन्द्र इव तेषामवस्था, गरुडेन जीयमानानां वा समुद्रे पातः, **चकारेण** भेदः स्तोत्रकरणं च भिन्नतया समागत्यर्षीनुद्धृतवानिति, इन्द्रश्च तेनैवोद्धृत इति पुनश्चकारः, **वृत्रवधे** प्रतीकारा-भावादासुरगतिं प्राप्तः, सोऽप्यागत्योद्धृत इति ज्ञातव्यं, मन्वन्तरावतारेमृतं पाययित्वा गते बलि-नेन्द्रासने गृहीते देवेषु लीनेषु देवस्त्रियोऽसुरैः स्व स्वगृहे गुप्ताः स्थापितास्ताश्च तत उद्धृतवानित्याह **देवस्त्रिय** इति, एवं सदोषनिर्दोषजलात् तमसस्त दुपभोग्यत्वाच्च चत्वार उद्धृताः, निरभिमानिनं **नृसिंह**माह, पूर्वत्र तथात्वाय हिरण्कशिपुपीडा सप्तमस्कन्धोक्तानुसन्धेया "**सतामभयाय** न केवलं" **प्रह्लादस्य मर्यादास्थत्वात्** ।।१६।।

व्याख्या—पञ्चममन्वन्तर में वैकुण्ठ (भगवान्) ने तीन का उद्धार किया है जैसे कि, वेद पूर्व तथा उत्तर काण्ड में स्थित, समुद्र में गिरे हुए श्रमणों तथा ऋषियों का, एवं इन्द्र का वैकुण्ठ (भगवान्) ने मोक्ष किया है समुद्र में पड़े हुए श्रमणों तथा ऋषि मन्त्रद्दष्टा हैं यह कल्पान्तर का विषय है, इनका यह मन्त्रद्दष्टत्व अब तिरोहित हो गया है। (किन्हीं का कहना है कि कश्यप ऋषि यज्ञार्थ समिधाओं को लेने के लिए जा रहे थे तो उनने देखा कि श्रमणों तथा ऋषि गो मूत्र में पड़े हैं जिसको देखकर इन्द्र उनका उपहास (हँसी) करता था यह देख इस विपत्ति से वैकुण्ठ भगवान् ने इनको छुड़ाया। श्रमणों तथा ऋषियों दोनों पृथक्-पृथक हैं इनका वैकुण्ठ भगवान् ने पृथक् प्रकार से उद्धार किया, वृत्रासुर वध के समय इन्द्र को लगी हुई ब्रह्महत्या का प्रतिकार न हो सका जिससे वह तामसी (आसुरी) योनि को प्राप्त हुआ, उसका भी उद्धार वैकुण्ठ भगवान् ने किया है, जिसके लिए मूल श्लोक में 'च' शब्द दुबारा दिया है।

बलि राजा ने जब फिर इन्द्रासन लिया तब मदमत्त असुरों ने अपना असुर धर्म प्रकट करते हुए देव स्त्रियों को अपने भोगार्थ कैद कर रखा, जिन अनाथाओं को भी दयालु भगवान् ने इस आपदा से छुड़ाया, इसी प्रकार चार का उद्धार अजितभगवान् ने किया है। निरभिमानी नृसिंह भगवान् ने सत्पुरुषों को निर्भय करने के लिये ही अवतार लिया है, न कि केवल प्रह्लाद के लिए अवतार लिया है, कारण कि प्रहलाद तो मर्यादास्थ भक्त हैं ।।१६।।

श्लोक—देवासुरे च युधि दैत्यपतीन् सुरार्थे हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां याच्ञाछलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ।।२०।।

श्लोकार्थ—सकल मन्वन्तरों में जब जब देव तथा असुरों का परस्पर संग्राम हुआ है तब तब अपने कलावतारों से देवों के हितार्थ दैत्यपतिओं का वध कर त्रिभुवन के लोकों की रक्षा की है ।।२०।।

सुबोधिनी—मन्वन्तरावतारानाहार्धेन **देवासुरे चेति**, सामान्यतः सर्वान्, विशेषतः पुनरर्धेन **वामनं**, सर्वेषु मन्वन्तरावतारेषु **युद्धे दैत्यान् हत्वा** पुष्टिस्थत्वाद् देवार्थे त्रिभुवनरक्षणं चरित्रं **चकारादन्येष्वपि** सङ्ग्रामेषु रञ्जितनयैरिव देवावध्यत्वज्ञापनाय **पतीनिति**, **मन्वन्तरेषु** भिन्नता चतुर्दशत्वं च ज्ञापितं **कलाभिः** षड्भिः, मन्वन्तरावतारेभ्यो विलक्षणं रामनचरित्रमिति भिन्नप्रक्रमायाथशब्दः, **इमामिति**, सप्तममन्वन्तरे यस्तु **मत्स्यकृतः** प्रलयः स कल्पान्तरे, बलिना स्वर्गे **हृते** वा, सर्वेषां बीजरूपेण स्थितिः पश्चादुद्गम इति मन्वन्तरारम्भोपि तदैव, बीजरूपधर्मविशात्, पूर्ववत् कथा, हरणांशः स्वतो याच्ञांशो दाने, **पुष्टित्वाददोषः**, मातृनाम्नासामर्थ्य स्वतः, **वामनस्यैव** वृद्धया त्रिविक्रमत्वाद् **वामन** इत्युक्तमवतारनाम वा, न स्वरूपेण हृता किन्तु बलिसम्बन्धेन, स्वत्वत्याजने याच्ञैव हेतुः, याच्ञा मूलकत्वाद् दानस्य स्वार्थत्वाभावाच् **छलं**, "**त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्ट**" इत्यत्र ब्रह्माण्ड तदावरणानीत्युक्तं, **अदित्यास्तपसा सन्तुष्टः**, अस्मिन् मन्वन्तरे केवलं पुरन्दरस्यैव न प्रधान्यं पदत्रयस्य दानाभावादि**मामित्युक्तम्** ।।२०।।

व्याख्या—आधे श्लोक से मन्वन्तर के अवतारों को कहते हैं, सामान्यतः सबको, विशेष प्रकार से फिर आधे श्लोक से वामनावतार का वर्णन करते हैं। सर्वमन्वन्तरों के अवतारों द्वारा युद्ध में दैत्यों को मारा है यह चरित्र देवों के लिए त्रिभुवन के लोकों की रक्षा की है, क्योंकि आप पुष्टिस्थ (अनुग्रह कर रहे) हैं 'च' कहकर यह बताया है कि अन्य संग्रामों में भी रञ्जनता को दिखाने के लिए और देवों को अवध्य (न मारे जाना) जताने के वास्ते 'पतीन्' कहा, अर्थात् दैत्यों के पतिओं को मारा है, प्रत्येक मन्वन्तर की भिन्नता दिखाने के लिए चतुर्दशत्व कहा और जताया है कि छः लीलाओं से यह लीला कार्य किया है, मन्वन्तर के अवतारों मे वामन चरित्र की विलक्षणता दिखाने के लिए ही पृथक् कहा है, 'अथ' शब्द से इसका प्रारम्भ ही भिन्न किया है।

इस पृथ्वी को सातवें मन्वन्तर में, जो मत्स्यकृत प्रलय है वह कालान्तर में है, अथवा बलि ने जब स्वर्ग ले लिया था, उस समय सबकी बीजरूप में स्थिति थी बाद में प्राकट्य हुआ है, इस प्रकार मन्वन्तर का आरम्भ भी बीजरूप धर्म के आवेश से तब ही हुआ है, कथा पूर्ववत् ही है, हरणांश स्वतः है दान के कारण याचना की है, इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रभु 'पुष्टिस्थ' हैं देवों में स्वतः स्वर्ग ले लेने की सामर्थ्य नहीं है इसलिये उनको देव न कह कर अदिति के पुत्र, कहा है, वामन का ही बढ़ जाने से त्रिविक्रमत्व स्पष्ट देखा गया, 'वामन' वह तो अवतार के कारण नाम है प्रभु ने पृथ्वी, स्वरूप से हरण नहीं की है किन्तु बलि का सम्बन्ध होने से, आपने तो अपना इसमें स्वार्थ ही नहीं रखा है, जिसमें याचना ही हेतु है, यह याचना छल है क्योंकि दान अपने लिये लिया जाता है। अतः अपने लिये ही याचना की जाती है, जहां इस प्रकार याचना नहीं, तो वह याचना 'छल' कही जाती है।

'त्रिभिः क्रमैः (पदैः) असन्तुष्टः' इस उक्ति मे ब्रह्माण्ड और उसके आवरण कहे हैं, अदिति की तपस्या से भगवान् प्रसन्न हुए हैं, इस मन्वन्तर में केवल पुरन्दर की ही प्रधानता नहीं है, तीन पद के दान के अभाव से अतः 'इमां' कहकर समग्र पृथ्वी कही है ।।२०।।

श्लोक—निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ।।२१।।

श्लोकार्थ—हैहय नाम के क्षत्रिय वंश का नाश करने के लिए भगवान् ने भार्ग-वाग्नीरूप परशुरामावतार धारण किया जिसमें २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय की है फिर रामचन्द्रजी का अवतार धारण कर समुद्र पर सेतु को अलौकिक प्रकार से बांधा राक्षसों के साथ लंका सहित रावण का वध किया, ऐसे लोक में निर्मल यश वाले सीतापति की सर्वत्र जय है ॥२१॥

सुबोधिनी—रामावतारमाह **द्विरूपेण**, **तु-**शब्दादयमावेश इति केचित्, "**क्षत्रक्षयाये**" त्यत्रावतारप्रयोजनं स्पष्टं, भीतनिलीनपलायितादि-परित्यागादेकविंशतिवारमुद्गमः, तत्रापि पृथ्वी निःकण्टका कर्तव्येत्युद्यमः, **पुष्टिमार्गे स्थिता न मर्यादापालका** इति **मारणं दत्तात्रेयोपि पुष्टिस्थः**, **रामौ तु मर्यादायाः**, ब्रह्मतेजसा क्षत्रिया उपसंहर्तुं शक्याः, भगवत्तेजसा वा, तत्र स्वयं भगवान् पालत्वा क्षत्रियान् न हन्ति अत आह **भार्गवाग्निरिति** इध्मसाम्यादेकविंशत्वं, देवलोकानां वा तावत्त्वाद् रक्षार्थमवतीर्णस्तावद्वारं, ततः परं भगवानवत-रिष्यतीतिभावः, गुणत्रयकार्यत्वात् त्रेधा विभागे सप्तधा भवति, पद्ये "सहस्रजिच्छतजिद्धैहय" इति यादवानामपि मध्ये हैहयोत्यमर्यादस्तस्य कुल-नाशार्थमित्यग्निप्राकट्यार्थं वेणुस्थानीयतोक्ताः मूलभूततेजो भगवद्रूपं भृगौ स्थापितमिति तदव-तीर्णभगवदवतारत्वेनोच्यते परशुरामो "वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्य" दितिसिद्धान्तः एवं वैलक्षण्यात् तुशब्दः, ये तु रूपकमाहुलौकिकास्ते, स इति रामः शब्दतो गृहीतः, रामोपि वैश्वनरा-वतार इत्यन्ये, तस्य चरित्रं पञ्चविधं, अन्या लीला समुद्रबन्धनं रावणवधः **सीतापतित्वं**, सर्वोत्कर्षेण सदास्थितिः, चरित्रमात्रस्य पापना-शकत्वमिति, तत्र समुद्रबन्धनमलौकिकं, पुरोदाह-राक्षसवधसहितरावणवधोजेयत्वादमर्यादः, मुख्य-पुष्टिः **सीतापति**त्वं, "म वै पतिः स्या" दितिन्याये-न च, **जयति**ती स्वस्य विकाराद्यभावेन सर्वदो-षविवर्जितत्वं, अन्यस्यापि दोषदूरीकरणं चरित्रेण ॥२१॥

व्याख्या—श्री राम का दो स्वरूपों में अवतार हुआ है, जिसका वर्णन करते हैं, 'तु' शब्द से कितने ही विद्वान् यह आशय निकालते हैं कि 'परशुराम' भगवान् का आवेशावतार है, इस अवतार के प्राकट्य का कारण 'निःक्षत्रियां' पद से स्पष्ट कह दिया है। वे क्षत्रिय है हय वंश के थे परशुराम उन अधर्मी क्षत्रियों के नाशार्थ २१ बार प्रकटे हैं, क्योंकि वे कभी भय के मारे डर जाते, कभी छिप जाते और कभी भाग जाते, तो उनको मारने नहीं जब ऐसी क्रिया न करते तब ही मारते, ऐसे क्षत्रियों से पृथ्वी को निष्कंटक करणार्थ परशुराम ने उद्यम किया है, जब प्रभु अनुग्रह करते हैं तब मर्यादा का विचार नहीं करने हैं। दत्तात्रेय पुष्टिस्थ स्वरूप हैं, परशुराम तथा रामचन्द्र दोनों ने मर्यादावतार होने से मर्यादा पालक हैं। अतः वे क्षत्रिय वध कर नहीं सकते, इसलिये भार्गवाग्नि द्वारा क्षत्रिय वध किया है। २१ बार कहने का आशय यह है यज्ञ की समिधाएं २१ होती हैं, अतः यहां क्षत्रियनाश २१ बार हुआ है, अथवा देवताओं की संख्या २१ है अतः परशुराम ने २१ बार ब्रह्म तेज की रक्षा की है।

यादवों में हैहय कुल शतजित् (१०० को साथ में जीतने वाला प्रत्येक था) तथा सहस्त्राजित (प्रत्येक हैहय १००० को जीतने वाला था) अतः वे इस कारण मर्यादोल्लंघन कर जाते थे, जिसमे

भार्गवाग्नि प्राकट्य द्वारा वह वंश नाश हुआ, अर्थात् भृगु में जो भगवत्तेज था वह परशुराम रूप से प्रकट होकर इस वंश के नाश का कारण बना, इस वैष्णव तेज से कार्य होने पर आप परशुराम स्वतः शान्त हो गये जो इसको रूपक मानते हैं, वे लौकिक हैं।

श्री राम शब्द से दोनों को एक समझते हैं और कितनेक श्रीरामचन्द्र को वैश्वानरावतार अग्निरूप मानते हैं—अस्तु श्री रामचन्द्र के चरित्र ५ प्रकार के हैं– एवं अन्य लीलाएँ भी हैं १–समुद्र बन्धन, २–रावणवध, ३–सीतापतित्व, ४–सर्व से उत्कृष्ट स्थिति, ५–स्वचरित्रों से सर्व के सर्व प्रकार के पाप नाश करना।

१–सेतु (पुल) द्वारा समुद्र बांधना अलौकिकता प्रकट करने वाला चरित्र है।

२–लंका सहित रावण एवं राक्षसों का वध यह चरित्र मर्यादा से अधिक है, क्योंकि इससे रामचन्द्र का अजेयत्व प्रकट होता है।

३–सीतापतित्व से आपने अपनी मर्यादा तथा अपना सर्व पतित्व (स्वामिपन) सिद्ध किया है, एवं अपना पुष्टि बल भी प्रकट किया है, पति वह जो भयरहित हो जिसके आश्रय से जीवादि निर्भय हुए हैं, कलादि भय से भी छूट गये हैं।

४–आपकी स्थिति सर्व प्रकार से सदैव सबसे सर्वोत्कृष्ट रही है।

५–आपके चरित्र के गुणगान से सर्व के पापादि नष्ट होते हैं, आप सर्वदोष रहित हैं अतः आप निर्दोष के चरित्र पतित पावन हैं ॥२१॥

श्लोक – **भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।**
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतेतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥२२॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी का भार उतारने के लिए अजन्मा भगवान् कृष्ण यादवों में प्रकट हो के, देव भी जो न कर सकें, वैसे कार्य करेंगे, भगवान् बुद्धावतार धारणकर जो अयोग्य यज्ञ कर रहे हैं उनकी यज्ञ में अश्रद्धा पैदा कराने के लिए वेद निन्दा करेंगे, जिससे वे आसुरी अनाधिकारी यज्ञादि वैदिक कर्म त्याग देंगे, अनन्तर कलियुग में म्लेच्छ प्रायः शूद्र राजाओं का नाश करेंगे (जिससे पुनः धर्म युग प्रवृत्त होगा) ॥२२॥

सुबोधिनी—शिष्टांस्त्रीनवतारानाह, कृष्णे सर्वावतारापेक्षया विशेषमाह, **अजन्मा जात** इति, गुणातीतोप्याविर्भूत इत्यर्थः, गुणवान् कदाचिज् जायेतापि, ननु बीजप्रयोजनाभावात् न कस्यचिदुत्पत्तिरित्यत आह **यदुषु भरावतरणायेति, यदुषु** नवमस्कन्धे भक्तिरुक्ता, तद्बीजं मर्दनक्लेशभारहानायेति निमित्तं, दशमस्कन्धे प्रपञ्चितमेतत्, गुणातीतत्वे हेतुः **सुरैरपि दुःकराणीति** अपिशब्दात् निर्गुणभिर्गुणिनामकार्यं करोतीति, अनेन चरित्राण्यनन्तानीति सूचितं, **बुद्धावतारमाह वादैर्विमोहयतीति, वादैरिति** बहवो वादाः साम्प्रतं सृष्टाः, अनर्हेषु यज्ञो मा गच्छत्विति,

मतिव्यामोहव्यतिरेकेण न दृढप्रतीतिर्भवतीति, **वादाः, विशेषेण मोहो** विपरीते धर्मबुद्धिः, **यज्ञकृते** यज्ञार्थं स्वयमन्तर्हितो भगवान् यज्ञानन्तर्भावयितुमित्यर्थः, कोयं पुरुषार्थ इत्याशङ्क्याहा**तदर्हान्** यज्ञानर्हान्, कलौ स्त्रीशुद्ध्यभावे कुण्डगोलकबाहुल्ये **वादैरेव** तन्निश्चयः, **जारजातकस्यैव वेदवेदार्थयोरन्यथाबुद्धि**रित्यर्थः, "त्रैगुण्यविषया" इति योगशास्त्रं, योगिनस्तु मर्यादां प्रवाहनिवृत्तय आहुर्गुणमयान् पुरस्कृत्य निर्गुणान् करोतीत्यर्थः, अत एवायमेवार्थो "यावानि" त्यत्र विवृतः, अतः परीक्षार्थं **वेदनिन्देति** सर्वं सुस्थं, **कल्किचरित्रमाह शूद्रानिति**, क्षितिभोक्तृत्वमधमानां मा भूदिति वर्णाः कालव्यूह्यसत्त्वादिकृनास्ते क्रमशः क्षीयमाणाः शुद्धतमसा शूद्रपर्यवसायिनो भवन्ति, प्रान्तभागे कलौ हननम् ॥२२॥

व्याख्या—इस श्लोक में शेष तीन अवतारों का वर्णन करते हैं, कृष्ण में सर्व अवतारों मे विशेषता बताते हैं। एक वे जन्मे होकर भी प्रकट हुए हैं, गुण वाले कभी जन्म भी ले लेवें परन्तु ये निर्गुण अर्थात् गुणातीत होते हुए भी आविर्भूत हुए हैं, बीज एवं प्रयोजन के सिवाय किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है, जन्म लेने का बीज कर्म है। कृष्ण के तो कर्म रूप बीज है ही नहीं फिर पैदा कैसे हुए ? एवं जगत् में कोई अपना प्रयोजन नहीं फिर भी प्रकट हुए सो क्यों ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि यादव भक्त हैं इसका वर्णन नवम स्कन्ध में हुआ है उनकी भक्ति 'बीज' है और पृथ्वी अत्याचार से पीड़ित दुःखी है। दुष्ट नृपतियों के भार से दबी हुई है, ऐसी भूमि के भार का उतारना प्रभु प्राकट्य में निमित्तकारण (प्रयोजन) है—यह सब दशम स्कन्ध में कहा है, आपके गुणातीतपन में कारण यह है कि आपने वे चरित्र किये हैं जो देवता भी न कर सके, जो कार्य गुणावतार न कर सके वे कार्य तिर्यग योनियों में प्रकट होके कर दिखाये हैं, इससे यह सूचित किया है कि, आपके चरित्र अनन्त हैं।

बुद्धावतार का वर्णन करते हैं—कि वह बुद्ध भगवान् अनेक वादों मे ऐसे चरित्र (उपदेश) करेंगे जैसे अयोग्य अनधिकारी यज्ञ न करें, उन वादों के द्वारा आसुरी जीवों की बुद्धि जो संसर्ग से यज्ञ में लगी थी वह बदल कर विपरीत में (अधर्म) दृढ़ होने लगी। यज्ञभगवान् स्वेच्छा से अन्तर्हित हो गये हैं। बुद्ध भगवान् ने यह कैसा पुरुषार्थ (धर्म कार्य) किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि कलियुग में मनुष्य यज्ञ के योग्य न रहेंगे, क्योंकि अयोग्य पुरुष का स्त्रियों से विवाह होने से बहुत करके पूजा कुण्ड, गोलक आदि वर्णसङ्कर होगी, इनका निश्चय शास्त्रों के द्वारा (वाद द्वारा) ही हो सकता है, वेद और वेदार्थ में वर्ण सङ्कर की ही अन्यथा बुद्धि होती है, वे वर्ण सङ्कर यज्ञ के अधिकारी नहीं होते तो भी यज्ञ करेंगे जिसके, लिये भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार का उपदेश देकर उनको इस से रोका है—

'त्रैगुण्य विषयावेशः' यह योगशास्त्र है, अतः योगीजन तो प्रवाह से निकालने के लिए मर्यादा कहते हैं जिसका सारांश यह है कि गुणमयों को आगे कर उनके द्वारा सबको निर्गुण की तरफ खींच लेते हैं—इसलिये गीता के यावनार्थ श्लोक में इसको विस्तार से समझाया है, इसलिये बुद्ध ने परीक्षा के लिए वेद की निन्दा की है, अर्थात् जो जारजात न होंगे वे तो वेद को 'वेदो नारायणः साक्षात्' के अनुसार भगवद्रूप मानेंगे, शेष जो वर्णसङ्कर हैं वे ही इन वादों से वेद धर्म से वहिर्मुख होंगे।

कल्कि अवतार कहते हैं—अधर्मी म्लेच्छा प्राय: शुद्र राजा पृथ्वी का उपभोग न करें, तदर्थं भगवान् कल्कि अवतार लेकर शूद्र सम दुष्ट राजाओं का वध करेंगे, कलि प्रभाव से ब्राह्मणादि वर्ण सत्व आदि गुण भी क्रमश: नाश होंगे ऐसी दशा देख भगवान् पुन: उनकी स्थापना के लिये कल्कि अवतार द्वारा दुष्ट राजाओं का नाश कर जय जयकार करेंगे ॥२२॥

श्लोक—**एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।**

भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे महाभुज ! जगत् के स्वामी भगवान् के इस प्रकार के कर्म एव जन्म अनेक हैं और उनका यश भी अनेक प्रकार से वर्णित है ॥२३॥

सुबोधिनी—उपसंहरन्त्येवंविधानीति, एवं सिद्धानि धर्मसंस्थापनप्रकाराणि, **अनादिसिद्धो धर्मो जन्मना स्थिरो भवति कर्मणा चोपघात-निवृत्तिः, धर्मो हि जगत उत्तम्भकः, धर्मे रक्षिते रक्षितं जगत्**, "स वै पतिः स्या" दितिन्यायाज् **जगत्पतिः** प्रकारेपि बाहुल्यार्थमाह **भूरीणीति**, तत्र हेतुर्भू**रियशस** इति धर्मार्थकाममोक्षभक्ति-प्रपत्त्यादिपुरुषार्थेषु स्थापकत्वेन **भूरीणि यशांसि** यस्य, तानि न केवलं गुप्तानि किन्तु **वर्णितानि** कविभिरित्यर्थात्, **महाभुजेति** क्रियाशक्तिप्राधा-न्यादुक्तविश्वासः ॥२३॥

व्याख्या—इस प्रकार भगवान् के चरित्रों का वर्णन कर अब उपसंहार करते हैं -

भगवच्चरित्र इस प्रकार धर्मस्थापक हैं, धर्म अनादि सिद्ध है तो भी वह भगवान् के चरित्रों से दृढ़ होता है । प्रभु चरित्रों से धर्मनाशक प्रहारों की निवृत्ति हो जाती है धर्म ही जगत् का रक्षक है, उस धर्म की रक्षा से स्वयं जगत् की रक्षा हो जाती है, पति वह हो सकता है जो स्वयं अकुतोभय (निर्भय) हो, जिससे वह सर्वदा सर्व प्रकार रक्षा करने में समर्थ होता है, ऐसा पति भगवान् ही है, जो कभी किसी से न डरकर धर्म रक्षार्थ विविध योनियों में प्रकट हो धर्म रक्षा द्वारा जगत् की रक्षा करते हैं, अत: 'जगत्पतिः' कहे गये हैं, धर्मादिचारों पुरुषार्थ एवं भक्ति शरणादि के स्थापक होने से आपका यश तथा आपकी आनन्दप्रद लीलाओं द्वारा रसदान आदि का महान् यश कवियों ने स्पष्ट वर्णन किया है । हे महाभुज ! विशेषण से यह बताया है कि आपमें क्रियाशक्ति का प्राधान्य है अत: इन चरित्रों में आपका विश्वास है ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव मुक्ति) प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

चतुर्थ अध्याय में हरि लीला वर्णित सार

नारायण-अवतार-वर्णन राग बिलावल

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो। हरि चरनारबिंद उर धरौ ॥
नारायन जब भय अवतार। कहौं सो कथा सुनो चित्त धार ॥
धर्म पिता अरु मूरति माइ। भए नारायन सुत तेहि आइ ॥
बदरिकास्रम रहे पुनि जाइ। जोगऽभ्यास समाधि लगाइ ॥
उनके और कामना नाहिं। सुख पावै त्रिभुवन मन माहिं ॥
सुरपति देखत गयो डराइ। काम सैन सँग दियो पठाइ ॥
रितु बसंत फूली फुलवाइ। मंद, सुगंध बयार बहाइ ॥
करत गान गंधर्व सुहाइ। नृत्य भजो अप्सरा दिखाइ ॥
काम बान पाँचौ संधाने। नारायन ते मनहिं न आने ॥
तब तिन सबनि तहाँ भय पायौ। कह्यौ इन्द्र हमैं कहाँ पठायौ ॥
तब नारायन आँखि उघारी। उन सबको कीन्ही मनुहारी ॥
तुव कछु मन मैं भय मति करौ। अभय हमारे आस्रम करौ ॥
दोष तुम्हारौ है कछु नाहिं। तुम्हैं पठायौ है सुर-नाह ॥
इंद्रहु कौ कछु दूषन नाहिं। राज हेत डरपत मन माहिं ॥
उन कर जोरि बिनै उच्चारी। नारायन हरि-हरि बनवारी ॥
उधरत लोग तुम्हारे नाम। क्यों करि मोह सकै तुम्हैं काम ॥
जे नर सेवा न तुम्हरी करैं। अरु संसार मनोरथ धरैं ॥
तिन को अंतराइ हम करैं। ते सब अहनिसि हमसौं डरैं ॥
कबहूँ पुत्र-मोह उपजावैं। कबहूँ तिय के रूप लुभावैं ॥
भूख, प्यास ह्वै कबहुँ सँतापैं। ऐसी विधि हम उनकौं व्यापैं ॥
जो कोउ तुम्हारैं सरनमि आवै। सुख संसार सकल बिसरावै ॥
तासौं हमरो कछु न बसाइ। हमैं जीति सो तुम पै जाइ ॥
सहस अपसरा सुन्दर रूप। एक एक तैं अधिक अनूप ॥
नारायन तहँ परगट करी। इंद्र अपसरा सोभा हरी ॥
काम देखि चकित ह्वै गयौ। रूप दीख हम इनको नयौ ॥
गुन जेते सबही इन माहिं। इन सम इंद्र लोक कोउ नाहिं ॥
तब नारायन आज्ञा करी। इननैं लेहु एक सुंदरी ॥
नाम उर्वसो उन एक लीनी। पुनि प्रनाम हरि कौं तिन कीनि ॥
सो सुरपति को दीन्ही जाय। कह्यो सकल ब्रत्तांत सुनाइ ॥
यौं भयौ नारायन अवतार। सूर कह्यौ भागवतऽनुसार ॥

॥३॥४९३०॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी-टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

जीव-मुक्ति (ब्रह्मभाव) प्रकरण

"अध्याय—" ५

भक्तिहीन पुरुषों की गति और भगवान् की पूजाविधि का वर्णन

अवतरणिका—कलियुग में भगवत्सेवा, भगवत्पूजा एवं भगवन्नाम संकीर्तन का उपदेश सब प्राणियों के लिए किया गया है अर्थात् भगवद्भक्तिरूप जो विद्या का पञ्चम पर्व है जो देहाध्यासरूप अविद्या का नाशक है उसका निरूपण यहाँ किया गया है। यहाँ जीवन्मुक्ति में ब्रह्मभावरूप प्रथम अवान्तर प्रकरण समाप्त होता है। भगवद्भजन का जो विरोधी हो ऐसे भ्रान्तवाद से दूर रहना और शुद्ध होकर भगवद्देश में रहकर अलौकिक गुणगान करते हुए भगवान् कृष्ण का ही भजन करना। यह कलियुग सब युगों से उत्कृष्ट है। सत्ययुग में ध्यान से जो फल मिलता था, त्रेता में यज्ञ से जो फल मिलता था एवं द्वापर में पूजन करने से जो फल मिलता था वह फल कलियुग में केवल हरिनाम संकीर्तन से ही प्राप्त होता है। अनन्य भगवद्भक्त के लिए नित्य नैमित्तिक श्राद्ध तर्पणादि धर्म का नियन्त्रण नहीं है। भगवद्भक्त को अन्य देवताओं में से अपने मन की वृत्ति को हटाकर अपना आत्मभाव भगवान् के विषय में ही रखना चाहिये और अनन्यरूप से भगवान् का ही आश्रय रखना चाहिये। ऐसा करने से वह भक्त, देव, ऋषि, पितर, आप्त और मनुष्य इन पाञ्च ऋणों से मुक्त हो जाता है।

कारिका—**वक्ता श्रोता तथा वाच्यं त्रिभिरुक्तं विशेषतः ।**
लोके सर्वत्राप्रवृत्तौ प्रामाण्यं कुण्ठितं भवेत् ॥१॥

अतस्तत्साधकाध्यायश्चतुर्थोयमुदाहृतः ।
देशकालस्वभावनां निर्धारक उदाहृतः ॥२॥

अस्यार्थो भगवद्देशे स्थित्वालौकिकगीतितः ।
निराकृत्यान्यथावादान् सुशुद्धः कृष्णं भजेदिति ॥३॥

कारिकार्थ—वक्ता, श्रोता और जो विषय कहने योग्य है ये तीन ही विशेषकर ३ अध्याय १-२-३ में कहे हैं, यदि इन तीनों की प्रवृत्ति (प्रचार) सर्वत्र न होवे तो ये तीनों ही कुण्ठित (निकम्मे) बन जाएँ, ये कुण्ठित न हो इनकी सर्वत्र प्रवृत्ति होती रहे तदर्थ चतुर्थ अध्याय कहा है, इस चौथे अध्याय में वसुदेव नारद संवाद, देश, काल तथा स्वभाव का निर्णय आदि विषय स्पष्ट वर्णन किये हैं—

जिसका तात्पर्य यह है कि, मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छावाले) मनुष्य को चाहिये कि भगवद्देश, पवित्र वन आदि में रहकर अलौकिक भगवद् गुणानुवाद का गान करते २ मन से अन्यथावादों को निकाल कर भगवान् श्रीकृष्ण का ही भजन करे ॥१-२-३॥

राजोवाच-श्लोक—**भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।**
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम् ॥१॥

श्लोकार्थ—निमिराजा कहते हैं कि—हे आत्म विद्या में विशारद (सर्वज्ञ) योगेश्वरों ! लोक में जो पुरुष प्रायःषड्गुण (ऐश्वर्यादि गुण) युक्त, दुःखहर्ता हरि का भजन नहीं करते हैं, उन अशान्त कामवाले तथा अजितेन्द्रियों की क्या गति होती है ? ॥१॥

सुबोधिनी—स्वभावविजयाय भ्रमवादान् निराकर्तुं पृच्छति **भगवन्तमिति**, सर्वेष्टसिद्धिः, **हरिरिति** सर्वानिष्टनिवृत्तिः, एतादृशमपि बाहुल्येन **न भजन्ति**, **आत्मविदः** सर्वज्ञास्तत्रापि भगवन्मार्गविदः श्रेष्ठा इतिसम्बोधनं, ज्ञानयोगाभावाय विशेषणद्वयं, **का निष्ठा ?** इह लोके परलोके वा किं फलमित्यर्थः, यद्यपि प्रवाहफलमेव फलमभजनमात्रे, "अपदोषतैव विगुणस्य गुण" इति, परं प्रवाहस्थः किञ्चिज्ज्ञो न तिष्ठति निन्दामकुर्वाण इति प्रश्नः, नन्वत्रापि निन्दाया निषिद्धत्वान् नरकपात इति कः सन्देह इति चेत्, सत्यं, भगवद्भक्तान् विकर्मस्थान् मत्वा धर्मस्थापनार्थं तन्निन्देति प्रवाहफलमेव सेत्स्यतीतिसन्देहः, **अभजनयोग्यता हि निन्दया भवति**, **अशान्तकामत्वात् प्रवाह एव स्थितिः**, **अविजितेन्द्रियत्वान् निषिद्धकरणमपि**, वैदिकत्वाच्च सन्देहः, **अविजितेन्द्रियान्** सकामानपि वेदस्तारयतीति मार्गान्तरस्थास्तु स्वभावत एव पतिता इति वैदिकेष्वेव प्रश्नाभिप्रायः ॥१॥

व्याख्या—राजा निमि स्वभाव के विजय के लिये, भ्रम पैदा करनेवाले वादोंका निराकरण आवश्यक जान वैसा प्रश्न करते हैं। मूल श्लोक में 'भगवन्तं' पद कह कर यह सूचित किया है कि प्रभु के भजन से सर्व प्रकार की इष्ट सिद्धि होती है, अर्थात् जो हम चाहें सो मिलता है-'हरिं' पद से यह बताया है कि परमात्मा भजन करनेवाले के सर्व प्रकार के दुःखों को नाश करते हैं, तात्पर्य यह है कि, उनके भजन से ही मनुष्य निश्चिन्त एवं निर्भय हो, इस लोक तथा परलोक का आनन्द ले सकता है तो भी ऐसे विभु (समर्थ) प्रभु को बहुत लोग नहीं भजते हैं।

आप आत्मवेत्ता होने से सर्वज्ञ हैं एवं भगवत्मार्ग के ज्ञाता होने से श्रेष्ठ हैं अतः इस मेरी शंका का निवारण आप ही कर सकते हैं, मेरा यह प्रश्न ज्ञान और योग सम्बन्धी नहीं है, यह आपके लिये दिये हुए विशेषणों से आप समझ गये होंगे, आप कृपाकर बताइये कि उन लोगों को इस लोक और परलोक में क्या फल मिलता है ? हालांकि केवल भजन न करने का फल प्रवाह ही मिलता है, संसार में एक ऐसे प्रवाही है, जो, भजन तो नहीं करते हैं किन्तु साथ में उनकी (भजन करने की वा करने वालों की) निन्दा भी करते हैं, दूसरे प्रवाही ऐसे हैं जो केवल भजन नहीं करते हैं किन्तु उनकी निन्दा भी नहीं करते हैं क्योंकि वे अज्ञ नहीं हैं, जो लोग विगुण हैं उनके दोष निवृत्त हो जावे यह ही गुण है, यहाँ भी निन्दा का निषेध है अतः जो निन्दा करता है उनका नरक में पतन होता है, इसमें क्या सन्देह है ? यदि यों कहो तो जो निन्दा नहीं करता है उसको तो कुछ फल मिलना चाहिये जो निन्दक है वे भगवद्भजन के योग्य नहीं हैं. उनकी कामनाऐं अब तक शान्त नहीं हुई है इसलिये प्रवाही होने से इन्द्रियों को भी वश में नहीं कर सके हैं जिससे निषिद्ध कर्म करने से भी डरते नहीं हैं, वैसे अधिकारी यदि वैदिक होकर वेद मार्ग में स्थिति करने के साथ वेद की निन्दा नहीं करते हैं तो उनके भी अधःपात में संशय होता है अविजितेन्द्रिय सकाम पुरुषों का भी वेद उद्धार करता है— मार्गान्तर में स्थित तो स्वभाव से ही पतित है इसलिये यह प्रश्न वैदिकों के लिये ही है।

भगवद्भक्तों को विकर्मस्थ मानकर धर्मस्थापनार्थ उनको (वेदों की वा भक्तों की) निन्दा, इसलिये प्रवाह फल ही मिलेगा इसमें संदेह है ॥१॥*

---

* **बाल प्रबोधिनी व्याख्या**—पञ्चम अध्याय में भक्तिहीनों की एवं विषयी लोगों की दुर्गति का वर्णन है। प्रत्येक युग में पूजा का प्रकार एवं उसके भेद का भी निरूपण है भगवद्भक्त भगवान् की माया को तर जाते हैं अतः वे संसार के दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। यदि भगवद्भक्त सुख के लिए कर्म करते हैं तो उन्हें उस कर्म से दुःख की प्राप्ति होती है इसका वर्णन पहले आ गया है। अब अभक्तों के फल विपर्यय की विशेष जिज्ञासावाले निमिराजा पूछते हैं। योगिराज चमस के लिए राजा ने 'आत्मवित्तमाः' सम्बोधन इसलिए दिया है कि आप इसका उत्तर देने में समर्थ हैं। जो भगवान् का भजन नहीं करते हैं उन लोगों की क्या गति होती है ? भगवान् के भजन बिना मुक्ति कदापि नहीं होती इस विषय में तो मुझे कोई सन्देह नहीं है इसको सूचित करने के लिए 'भगवन्तं' का विशेषण 'हरिं' पद दिया है। हरि का अर्थ है भक्तों के सांसारिक दुःखों को दूर करने का जिनका स्वभाव है। जब हरि सांसारिक दुःखों को दूर कर देते हैं तो अभक्त उनका भजन क्यों नहीं करते उसका कारण बताते है 'अशान्तकामानाम्' वे अभक्त विषय भोगों की तृष्णा में फंसे हुए हैं इसलिए वे विषय भोगों का ही भजन करते हैं संसार दुःख निवर्त्तक भगवान् का नहीं। ऐसा करने में 'अविजितात्मनाम्' हेतु है उनकी इन्द्रियां अन्तः करण उनके वंश में नहीं है अतः भगवद्भजन करने में वे समर्थ नहीं हैं। इस श्लोक में 'प्रायः' यह पद इस आशय से है कि इस प्रकार के लोग तो बहुत मिलेंगे भगवद्भक्त तो कोई विरला ही मिलेगा ॥ १ ॥

आभास—उत्तरमाह सप्तदशभिः, तेषां योगस्य तथात्वात्, सिद्धान्ता हि पञ्च, तत्र वैष्णवा भजन्त्येव शैवा निन्दकाश्चेत् पाषण्डिनः, साङ्ख्ययोगयोर्निषेधः प्रश्न एव कृतः, अतो वैदिका अज्ञाश्चावशिष्यन्ते प्रवाहपतिता लोकचतुराश्च, तत्र प्रवाहपतितलोकचतुराणां गतिमाह द्वाभ्यां ।

आभासार्थ—चमस योगेश्वर १७ श्लोकों से उत्तर कहते हैं उनके योग १७ प्रकार के हैं और सिद्धान्त पांच हैं, जिसमें वैष्णव तो भजन करते ही है, शैव यदि निन्दक बने तो समझना चाहिये कि वे पाखण्डी हैं, सांख्य और योग का निषेध प्रश्न में ही कर दिया है, अतः शेष अज्ञ वैदिक ही रहते हैं, प्रवाह में पतित लोक में चतुर होते हैं, उनमें प्रवाह पतित जो लोक चतुर हैं उनकी गति दो श्लोकों से कहेंगे, प्रवाह उत्पन्न लोक चतुरों की क्रमशः कैसे उत्पत्ति हुई है वह वर्णन करते हैं ।

चमस उवाच-श्लोक—**मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।**
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ।। २ ।।

श्लोकार्थ—चमस योगेश्वर कहते हैं कि, भगवान् ने जो पुरुष रूप धारण किया है उनके मुख, बाहु, उरु और पादों से आश्रम सहित चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं किन्तु सत्त्वादि गुणों के भेद के अनुसार वर्ण एवं आश्रमों के धर्म कर्म पृथक् हुए हैं अतः तदनुसार उनके आचरण (कर्त्तव्य) में प्रवृत्त हुए हैं ।। २ ।।

सुबोधिनी—मुखेति न्यासवानप्रस्थ ब्रह्मचारिगृहस्था वर्णा इव, तथा सत्याश्रमस्थानां द्वैगुण्यं सत्त्वाद् ब्राह्मणा रजसा क्षत्रिया रजस्तमोभ्यां वैश्याः ।। २ ।।

व्याख्या—भगवान् के मुख, बाहु, उरु, और चरणों से ४ वर्ण और ४ आश्रम उत्पन्न हुए हैं। सत्त्वगुणी ब्राह्मणवर्ण, रजोगुणी क्षत्रियवर्ण, रज और तम मिश्रित वैश्यवर्ण तथा केवल तमोगुणी शुद्रवर्ण हैं—वैसे ४ आश्रम—गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम, अपने-अपने आश्रम की वृत्ति (धर्म) युक्त उत्पन्न हुए ।। २ ।। ●

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति (ब्रह्म-भाव मुक्ति) प्रकरण के पंचम अध्याय के प्रथम दो श्लोक हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

● इस चिन्ह की टिप्पणी पृष्ठ १६५ पर पढ़ें ।

टिप्पणी—सुबोधिनी टीका केवल दो श्लोकों तक ही मिलती है अतः तीसरे श्लोक से बाल प्रबोधिनी संस्कृत टीका का केवल हिन्दी अनुवाद शेष ५० श्लोकों का दिया गया है।

श्लोक—**य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।**
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य, वर्ण और आश्रमों के भगवान् एवं उत्पत्ति कर्त्ता तथा नियमकर्त्ता प्रभु का भजन नहीं करते हैं, और उस परमात्मा की अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं, वे अपने पद से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त करते हैं ।।३।।

बाल प्रबोधिनी—व्याख्या—इन चारों वर्णों एवं आश्रमवालों में जो साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् को अज्ञान मे नहीं भजते हैं अथवा जानकर भी भगवान् का अनादर करते हैं वे अपने स्थान वर्ष और आश्रम के अधिकार से भ्रष्ट होकर नरक में गिरते हैं। ऐसे लोग कृतघ्न कहे जाते हैं। भगवान् ने अपनी आत्मा से उनकी उत्पत्ति की है फिर भी वे उनका भजन नहीं करते तथा तिरस्कार करते हैं इसलिए भगवान् भी उन्हें नरक में गिराते हैं नरक में गिराने की उनमें सामर्थ्य है यह "ईश्वरम्' इस पद से स्पष्ट है ।। ३ ।।

● **बाल प्रबोधिनी व्याख्या**—अभक्त कृतघ्न है भगवान् के उपकारों को नहीं मानते हैं भगवान् ने अपना भजन करने के लिए ही सब वर्णों को अपने अङ्गों से उत्पन्न किया है यह **'मुखबाहूरुपादेभ्यः'** इस श्लोक से बताते हैं। भगवान् के मुखादि अङ्गों से साधनभूत सत्त्वादि गुणों से तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के साथ अलग-अलग ब्राह्मण आदि चार वर्ण उत्पन्न हुए ऐसा इसका सम्बन्ध है। उनमें मुख से सत्त्वगुण से ब्राह्मण, दोनों भुजाओं से सत्त्वरज से क्षत्रिय, दोनों जाघों से रजस्तम से वैश्य, दोनों पैरों मे तमो गुण से शूद्र उत्पन्न हुए। आश्रमों की उत्पत्ति का प्रकार इस प्रकार है—गृहस्थाश्रम जाघों से, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थल से वानप्रस्थ, मस्तक से सन्यास उत्पन्न हुए। इस विषय में 'गृहाश्रमोजघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम। वक्षःस्थलाद्वने वासो न्यासः शिर्षणि च स्थितः' यह भागवत का वचन प्रमाण है ।।२।।

श्लोक—**दूरेहरिकथाः केचिद् दूरेचाच्युतकीर्तनाः ।**
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ।।४।।

श्लोकार्थ—अनेक स्त्रियाँ और शूद्रादि भगवान् की कथा और उनके नाम संकीतन आदि से कुछ दूर हो गए हैं। वे भी आप-जैसे भगवभक्तों की दया के पात्र हैं। आप लोग उन्हें कथा-कीर्तन की सुविधा देकर उनका उद्धार करें।।४।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—जिनने भगवान् की कथा कभी सुनी न हो तो वे भगवान् का नाम संकीर्तन तो करेंगे कैसे ? ऐसे ब्राह्मण आदि कोई वर्णाश्रमी तथा स्त्री, शूद्र ये सब आपके जैसे भगवद्भक्तों के तथा अधिकार प्राप्त राजाओं के दया के पात्र हैं। अतः कृपा करके उन्हें आप साम, दान आदि उपायों से शिक्षित करिये ।।४।।

श्लोक—**विप्रोराजन्यवैश्यौ चहरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।**
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ।।५।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्म से, वेदाध्ययन से तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से भगवान् के चरणों के निकट तक पहुँच चुके हैं। फिर भी वे वेदों का असली तात्पर्य न समझकर अर्थवाद में लगकर मोहित हो जाते हैं ।।५।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—रजोगुण की अधिकता के कारण उनके संकल्प (विचार) हिंसा विषयक ही होते हैं। विविध प्रकार के विषय भोगों की कामना का उनमें आवेश आग्रह रहता है। उनका क्रोध तो सर्प के क्रोध के समान होता है। दूसरों को ठगने के लिए धर्माचरण की प्राप्ति के लिए कर्म करने लग जाते हैं ऐसा करने में आम्नायवाद कारण है। वेदों में जो अर्थवाद है जैसे 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति' चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को क्षयरहित सुकृत होता है इत्यादि मोहक वेद वाक्य के भुलावे में पड़कर यज्ञ करते हैं भगवान् का आराधन नहीं करते हैं ।। ५ ।।

श्लोक—**कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।**
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ।।६।।

श्लोकार्थ—उन्हें कर्म का रहस्य मालूम नहीं है। मूर्ख होने पर भी वे अपने को पण्डित मानते हैं और अभिमान में अकड़े रहते हैं। वे मीठी-मीठी बातों में भूल जाते हैं और केवल वस्तु शून्य शब्द-माधुरी के मोह में पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें करते रहते हैं ।।६।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—पञ्चम श्लोक में जिस मोह का वर्णन किया था उसी को विस्तार से छठे श्लोक में 'कर्मण्यकोविदा:' से करते हैं जिस प्रकार से कर्म बन्धन करनेवाले न हो उस तरह के कर्म करने की जिनमें समझ नहीं है। यद्यपि उन्हें बन्धन न कर सके ऐसे कर्म करने की समझ नहीं है तो वे इस विषय में जानकारों से ज्ञान प्राप्त कर लेंगे परन्तु ऐसा भी संभव नहीं है 'स्तब्धा:' जो अनम्र होते हैं वे किसी की सलाह नहीं लेते 'मूर्खा: पण्डितमानीन:' जो मुर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित समझदार मानते हैं वे तो अपना मन माना ही करेंगे और वे तो उलटे जहाँ गर्मी, ठंड, ग्लानि तथा शत्रु नहीं है ऐसा मधुर जो कानों को अच्छी लगने वाली वाणी है उसमें उत्सुक होकर लोगों के सामने ऐसी चटकीली बातें करते हैं कि हम लोग तो स्वर्ग में देवता बनकर अप्सराओं के साथ विहार करेंगे। 'अपामसोमममृता अमूम अप्सरोभि: सह विहरिस्याम: ॥ ६ ॥

श्लोक—**रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।**
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥७॥

श्लोकार्थ—रजोगुण की अधिकता के कारण उनके सङ्कल्प बड़े घोर होते हैं। कामनाओं की तो सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे साँप का, बनावट और घमंड से उन्हें प्रेम होता है। वे पापी लोग भगवान् के प्यारे भक्तों की हँसी उड़ाया करते हैं ॥७॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये वेदाध्ययनादि अधिकार को प्राप्त हो कर भी भजन से विमुख हो जाते हैं उनकी 'विप्रोराजन्य' इस श्लोक से निन्दा करते हैं। ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिक वेदाध्ययन, उपनयन, अध्यापन, यजनादि अधिकार से तथा जन्म से हरि के चरणों के निकट पहुँच जाते हैं अर्थात् आराधना के द्वारा चरण प्राप्ति की योग्यता को प्राप्त होते हुए भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं तब भगवान् की आराधना को छोड़कर स्वर्गादि का ढोंग बनानेवाले अत्यन्त दुष्ट अहंकारी निरन्तर निषिद्ध आचरण में तत्पर पापी भगवान् के प्यारे भक्तों को हंसते है उनका उपहास करते हैं ॥ ७ ॥

श्लोक—**वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो, गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।**
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं, वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥८॥

श्लोकार्थ—वे मूर्ख बड़े-बूढ़ों की नहीं, स्त्रियों की उपासना करते हैं। यही नहीं वे परस्पर इकट्ठे होकर उस घर-गृहस्थी के सम्बन्ध में ही बड़े-२ मनसूबे बाँधते हैं, जहाँ का सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवास में ही सीमित है। वे यदि कभी यज्ञ भी करते

हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधि का उल्लङ्घन करते और दक्षिणा तक नहीं देते। वे कर्म का रहस्य न जानने वाले मूर्ख केवल अपनी जीभ को सन्तुष्ट करने और पेट की भूख मिटाने शरीर को पुष्ट करने के लिए बेचारे पशुओं की हत्या करते हैं ॥८॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—अभक्तों की कामुकता का विशेष विवेचन करते हैं वे लोग स्त्रियों को ही महत्त्व देते हैं उन्हीं की उपासना करते हैं बड़े बूढ़ों का उनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं है घर में भी दाम्पत्य सुख की प्राप्ति हो ऐसे हो परस्पर शुभ कामना करते हैं अर्थात् धन, मकान, स्त्री पुत्रादि सम्पत्तियां हमें प्राप्त हो ऐसा परस्पर आशीर्वाद देते हैं। अब दांभिकता (ढोंग) का विशेष विवेचन करते हैं वे यदि यज्ञ करते हैं तो उसमें अन्नदान नहीं करते विधि जो यज्ञ के नियम है उनका पालन नहीं करते और दक्षिणा भी नहीं देते। केवल अपने खाने के लिए ही पशुओं की हत्या करते हैं इस प्रकार का अनर्थ वे इसलिए करते हैं कि न तो उन्हें यज्ञ की विधि का ज्ञान है और न उन्हें हिंसा के दोषों का ज्ञान है ॥ ८ ॥

श्लोक—**श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया, त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।**
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्, सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥९॥

श्लोकार्थ—धन-वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य, बल और कर्म आदि के घमंड से अंधे हो जाते हैं तथा वे दुष्ट उन भगवत्प्रेमी सन्तों तथा ईश्वर का भी अपमान करते रहते हैं ॥९॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—कामुकता तथा दाम्भिकता का विवेचन तो पहले आ चुका अब मानिता अर्थात् घमंड का विशेष विवेचन करते है। धन वैभवादि से उत्पन्न घमंड से वे अन्धे विवेक-हीन हो जाते हैं अतः ईश्वर का और भक्तों का अपमान करते हैं। सन्त कौन से इस आशंका के निवारणार्थ उसका विशेषण दिया 'हरि प्रियान्' भगवान् है प्रिय जिनको अर्थात् भगवद्भक्तों का वे अपमान करते हैं। श्री-धन आदि सम्पत्ति, विभूति-अधिकार आदि की प्राप्ति, अभिजन—जनसंग्रह, विद्या-तर्क शास्त्र आदि का अभ्यास, त्याग-दान, रूप-सौन्दर्य, बल-शारीरिक बल, कर्म-श्रौत स्मार्त्त कर्म करना इत्यादि अभिमान से भक्त और भगवान् का अपमान करते हैं। यहाँ यह आशंका हो सकती है कि श्री आदि तो पुरुषार्थ का कारण है उनसे गर्व अभिमान कैसे होता है उसके निवारणार्थ 'खलाः' पद दिया है वे दुष्ट अन्तःकरणवाले हैं इसलिए उनकी श्री आदि पुरुषार्थ साधक न होकर गर्व को उत्पन्न करने वाले बन गये ॥९॥

श्लोक—**सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं, यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।**
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा, मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥१०॥

श्लोकार्थ—राजन्! वेदों ने इस बात को बार २ दुहराया है कि भगवान् आकाश के समान नित्य-निरन्तर समस्त शरीरधारियों में स्थित हैं। वे ही अपने

आत्मा और प्रियतम हैं। परन्तु वे मूर्ख इस वेद वाणी को तो सुनते ही नहीं और केवल बड़े-बड़े मनोरथों की बात आपस में कहते सुनते रहते हैं ॥१०॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—नवम श्लोक में बताया है कि दुष्ट लोग लक्ष्मी आदि के मद से भक्तों का अपमान करते हैं परन्तु केवल इतना ही नहीं वे वेदों की बात भी नहीं सुनते यह इस दशम श्लोक में बताई है सर्वदा सब प्राणियों में स्थित और वेदों के द्वारा उद्घोषित जो (भगवान्) आत्मा है तथा जो अत्यन्त प्रीति का विषय है उसको नहीं सुनते किन्तु अपनी मनमानी बात अर्थात् स्त्री-सुख, मांस, मद्य आदि की बातों में समय यापन करते हैं। भगवान् सब प्राणियों में स्थित होते हुए भी उनके दोषों से उसका स्पर्श नहीं होता इसके लिए आकाश का दृष्टान्त दिया है जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी निर्लिप्त रहता है। वेदों की बात न सुनने का कारण तो यह है कि वे अबुध-बेसमझ हैं ॥ १० ॥

श्लोक—लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥

श्लोकार्थ—(वेद विधि के रूप में ऐसे ही कर्मों के करने की आज्ञा देता है, जिन में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती।) संसार में देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्य की ओर प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है तब उसे उसमें प्रवृत्त करने के लिए विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञ के द्वारा ही जो उनके सेवन की व्यवस्था दी गई है, उसका अर्थ है लोगों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति का नियन्त्रण, उनका मर्यादा में स्थापन। वास्तव में उन की ओर से लोगों को हटाना ही श्रुति को अभीष्ट है ॥११॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—शंका होती है कि मैथुन आदि का जब वेदों में विधान है तो फिर उसकी निन्दा क्यों की जाती है? इसका उत्तर इस 'लोके व्यवाया' आदि से दिया गया है। व्यवाय-स्त्री संभोग अपिष मद्य सेवा-मांस मदिरा का भक्षण। ये प्राणीमात्र के लिए नित्य है अर्थात् इनका सेवन प्राणीमात्र अनुराग से करता है इसलिए उसके लिए वेद की विधि नहीं है। अनजानी बात को बताने में शास्त्र को प्रमाण माना जाता है शंका होती है कि ऋतौ भार्यामुपेयात् 'हुतशेषं भक्षमेत्' ऋतु काल में स्त्री संग करे, हवन से बचे हुए का भक्षण करे। 'सोत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति' सौत्रामण्य यज्ञ में मद्य सेवन करे। ऐसे विधि वाक्य हमें मिलते हैं और भी 'ऋतुस्नाना भार्या के पास जो नहीं जाता है उसे भयङ्कर भ्रूणहत्या का पाप लगता है' इसमें स्त्री संभोग न करने पर दोष लिखा है तो फिर कैसे माने कि स्त्री संभोग की विधि नहीं है इसका उत्तर 'व्यवस्थिति....' इत्यादि से दिया है। अर्थात् उक्त विधि के द्वारा स्त्री सेवन, मद्यमांस भक्षण की विवाह यज्ञ आदि में व्यवस्था की गई है वास्तव में तो व्यवाय, मद्य, मांसभक्षण की निवृत्ति (त्याग) ही अभीष्ट है। जैसे यदि स्त्री संग करना चाहता है तो विवाहित स्त्री से कर सकता है अन्य स्त्री से नहीं, उसमें भी ऋतुकाल में ही तथा रात्रि में ही अन्य काल में नहीं। इस काल में भी षष्ठी, अष्टमी

पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी (एकादशी) चतुर्दशी आदि पर्व काल में स्त्री संग का परित्याग करे। स्त्री संग का विधान भी केवल उसी के लिए है जो अपने पिता के ऋण मुक्त होने के लिए पुत्र की इच्छा रखत है और जो कर्मनिष्ठ है गृहस्थी है। जो भक्त है या ज्ञानी है अथवा विरक्त है उसके ऊपर कोई पितृ ऋण नहीं होता 'यदहरेवविरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत' जिस दिन वैराग्य हो जाय उसी दिन सन्यासी हो जाय इससे यह स्पष्ट है कि भक्त, ज्ञानी, विरक्त के लिए कोई ऋण नहीं है तथा सन्यास ग्रहण करने की विधि है। उसी तरह यज्ञ में ही मांस का सेवन करे अन्यत्र नहीं। सौत्रामण्य यज्ञ में ही सुरा का ग्रहण करें अन्यत्र नहीं॥ ११॥

श्लोक—धनं च धर्मैकफलं यतो वै, ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥१२॥

श्लोकार्थ—धन का एकमात्र फल है धर्म; क्योंकि धर्म से ही परमतत्त्व का ज्ञान और उसकी निष्ठा–अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है, और निष्ठा में ही परम शान्ति है। परन्तु यह कितने खेद की बात है कि लोग उस धन का उपयोग घर गृहस्थी के स्वार्थों में या काम भोग में ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्यु का शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती॥१२॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—पहले यह कहा जा चुका है कि अज्ञ लोग व्यवाय (स्त्रीसंग) आदि मनोरथों से व्याकुल होकर वेद में कही हुई बात को भी नहीं सुनते हैं। अब धर्म से होने वाले मोक्ष के साधन-भूत धन का भी वे लोग प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोगों में ही उपयोग करते हैं अतः उनका मोक्ष हो जाएगा यह आशा भी नहीं रही, इसी बात को 'धनं च' इस श्लोक से कहते हैं। धर्म ही है एक मात्र फल जिसका ऐसे धन का उपयोग वे देह आदि के लिए करते हैं। इसलिए वे अन्धे हैं। अन्धे वे इसलिए हैं कि जिसके बल का कोई प्रतीकार नहीं कर सकता उस मृत्यु को वे नहीं देखते। अब यह जिज्ञासा होगी कि धर्म का फल क्या है तब 'यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्तिः' जिस निष्काम भगवान् की आराधना रूप धर्म से अपरोक्ष ज्ञान सहित दृढ़ परोक्ष ज्ञान होता है। वह दृढ़ परोक्ष ज्ञान कैसा होता है उसका स्वरूप 'अनुप्रशान्तिः से बताया है अर्थात् उस परोक्ष ज्ञान के होने पर ही जिसे मोक्ष कहा जाता है ऐसी प्रकृष्ट शान्ति होती है॥१२॥

श्लोक—यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या, इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥१३॥

श्लोकार्थ—सौत्रावणी यज्ञ में भी सुरा को सूँघने का ही विधान है, पीने का नहीं। यज्ञ में पशु आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी

धर्मपत्नि के साथ की आज्ञा भी विषय भोग के लिए नहीं धार्मिक परम्परा की रक्षा के निमित्त सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही दी गई है। परन्तु जो अर्थवाद के वचनों में फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्धधर्म को जानते ही नहीं ॥१३॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—ग्यारहवें श्लोक में स्त्रीसंभोग आदि की जो व्यवस्था की है अर्थात् स्त्री संभोग, मद्यमांस भक्षण की जो आज्ञा दी है उसे अपनी इच्छानुसार न समझें उसका आशय दूसरा ही है। सौत्रामणी यज्ञ में जो सुरा का उपयोग बताया है उसका तात्पर्य सुरा को केवल नाक से सूंघना चाहिये न कि उसको पीना चाहिये। उसी तरह पशु का केवल मात्र स्पर्श ही करना चाहिये ऐसी विधि है, हिंसा कदापि न करें यहाँ यह समझे कि देवता के उद्देश लक्ष्य से जो पशुहनन है उसका तात्पर्य स्पर्श करना मात्र हैं जैसा कि 'वायव्यंश्वेतमालभेत' वायु के लिए श्वेत अश्व का स्पर्श करे उसे हिंसा नहीं कहते। ऐसा वचन भी है कि 'वेद विहित हिंसा हिंसा नहीं है' यज्ञ में भी जो खाने के लक्ष्य से पशु हिंसा करते है वह तो लौकिक में मांसभक्षण के लिए की गई हिंसा के समान ही है। वेद में तो आलभन (स्पर्श) मात्र ही कहा है, हिंसा नहीं कही है। अतः यथेष्ट मांसभक्षण की वो आक्षा नहीं है। इसी प्रकार व्यवाय स्त्री संभोग भी सन्तोत्पत्ति के लिए ही विहित हैं सुख भोग के लिए नहीं। अतः अपनी इच्छानुसार मनमानी करनेवाले लोग इस विशुद्ध अपने धर्म को नहीं जानते ॥१३॥

श्लोक—**ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।**
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥१४॥

श्लोकार्थ—जो इस विशुद्ध धर्म को नहीं जानते, वे घमंडी वास्तव में तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपने को श्रेष्ठ। वे धोखे में पड़े हुए लोग पशुओं की हिंसा करते हैं और मरने के बाद वे पशु ही उन मारनेवालों को खाते हैं ॥१४॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—इस प्रकार भगवद् विमुखों के अनेक दोषों का विस्तृत वर्णन किया अब उनके निश्चय का विवेचन 'ये त्वनेवंविदो' आदि पांच श्लोको से करते हैं। जो लोग (बेसमझ) ऊपर बताये गये विशुद्ध धर्म को नहीं जानते हैं वे 'अनेवंविदः' से लिये गये हैं। वे लोग दूसरों से भी नहीं पूछते क्योंकि स्तब्ध है, अनम्र है जिसमें नम्रता होती है वे तो किसी से पूछ भी सकते हैं। हम तो सज्जन है समझदार हैं ऐसा उनमें अभिमान हैं अतः उनमें नम्रता या जिज्ञासा उत्पन्न ही कैसे होगी। उक्त सब बातों का उदय उनके अन्तःकरण में इसलिए नहीं होता है कि वे स्वयं असन्त हैं उनके अन्तःकरण में पाप का निवास है इसलिए ऐसा करने से हमारा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा ऐसा उनमें विश्वास है अथवा पशुओं के द्वारा हमारा पोषण हो रहा है अतः निर्दयता से पशुओं को

मारते हैं तब वे ही मारे गये पशु उन मारनेवालों के यमपुर में पहुंच कर खाते हैं। जैसाकि समझदारों ने कहा है—'जो मांस भक्षी यहाँ जिनका मांस खाते हैं, परलोक में उन्हीं मांस भक्षण करने वालों का मांस वे खाते हैं जिनका मांस उनने खाया है ॥१४॥

श्लोक—**द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मनं हरिमीश्वरम् ।**
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥१५॥

श्लोकार्थ—यह शरीर मृतक-शरीर है। इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीर से तो प्रेम की गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरों में रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्व शक्तिमान् भगवान् से द्वेष करते हैं, उन मूर्खों का अधः पतन निश्चित है ॥१५॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—जो मूर्ख अन्य शरीरों में स्थित जीवों से द्वेष करते हैं वे स्वयं अपनी आत्मा से ही द्वेष (द्रोह) करते हैं अतः उस दोष से वे नरक में गिरते हैं। क्योंकि जीव भगवान् के अंश हैं अतः उनसे द्वेष करना तो भगवान् से ही द्वेष करना होगा। जो ईश्वर (हरि) से द्वेष करेंगे वे नरक में गिरेंगे ही। ऐसा वे क्यों करते हैं इसका हेतु है कि वे अपने पुत्र स्त्री आदि से युक्त मृत (शव) प्रायः शरीर से प्रेम करते हैं उसका खूब लालन-पालन करने की आसक्ति से अन्य शरीर में स्थित जीवों से द्वेष करते हैं ॥१५॥

श्लोक—**ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।**
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिन लोगों ने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधुरे न इधर के हैं, और न उधर के। वे अर्थ, धर्म, काम-इन तीनों पुरुषार्थों में फँसे रहते हैं, एक क्षण के लिए भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती। वे अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। ऐसे ही लोगों को आत्मघाती कहते हैं ॥१६॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—जो सर्वथा बेसमझ होते हैं वे तत्वज्ञानियों की कृपा से संसार से तिर जाते हैं और जो तत्व ज्ञानी होते हैं वे स्वतः ही संसार से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ हैं और जो न तो मूर्ख ही हैं और न समझदार ही हैं किन्तु अपने को समझदार माननेवाले और नम्रता से रहित हैं अतः उन्हें श्रवण आदि का अवसर ही नहीं मिलता श्रवणादि का अवसर न मिलने का कारण यह है कि वे सदा धर्म, अर्थ, काम में ही फंसे रहते हैं ऐसे लोग अपनी आत्मा का घात करते हैं नरकादि में पातित करने का साधन करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है यह 'हि' शब्द से सूचित किया है ॥१६॥

श्लोक—एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ।।१७।।

श्लोकार्थ—अज्ञान को ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियों को कभी शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मों की परम्परा कभी शान्त नहीं होती । काल भगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथों पर पानी फेरते रहते हैं । इनके हृदय की जलन विषाद कभी मिटने का नहीं ।।१७।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—सोलहवें श्लोक में कही हुई बात को पुनः स्पष्ट करते हैं 'आत्महनः' का आशय है स्वयं के (अपने) ही ये शत्रु हैं । काल जब इनके मनोरथों को नष्ट कर देता है तो ये नरक आदि में अत्यन्त दुःखी होते ही हैं । यहां 'वै' एवं (ही) के अर्थ में है । वे आत्मघाती इसलिए हैं कि उन्होंने श्रवणादि साधन जो अपना कार्य है उसे नहीं किया, नहीं करने में हेतु है 'अज्ञाने ज्ञान मानिनः' लौकिक एवं अलौकिक सुखों के उपाय की कल्पना में ही अपने को समझदार मानते हैं ऐसे भ्रान्त अशान्त राग-लोभ आदि से व्याप्त चित्तवाले होते हैं इसी बात को श्रुति भी बताती है 'जो आत्मघाती होते हैं वे मरने पर अन्ध नाम के नरक में गिरते हैं ।।१७।।

श्लोक—हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ।।१८।।

श्लोकार्थ—राजन् ! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण से विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पति इकट्ठी करते हैं; परन्तु उन्हें अन्त में सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहने पर भी विवश होकर घोर नरक में जाना पड़ता है । (भगवान् का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषों की यही गति होती है) ।।१८।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—हरि विमुखों को क्या फल प्राप्त होता है इस प्रश्न का अब उपसंहार करते हैं । भगवद्विमुख मनुष्य जिन्होंने कठोर परिश्रम से गृह, सुत, मित्र और लक्ष्मी का संपादन किया था उन्हें छोड़ने की इच्छा न होते हुए भी छोड़कर तथा नरक में गिरना नहीं चाहते हुए उसमें पड़ते हैं ।।१८।।

राजोवाच—श्लोक—कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—राजानिमि ने पूछा—योगेश्वरों ! आप लोग कृपा करके यह बतलाईये कि भगवान् किस समय, किस रंग का, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियों से उनकी उपासना करते हैं ।।१९।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—भगवान् की आराधना का प्रकार विशेष पूछता है भगवान् किस समय, किस रंग का और कैसे आकार का होता है । किस नाम से और किस विधि से मनुष्यों के द्वारा पूजा जाता है यह हमारे सामने कहिये ।।१६।।

करभाजन उवाच श्लोक—**कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।**
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।२०।।

श्लोकार्थ—अब नवें योगीश्वर करभाजनजी ने कहा—राजन् ! चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि । इन युगों में भगवान् के अनेकों रंग नाम और आकृतियां होती हैं तथा विभिन्न विधियों से उनकी पूजा की जाती है ।।२०।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—सत्ययुग आदि चार युग होते हैं । भगवान् इन सत्ययुग आदि कालमें अनेक प्रकार के वर्ण, नाम और आकार से तथा अनेक विधियों (प्रकारों) से पूजे जाते हैं ।।२०।।

श्लोक—**कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।**
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद् दण्डकमण्डलू ।।२१।।

श्लोकार्थ—सत्ययुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रंग होता है श्वेत । उनके चार भुजाएँ और सिर पर जटा होती हैं, तथा वे वल्कल का ही वस्त्र पहनते हैं । काले मृग का चर्म, यज्ञोपवित, रुद्राक्षी की माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं ।।२१।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—बीसवें श्लोक में बताये गये रंग आदि का स्पष्टीकरण करते है । सत्ययुग में कृष्णमग चर्म आदि को धारण करते हैं इससे सत्ययुग में भगवान् ब्रह्मचारी वेश में रहते हैं ।।२१।।

श्लोक—**मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैर : सुहृदः समाः ।**
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ।।२२।।

श्लोकार्थ—सत्ययुग के मनुष्य बड़े शान्त, परस्पर वैर रहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं । वे लोग इन्द्रियों और मन को वश में रख कर ध्यानरूप तपस्या के द्वारा सबके प्रकाशक परमात्मा की आराधना करते हैं ।।२२।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—तब सत्ययुग में भगवान् की आराधना करनेबाले पुरुष सर्वत्र सुख दुःख में समान दृष्टि रखते हैं । समान दृष्टि रखने के कारण बैर रहित होना वे किसी से बैर नहीं रखते । निर्वैर होने का कारण उनमें शान्ति है राग, लोभ आदि दोष उनमें नहीं है दुःख का हेतु जो

राग आदि हैं वे उनमें नहीं हैं अतः सुखी है, सुखी इसलिए हैं कि वे सबके हितैषी हैं। बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करके ध्यानयोग रूप तप से भगवान् की आराधना करते हैं ॥२२॥

श्लोक—**हंस सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।**
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

श्लोकार्थ—वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों के द्वारा भगवान् के गुण, लीला आदि का गान करते हैं ॥२३॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—सत्ययुग में भगवान् का हंस आदि नामों से व्यवहार होता है ॥२३॥

श्लोक—**त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।**
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥

श्लोकार्थ—राजन् ! त्रेतायुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रंग होता है लाल। चार भुजाएँ होती हैं और कटिभाग में वे तीन मेखला धारण करते हैं। उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेद प्रतिपादित यक्ष के रूप में रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रों को धारण किया करते हैं ॥२४॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—त्रेता में ये भगवान् लाल वर्ण होते हैं, चार भुजाएँ होती है दीक्षा की अंगभूत तीन मेखला कटि भाग में धारण करते हैं। पीले केश होते है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन तीनों वेदों से प्रतिपादित जिनकी आत्मा (मूर्ति) है। स्रुक् स्रुवा आदि चिन्ह उनके होते है ॥२४॥

श्लोक—**तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।**
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—उस युग के मनुष्य अपने धर्म में बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदों के अध्ययन-अध्यापन में बड़े प्रवीण होते हैं। वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयी के द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि की आराधना करते हैं।२५।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—तब त्रेता युग में ब्रह्मवादी अर्थात् वेदोक्त अर्थ के जानने वाले मनुष्य इन्द्र आदि सब देवताओं के अन्तर्यामी मुख्य देव हरि का वेदत्रयी में कथित कर्म समर्पण से उनका भजन करते हैं आराधन करते हैं ॥२५॥

श्लोक—**विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।**
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ।।२६।।

श्लोकार्थ—त्रेतायुग में अधिकांश लोग विष्णु, यज्ञ पृश्णिगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामों से उनके गुण और लीला आदि का कीर्तन करते हैं ।।२६।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—तब त्रेतायुग में व्यापक होने के कारण भगवान् को विष्णु कहते हैं। यज्ञ के अधिष्ठाता होने के कारण उन्हें यज्ञ कहते हैं। पृश्नि के पुत्र होने के कारण पृश्नि गर्भ, सब देवताओं के अधिष्ठाता होने के कारण सवदेव, अनेक प्रकार की लीला करने के कारण उरुक्रम, भक्तों की जो कामनाएं होती हैं उनकी वर्षा करने के कारण वृष, और उनके क्लेशों का आकंपन विनाश करने के कारण आकपि, इस तरह वृष और आकपि, सर्वदा उनकी विजय ही होती है अतः जयन्त और उनकी विजय का ही सर्वत्र गान (वर्णन) होता है अतः वे उरुगाय भी कहे जाते हैं।।२६।।

श्लोक—**द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः ।**
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ।।२७।।

श्लोकार्थ—राजन् ! द्वापरयुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रंग होता है साँवला। वे पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं। वक्षः स्थलपर श्रीवत्स का चिन्ह, भृगुलता, कौस्तुभ-मणि आदि लक्षणों से वे पहचाने जाते हैं ।२७।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—द्वापर में भगवान् अलसी के पुष्प के समान श्यामवर्ण होते हैं और पीताम्बर को धारण करते हैं। अपने सुदर्शन चक्र आदि आयुध भी उस समय उनके पास रहते हैं। श्रीवत्स नाम वाला जो वक्षः स्थल पर दाहिने भाग में बालों का जो प्रदक्षिणावर्त्त है वह तथा श्रीहस्त श्रीचरण में कमल का चिन्ह तथा कौस्तुभमणि आदि जो बाह्य चिन्ह हैं उनसे भी उपलक्षित पहचाने जाते हैं।।२७।।

श्लोक—**तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।**
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ।।२८।।

श्लोकार्थ—राजन् ! उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजों के चिन्ह छत्र, चँवर आदि से युक्त परमपुरुष भगवान् की वैदिक और तान्त्रिक विधि से आराधना करते हैं ।।२८।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—उस समय हे राजन् ! जिज्ञासु जो तत्त्व ज्ञान की इच्छा रखते हैं वे मनुष्य महाराज के चिन्ह जो छत्र, चँवर आदि हैं उनसे युक्त भगवान् की वैदिक प्रकार से और तन्त्रोक्त प्रकार से आराधना करते हैं ।।२८।।

श्लोक—**नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।**
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥

नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥

श्लोकार्थ—वे लोग इस प्रकार भगवान् की स्तुति करते हैं– 'हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रियाशक्तिरूप सङ्कर्षण ! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं । भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में हम आपको नमस्कार करते हैं । ऋषि नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ॥२९॥३०॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—नामों को दिखाते हुए नमस्ते आदि दो श्लोकों से स्तुति का प्रकार कहते हैं ॥२९॥३०॥

श्लोक—**इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।**
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥३१॥

श्लोकार्थ—राजन् ! द्वापरयुग में इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान् की स्तुति करते हैं । अब अलियुग में अनेक तन्त्रों के विधि-विधान से भगवान् की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो ॥३१॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—हे राजन्! इस प्रकार द्वापर में जगदीश्वर की स्तुति करते हैं। कलियुग में भी नानातन्त्रों के प्रकार से उनका पूजन करते हैं उसे सुनो ॥३१॥

श्लोक—**कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।**
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥

श्लोकार्थ—कलियुग में भगवान् का श्रीविग्रह होता है कृष्णवर्ण काले रंग का । जैसे नीलम मणि में से उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनमें अङ्ग की छटा भी उज्ज्वल होती है । वे हृदय आदि अङ्ग, कौस्तुभ आदि उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदों से संयुक्त रहते हैं । कलियुग में श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करते हैं, जिनमें नाम, गुण, लीला आदि के कीर्तन की प्रधानता रहती है ॥३२॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—रूक्षेपन का निषेध 'त्विषाऽकृष्णम्' पद से करते है कान्ति से अकृष्ण हैं अर्थात् इन्द्रनील मणि के समान उज्ज्वल (चमकीले) हैं। हृदय आदि अंगों से, कौस्तुभ आदि उपाङ्गों से, सुदर्शन आदि अस्त्रों से, सुनन्द आदि पार्षदों से युक्त हैं। 'संकीर्त्तन प्रायैः' अर्थात् कीर्तन, नामोच्चारण और स्तुति ये जिनमें मुख्य हैं ऐसे यज्ञों से विवेकी पुरुष भगवान् को आराधना करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है ॥३२॥

श्लोक—ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।३३।

श्लोकार्थ—वे लोग भगवान् की स्तुति इस प्रकार करते हैं—'प्रभो' ! आप शरणागतरक्षक हैं। आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करने योग्य, माया-मोह के कारण होने वाले सांसारित पराजयों का अन्त कर देने वाले तथा भक्तों की समस्त अभिष्ट वस्तुओं का दान करने वाले कामधेनुस्वरुप हैं। वे तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाले स्वयं परम तीर्थ स्वरूप हैं, शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं। और चाहे जो कोई उनकी शरण में आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकों की समस्त आर्ति और विपत्ति के नाशक तथा संसार-सागर से पार जाने के लिए जहाज हैं। महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूं।३३।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—ध्येयं आदि दो श्लोकों से कीर्तन का प्रकार दिख लाते हैं। हे प्रणतपाल-हे भक्तरक्षक ! भक्तों की रक्षा करने में आप समर्थ हैं इसे हे महापुरुष इस संबोधन से सुचित किया है। आपके चरणारविन्द को मैं सदा प्रणाम करता हूं। सदा का संबंध सबके साथ करना चाहिये जैसे आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने योग्य हैं क्योंकि वे सर्वदा कुटुम्बियों तथा इन्द्रिय आदि से होने वाले पराभव (तिरस्कार) को सर्वदा नष्ट करते हैं। और सर्वदा भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं। गंगा आदि तीर्थ भी आपके चरण का आश्रय (सहारा) लेने से ही सदा सर्वोत्कृष्ट रूप मे पवित्र करने वाले हैं। इसलिए तो आपके चरण की शिव और ब्रह्मा स्तुति करते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि आपके चरण शरण ग्रहण करने वाले के आश्रम भी है। शंका हो सकती है कि जो शिव और ब्रह्मा के लिए भी दुर्लभ है वे साधारण के ऊपर अनुग्रह कैसे करेंगे ? उसका निवारण 'भृत्यार्त्तिहर' से किया है जो कोई भीभृत्य (सेवक) होगा उसकी पीड़ा का वे सदा हरण करेंगे। केवल आगन्तुक पोड़ा का ही हरण नहीं करेंगे किन्तु अनादि जो परम्परागत संसार दुःख रूप जो समुद्र है उससे भी पार करेंगे संसार समुद्र से पार करने में आपके चरण जलयान(जहाज) हैं।।३३।।

श्लोक—त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं,
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्,
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—भगवान् ! आपके चरणकमलों की महिमा कौन कहे ? रामावतार में अपने पिता दशरथजी के वचनों से देवताओं के लिए भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मी को छोड़कर आपके चरण कमल वन-वन घूमते फिरे, सचमुच आप धर्मनिष्ठता की सीमा हैं और महापुरुष ! अपनी प्रेयसी सीताजी के चाहने पर जान-बूझकर आपके चरण कमल मायामृग के पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेम की सीमा हैं। प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूं ॥३४॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—इस प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुति का निरूपण करके अब इस श्लोक में राम की स्तुति करते हैं। हे महापुरुष ! दूसरे जिसको छोड़ नहीं सकते और जिस राज्य सम्पति को देवता भी चाहते हैं उस राज्य सपत्ति को छोड़कर आर्य जो दशरथ पिता उनके वचन से जंगल में गये। यदि किसी दोष के कारण पिता बन में निकाल देता तो राम भजन (आदर पाने) के योग्य नहीं रहते अतः उस शङ्का के करने के लिए राम के लिए 'धर्मिष्ठ' ऐसा पद दिया। राम तो धर्म-मार्ग में स्थित थे पिता ने जो कैकयी से प्रतिज्ञा की थी उसे सत्य करने के लिए ही गये थे। और इस प्रकार के राज्य को छोड़कर भी भक्तवत्सल होने के कारग अपनी प्रियतमा सीता के चाहे हुए मायामृग के पीछे जो कि कपट से सोने का मृग बना था। उस मारीच के पीछे दोड़ने वाले आपके चरणारविन्द को मैं प्रणाम करता हूँ। अथवा 'धर्मिष्ठ' यह भी संबोधन हे सन्धि न करने की इच्छा के कारण आर्य पद के साथ इसकी संधि नहीं हुई। उपर्युक्त का तात्पर्य यह हुआ कि जो चरणारविन्द बन में गये तथा जो चरणारविन्द मायामृग (मारीच) के पीछे दोड़े आपके उन चरणा रविन्द को में प्रणाम करता हूं और सबकी संगति पूर्ववत् हो समझनी ॥३४॥

श्लोक—**एवं युगानुरुपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः।**
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामश्विरो हरिः ॥३५॥

श्लोकार्थ—राजन् ! इस प्रकार विभिन्न युगों के लोग अपने-अपने युग के अनुरूप नाम-रूपों द्वारा विभिन्न प्रकार से भगवान् की आराधना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी पुरुषार्थों के एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही हैं ॥३५॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—'युगानुरूपाभ्यां' इसके साथ 'नामरूपाभ्यां' ऐसा कहना रह गया हैं अत: यहाँ युग के अनुरूप नामरूप से ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिये चारों प्रकार के पुरुषार्थों के स्वामी (देने वाले) भगवान् का आराधन करते हैं ॥३५॥

श्लोक—**कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।**
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥३६॥

श्लोकार्थ—कलियुग में केवल सङ्कीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं। इसलिए इस युग का गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं ॥३६॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—इन चारों युगों में कलियुग ही श्रेष्ठ है अतः 'कलि' यह पद दिया। जो कलियुग के गुणों को जानते हैं वे आर्य श्रेष्ठ, वृद्ध, विवेकी कलियुग की ही प्रशंसा करते हैं। शंका होती है कि कलियुग में तो बहुत से दोष हैं फिर उसकी प्रशंसा क्यों करते हैं इसका उत्तर देते हैं कि जो सारग्राही हैं अर्थात् केवल गुण को ही ग्रहण करने वाले हैं वे इसकी प्रशंसा करते हैं। तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि वह गुण क्या है तो इसका उत्तर देते हैं–जिस कलियुग में भगवान् के नाम के संकीतन मात्र से ही सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं तब उसकी प्रशंसा करना उचित ही है। स्मृति में भी इसका निरूपण है 'सत्युग में ध्यान के द्वारा, त्रेता में यज्ञ के द्वारा, द्वापर में अर्चना (पूजा) के द्वारा जो फल प्राप्त होता है वह कलियुग में भगवान् (केशव) के संकीर्त्तन से ही प्राप्त होता है।' तात्पर्य यह है कि भगवान् के संकीर्तन मात्र से ही कलियुग में पुरुषार्थ सिद्धि होती है ऐसा महान् गुण इसमें है अतः एव गुणी लोग इसकी प्रशंसा करते हैं ॥३६॥

श्लोक—**न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।**

यतो विन्देत परमां शान्ति नश्यति संसृतिः ॥३७॥

श्लोकार्थ—देहाभिमानी जीव संसारचक्र में अनादि काल से भटक रहे हैं। उनके लिए भगवान् की लीला, गुण और नाम के कीर्तन से बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसार में भटकना मिट जाता है और परम शान्ति का अनुभव होता है ॥३७॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—क्योंकि कलियुग में भगवन्नाम का संकीर्त्तन ही इच्छित पुरुषार्थ का साधन है इसलिए इस संसार में चक्कर काटने वाले देहधारियों के लिए भगवन्नाम संकीर्तन के अतिरिक्त दूसरा परम लाभ कोई नहीं है अर्थात् पुरुषार्थ का साधन कोई नहीं है। 'नहि' यहां का 'हि' अवधारणार्थक है क्योंकि नाम संकीर्तन से ही बिना प्राणवियोग के (जीवित अवस्था में ही) परम-मुक्तिरुपा शान्ति को प्राणी प्राप्त कर लेता है। और जन्ममरण के दुःखरुप संसार का नाश हो जाता है॥३७॥

श्लोक—**कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।**

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥३८॥

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।

ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥३९॥

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ।।४०।।

श्लोकार्थ—राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर की प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो; क्योंकि कलियुग में कहीं-कहीं भगवान् नारायण के शरणागत—उन्हीं के आश्रम में रहने वाले बहुत से भक्त उत्पन्न होंगे । महाराज विदेह! कलियुग में द्रविड़देश में अधिक भक्त पाये जाते हैं; जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं । राजन् ! जो मनुष्य इन नदियों का जल पीते हैं, प्रायः उनका अन्तः करण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं ।।३८–४०।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—क्योंकि कलियुग में मुक्ति का उपाय सहज है इसलिए सत्ययुग आदि तीन युगों की प्रजा कलियुग में जन्म लेना चाहती है । उस इच्छा में उनका निश्चय है इसको 'कलौ' पद से दिखाया है । कलियुग में निश्चय ही भगवान् नारायण ही जिनका सर्वश्रेष्ठ आश्रय है ऐसी प्रजा उत्पन्न होगी हम भी उसी तरह के होगे तो कृतार्थ हो जायेंगे इस आशा से जन्म लेना चाहते हैं । देश विशेष भी भक्त होने में कारण होते हैं उनका निर्देश दो श्लोकों में किया जाता है । हे महाराज ! कहीं-कहीं कोई कोई और द्रविड़ आदि देशों में बहुत सी ताम्रपर्णी आदि नदियां हैं । हे मनुजेश्वर ! जो मनुष्य उन नदियों का जल पीते हैं उनमें स्नान करते हैं उनका अन्तः करण निर्मल हो जाता है जिससे वे वासुदेव भगवान् के भक्त हो जाते हैं । हो सकता है किन्हीं के प्रतिबन्धक या पाप अधिक हो उनमें शीघ्र भक्ति नहीं देखी जाती । इसलिए मूल में 'प्रायः' पद दिया है ।।३८-४०।।

श्लोक—**देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां, न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।**
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—राजन् ! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म वासनाओं का अथवा भेदबुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल, प्रेम के वरदानी भगवान् मुकुन्द की शरण में आ गया है, वह देवताओं ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता है; वह किसी के अधीन, किसी का सेवक, किसी के बन्धन में नहीं रहता ।।४१।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—भक्ति का फल क्या है ? इसके विषय में कहते हैं वचन की नकेल (पशु को काबू में करने के लिए नाक में डाली जाने वाली रस्सी) का बन्धन छूट जाने से वह कृतार्थ हो जाता है इसको 'देवर्षि' आदि पद से बताया है । तू भी बन्धन से मुक्त हो जाने के कारण स्वतन्त्र हो गया है यह 'राजन्' इस संबोधन से बताया है । जो मनुष्य अपने कर्त्तापन के अहंकार को छोड़कर

संसार के भय से मुक्त करने वाले शरण्य-शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्द जो मुक्ति देने वाले हैं उन भगवान् की सर्वात्मभाव से जो शरण ग्रहण करता है वह देवता, ऋषि, पितर आदि किसी का किङ्कर सेवक नहीं रहता उनके लिए पञ्चयज्ञ करने के बन्धन में वह नहीं रहता। पञ्चयज्ञों के किये बिना देवता आदि के ऋण से मुक्ति उसे कैसे मिलेगी। ऐसी आशंका करके उसका उत्तर देते हैं कि जो ज्ञान और भक्ति से हीन होते हैं वे लोग ही देवता आदि के ऋणी होते हैं अतः वे उनके लिए किङ्कर होते हैं।।४१।।

श्लोक—**स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य, त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।**
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्, धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः।।४२।।

श्लोकार्थ—जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान् के चरणकमलों का अनन्यभाव से—दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को छोड़कर-भजन करता है, उससे, पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं; परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जाये तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदय में बैठकर सब धो-बहा देते और उसके हृदय को शुद्ध कर देते हैं।।४२।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—यदि ऐसा मान लें कि भगवान् का भक्त विधि के आधीन नहीं है, परन्तु प्रमाद (असाबधानी) से निषिद्धाचरण अवश्य बन सकता है तो उसका प्रायश्चित तो करना ही होगा। उसका उत्तर यह है कि भगवान् का प्यारा भक्त भगवान् से अतिरिक्त देह आदि में तथा अन्य देवता में कभी भाव नहीं रखता अतः भगवान् अपने चरणारविन्द का ध्यानार्चन के द्वारा सेवन करने वाले पुरुष का जिसकी कभी निषिद्धाचरण में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है तथापि किसी तरह आसावधानी से विकर्म (पाप) बन जाये तो उसको भी हृदय में विराजमान वे भगवान् (उस पाप को) नष्ट कर देते हैं उसके लिए अन्य प्रायश्चित की अपेक्षा नहीं है। भगवान् तो परेश हैं ईश्वर के भी ईश्वर हैं इसलिए प्रिय भक्त के पाप नाशन का उनमें सामर्थ्य है। कदाचित् ऐसी आशंका हो कि श्रुति स्मृति तो भगवान् की आज्ञारुप है इसलिए भगवान् की उस आज्ञा को मानना भगवान् कैसे सह सकते हैं अर्थात् भक्त यदि पाप का प्रायश्चित न करेगा तो आज्ञा भङ्ग होने से भगवान् उससे अप्रसन्न हो जायंगे। इसका उत्तर तो 'प्रियस्य' इस पद के द्वारा ही हो जाता है जो अपना प्रिय होता है उस पर कभी कोई अप्रसन्न नहीं होता।।४२।।

नारद उवाच-श्लोक—**धर्मान् भगवतानित्यं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।**
जायन्ते यान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्।।४३।।

श्लोकार्थ—नारदजी कहते हैं— वसुदेवजी ! मिथिलानरेश राजा निमि नौ योगीश्वरों से इस प्रकार भागवतधर्मों का वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने अपने ऋत्विज और आचार्यों के साथ ऋषभनन्दन नौ योगीश्वरों की पूजा की।।४३।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—मिथिलेश्वर निमि ने जयन्ती के पुत्रों की पूजा की ॥४३॥

श्लोक—**ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।**
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—इसके बाद सब लोगों के सामने ही वे सिद्ध अन्तर्ध्यान हो गये । विदेहराज निमि ने उनसे सुने हुए भागवतधर्मों का आचरण किया और परमगति प्राप्त की ॥४४॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—सिद्ध से-कवि आदि सिद्ध । उपातिष्ठन् आचरण करने से ॥४४॥

श्लोक—**त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छ्रुतान् ।**
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निः सङ्गो यास्यसे परम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—महाभाग्यवान् वसुदेवजी ! मैंने तुम्हारे आगे जिन भागवतधर्मों का वर्णन किया है, तुम भी यदि श्रद्धा के साथ इनका आचरण करोगे तो अन्त में सब आसक्तियों से छूटकर भगवान का परमपद प्राप्त कर लोगे ॥४५॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—भगवान् कृष्ण के पिता होने के कारण आप कृतार्थ हैं इसको 'महाभाग' इस संबोधन से बताया है । निष्काम होकर श्रद्धा से युक्त मेरे द्वारा सुने गये इन भागवत धर्मों का आचरण करने से तुम भी परम पद प्राप्त करोगे ॥४५॥

श्लोक—**युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।**
पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी! तुम्हारे और देवकी के यश से तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री कृष्ण तुम्हारे पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुए हैं ॥४६॥

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—शास्त्र की दृष्टि से ऐसा आप के लिए कहा गया है । आप दोनों तो वास्तव में कृतार्थ हैं ही यह 'युवयोः' पद से सूचित है । अर्थात् आप से ऐश्वर्य आदि छः गुणों से पूर्ण ईश्वर आप के पुत्र बने ॥४६॥

श्लोक—**दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः ।**
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥४७॥

श्लोकार्थ—तुमलोगों ने भगवान् के दर्शन, आलिङ्गन तथा बातचीत करने एवं उन्हें सुलाने बैठाने, आदि के द्वारा वात्सल्य स्नेह करके अपना हृदय सुद्धकर लिया है; तुम परम पवित्र हो गये हो ।।४७।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—कृष्ण में यह मेरा पुत्र है इस प्रकार का संदेह करने वाले तुम दोनों पति–पत्नि ने उनके दर्शन, आलिङ्गन आदि से अपनी आत्मा को शुद्ध कर लिया है। भगवत्प्राप्ति में जो प्रतिबन्धक दोष हैं उनको दूर करने से अपनी आत्मा को भगवत्प्राप्ति के योग्य कर लिया। इसलिए अन्य लोगों की तरह तुम दोनों को अपने हृदय को शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ।।४७।।

श्लोक—**वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र शाल्वादयो गतिविलास विलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्तः आकृतधियः शयनासनादौ, तत्साम्यमापुरनु रक्तधियां पुनः किम् ।।४८।।**

श्लोकार्थ—वसुदेवजी ! शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजाओं ने तो वैरभाव से श्रीकृष्ण की चाल-ढाल, लीला-विलास, चितवन, बोलन आदि का स्मरण किया था। वह भी नियमानुसार नहीं, सोते, बैठते, चलते, फिरते-स्वाभाविक रूप से ही। फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गयी और वे सारूप्य-मुक्ति के अधिकारी हुए। फिर जो लोग प्रेमभाव और अनुराग से श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने में कोई सन्देह है क्या ? ।।४८।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—पुत्र आदि में स्नेह करने से तो बन्धन होता है फिर पुत्र स्नेह से वसुदेव की मुक्ति कैसे हुई ? यही तो विषय की विलक्षणता है इसे कैमुतिक न्याय से बताते हैं। वैर से उन भगवान् कृष्ण के गति, विलास आदि से शिशुपाल आदि राजाओं की बुद्धि (तदाकार) भगवदाकार हो गई जिससे वे राजा लोग सोते बैठते समय में भी वैरभाव से कृष्ण का ध्यान करते थे वैसा करने से उन्हें भगवत् साम्य प्राप्त हो गया तो आप जैसे लोग तो अनुराग बुद्धि से उन भगवान् के गति विलास आदि का सोते, बैठते ध्यान करते है फिर आपको भगवत्साम्य प्राप्त हो इसमें क्या कहा जाय ? ।।४८।।

श्लोक—**मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्यें परेऽव्यये ।।४९।।**

श्लोकार्थ—वसुदेवजी ! तुम श्रीकृष्ण को केवल अपना पुत्र ही मत समझो। वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर, कारणातीत और अविनाशी हैं। उन्होंने लीला के लिए मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रक्खा है ।।४९।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—इसलिए हे वसुदेवजी ! तुम तुम्हारे दूसरे पुत्रों की तरह कृष्ण में पुत्र बुद्धि मत करो। माङ् का योग होने से 'अकृथाः' यहाँ अट् नहीं होना चाहिये किन्तु इसे छान्दस

प्रयोग समझना चाहिये। कृष्ण को पुत्र न मानने में दो हेतु हैं कृष्ण सबकी आत्मा होने से सबका उपादान कारण है और जगत् का जन्म, पालन और संहार करने के कारण वो ईश्वर निमित्त कारण हैं और अव्यय-विकार रहित है तो वह पुत्र कैसे हो सकता है तो फिर वह कृष्ण ईश्वर रूप से प्रतीत क्यों नहीं होता ? अपनी संकल्पिकात्मिका माया से उन्होंने नट के समान नाट्य से अपने ऐश्वर्य-ईश्वर भाव को छिपा दिया है अतः मनुष्य रूप में दिखाई देते हैं ईश्वररूप में नहीं ।।४६।।

श्लोक—**भूभारासुरराजन्य हन्तवे गुप्तये सताम् ।**
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ।।५०।।

श्लोकार्थ—वे पृथ्वी के भारभूत राजवेषधारी असुरों का नाश और सन्तों की रक्षा करने के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं और इसी के लिए जगत् में उनकी कीर्ति भी गायी जाती है ।।५०।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—जब भगवान् इस संसार के उपादान और निमित्त कारण आदि हैं तो फिर अवतार ग्रहण करने का प्रयोजन क्या है ? इस आशंका को लक्ष्य करके कहते हैं, पृथ्वी के ऊपर भारभूत जो असुर राजा हैं उनका नाश करने के लिए सज्जनों की रक्षा करने के लिए तथा सब जनों को परमानन्द देने के लिए अवतार लेने से उनका यश सर्वत्र फैल रहा है ।।५०।।

श्रीशुक उवाच-श्लोक—**एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोतितिस्मितः ।**
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ।।५१।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं–प्रिय परीक्षित् ! नारदजी के मुख से यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और परम भाग्यवती देवकीजी को बड़ा ही विस्मय हुआ। उनमें जो कुछ मायामोह अवशेष था, उसे उन्होंने तत्क्षण छोड़ दिया ।।५१।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—नारदजी से इस इतिहास को सुनकर भगवान् के माता-पिता होने के कारण देवकी और वसुदेव दोनों ही भाग्यशाली थे इसलिए उन दोनों के लिए 'महाभाग' शब्द का प्रयोग किया है। 'आत्मनः' अर्थात् अन्तःकरण का और देह आदि में जो अहन्ताममता रूप अध्यास (विपरीत भावना) थी उसका परित्याग किया ।।५१।।

श्लोक—**इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद यः समाहितः ।**
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५२।।

श्लोकार्थ—राजन् ! यह इतिहास परम पवित्र है जो एकाग्रचित्त से इसे धारण करता है, वह अपना सारा शोक-मोह दूर करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है ।।५२।।

बाल प्रबोधिनी व्याख्या—प्रकृत इतिहास के श्रमण आदि का फल बताते हैं। सुननेवाले और कहनेवालों का कल्याण करने वाला, यह इतिहास है इसे जो पुरुष एकाग्रचित होकर धारण करता है वह इसी जन्म में मोक्ष प्रतिबन्धक पाप को दूर करके ब्रह्मभाव को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है ।।५२।।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य के वंश में उत्पन्न होने वाले गोपाल के पुत्र श्रीमुकुन्दरायजी प्रभु के चरणारविन्द की सेवा के अधिकारी श्रीगिरिधरजी महाराज ने भजनानन्द की सिद्धि के लिए भगवान् की यह बाल प्रबोधिनी टीका बनाई उसमें एकादश स्कन्ध में जीवन्मुक्ति निरूपण प्रकरण में भक्तिहीनों के लिए फल का बोध न करने वाले इस पञ्चम अध्याय का विवरण समाप्त किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध में जीवन्मुक्ति प्रकरण जो भक्तिहीन यद्वा भक्तों के फल निरूपण नाम से कहा जाता है उस पञ्चम अध्याय की पूर्त्ति हुई।

—: राग विहाग :—

जो पै श्रीवल्लभ धरते न रूप।
अर्थ श्री भागवत को करिसकतो, पतित परते सब कूप ।।१।।

अध, गज वन बसनन नहीं पावत, नाम सुनत मृग भूप।
विष्णुदास चरनन छाया तक, अकुलानो भव धूप ।।२।।

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहिं अंधेरो ।।१।।

साधन और नहीं या कलि में, जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध, आँधरो, बिन मोल को चेरो ।।२।।

॥ श्रीमद्सुबोधिनी--एकादशस्कन्धश्लोकानुक्रमणी ॥

		अ० श्लो० पृ०
अ-	अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु	३,३६.११८
	अन्तः कलि यदुकुलस्य	१,४.६
	अत आत्यन्तिकं क्षेमं	२,३०.५५
	अत्राप्युदाहरन्तीमम्	२,१४.४२
	अथ भागवतं ब्रूत	२,४४,६६
	अर्चादौ हृदये चापि	३,५०.१२६
	अर्चायामेव हरये	२,४७.७२
	अविद्यमानोप्यवभाति हि द्वयोः	२,३८.६४
	अव्याहतेष्टगतयः	२,२३.४६
	अहं किल पुरानन्तं	२,८.३७
आ-	आच्छिद्य कीर्ति सुश्लोकां	१,७-१२
	आत्मानं तन्मयं ध्यायन्	३,५४.१३१
	आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे	४,५.१३८
इ-	इति प्रगृणतां तेषां	४,१२.१४७
	इति भागवतान् धर्मान्	३,३३.१११
	इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्	३,७.८६
	इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः	४,६,१४३
	इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्त्या	२,४३.६८
	इन्द्रायानम्य सदसि	४,१६.१४६
	इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः	३,१५.६३
	इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिवृक्षतीति	४,७.१४०
	इष्टं दत्तं तपो जप्तं	३,२८.१०६
ई-	ईश्वरे तदधीनेषु	२,४६.७१
ए-	एभिर्भूतानि भूतात्मा	३,३.८३
	एवमग्न्यर्कतोयादौ	३,५५.१३२
	एवं कृष्णात्मनाथेषु	३,२६.१०७
	एवं ते निमिना पृष्टाः	२,३२.५७
	एवं प्रलब्धा मुनयः	१,१६.२०
	एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वम्	३,४२.१२१
	एवं व्यवसितो राजन्	१,५.१०
	एवं लोकं परं विद्या	३,२०.६८
	एवंविधानि कर्माणि	४,२३.१५६
	एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या	२,४०.६६
	एवं सृष्टानि भूतानि	३,४.८७
	एषा माया भगवतः	३,१६.६३
ओ-	ओमित्यादेशमादाय	४,१५.१४६
क-	कर्मयोगं वदत नः	३,४१.१२१
	कर्माकर्मविकर्मेति	३,४३.१२२
	कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्	३,६.८८
	कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि	१,११.१७
	कर्माण्यारभमाणानां	३,१८.६६
	कविर्हरिरन्तरिक्षः	२,२१.४७
	कश्चिन् मत्स्योग्रसील् लोहं	१,२२.२५
	कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा	२,३६.६२
	किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः	१,१८.२२
	कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः	१.१.१
	को नु राजन्निन्द्रियवान्	२,२.३०
	क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य	१,१३.१६
	क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्	३,३२.११०
ख-	खं वायुमग्निं सलिलं महीं च	२,४१.६७
ग-	गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिः	३,५३.१३१
	गुणैर्गुणान् स भुञ्जानः	३,५.८७
	गुप्तोप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये	४,१८.१५२
	गृहीत्वापीन्द्रियै रर्थान्	२,४८.७२
	गोविन्दभुजगुप्तायां	२,१.२७
त-	त एकदा निमेः सत्रम्	२,२४.५०

अ० श्लो० पृ०

त एते भगवद्रूपं २,२२.४८
तच् चूर्णयित्वा मुसलं १,२१.२४
तच् चोपनीय सदसि १,१६.२३
तच् छ्रुत्वा तेतिसन्त्रस्ता: १,१७.२२
ततो विराजमुत्सृज्य ३,१२.६१
तत्र भागवतान् धर्मान् ३,२२.१०२
तमाहुर्वासुदेवांशं २,१६.४४
तमेकदा तु देवर्षि २,३.३०
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत ३,२१.१००
तानाह देवदेवेश: ४,१४.१४८
तान् दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान् २,२५.५०
तान् रोचमानान् स्वरुचा २.२७.५१.
ते देवानुचरा दृष्ट्वा ४,१३.१४८
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषै: १,१४.१६
तेषां नव नवद्वीप– २,१६.४५
तेषां वै भरतो ज्येष्ठ: २,१७.४४
त्रिभुवनविभवहेतवेप्यकुण्ठस्मृति: २,५३.७६
त्वया परमकल्याण: २,१३.४१
त्वां सेवतां सुरकृता बहवोन्तराया: ४,१०.१४४

द- दुर्लभो मानुषो देह: २,२६.५४
देवासुरे च युधि दैत्यपतिं ४,२०.१५४
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां य: २,४६.७४

ध- धातूपप्लव आसन्ने ३,८.८६
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां ४,६.१३८
धर्मान् भागवतान् ब्रूत २,३१.५६

न- न कामकर्मबीजानां २,५०.७४
न यस्य जन्मकर्मभ्यां २,५१.७५
न यस्य स्व: पर इति २,५२.७६
नवाभवन् महाभागा: २,२०.४६
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं ३,४५.१२५
नात्मा जजान न मरिष्यति ३,३८.११६
नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्– ३,२.८२
नारायणाभिधानस्य ३,३४.१११
नित्यार्तिदेन वित्तेन ३,१६.६७
नि:क्षत्रियामकृत गां त्रि:सप्तकृत्व: ४,२१.१५५
नैतन् मनो विशति वागुत ३,३६.११३

अ० श्लो० पृ०

नैवान्यत: परिभवोस्य भवेत् कथञ्चित् १,३३.८

प- परस्परानुकथनं ३,३०.१०८
परस्य विष्णोरीशस्य ३,१.८२
परोक्षवादो वेदोयं ३,४४.१२३
पातालतलमारभ्य ३,१०.६०
पाद्यादीनुपकल्प्याथ ३,५१.१३०
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् १,१५.२०
प्रियव्रतो नाम सुत: २,१५.४३

ब- बिभ्रद् वपु: सकलसुन्दरसन्निवेशं १,१०.१६
ब्रह्मण्यानां वदान्यानां १,८.१५
ब्रह्मंस्तथापि पृच्छाम: २,७.३५

भ- भक्ति: परेशानुभवो विरक्ति: २,४२.६८
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखां २,५४.७७
भगवन् भवतो यात्रा २,४.३२
भगवन्तं हरिं प्राय: ५,१.१६२
भगवान् ज्ञातसर्वार्थ: १,२४.२६
भजन्ति ये यथा देवान् २,६.३४
भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात् २,३७.६३
भूतानां देवचरितं २,५.३३
भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टै: ४,३.१३५
भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य १,३.८
भूमेर्भराबतरणाय यदुष्वजन्मा ४,२२.१५७

म- मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नै: १,२३.२५
मन्येकुतश्चिद् भयमच्युतस्य २,३३.५८
मन्ये भगवत: साक्षात् २ २८.५२
मुखबाहूरुपादेभ्य: ५,२.१६४

य- य आशु हृदयग्रन्थिं ३,४७.१२७
य एषां पुरुषं साक्षात् ५,३.१६५
यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेश: ४,४.१३६
यथा विचित्रव्यसनात् २,६.३८
यथैतामैश्वरीं मायां ३,१७३.६५
यन्निमित्त: स वै शाप: १,६.१५
यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या ३,४०.११६
यानास्थाय नरो राजन् २,३५.६१

		अ० श्लो० पृ०
	यानि यानीह कर्माणि	४,१.१३३
	ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैः	१,२.५
	ये वै भगवता प्रोक्ताः	२,३४.६०
	यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्	४,२.१३४
र-	राजन्नेवं कृतप्रश्नः	२,१०.३९
ल-	लब्धानुग्रह आचार्यात्	३,४८.१२८
व-	वायुना हृतगन्धा भूः	३,१३.६१
	विदेहस्तानभिप्रेत्य	२,२६.५१
	विश्वामित्रोसितः कण्वः	१.१२ १९
	विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्	२,५५.७८
	विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः	४.८ १४१
	वेदोक्तमेव कुर्वाणः	३,४६.१२६
श-	शतवर्षा ह्यनावृष्टिः	३,९.६०
	शुचिः सम्मुखमासीनः	३,४९.१२९
	शौचं तपस्तितिक्षां च	३,२४.१०३
	श्रद्धां भागवते शास्त्रे	३,२६.१०५
	श्रवणं कीर्तनं ध्यानं	३,२७.१०६
	शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः	२,३९.६५

		अ० श्लो० पृ०
	श्रुतोनुपठितो ध्यातः	२,१२.४०
	श्रुत्वामोघं विप्रशापं	१,२०.२४
स-	सत्त्वं रजस्तम इति	३,३७.११५
	संस्तुन्वतोब्धिपतितान्	४,१९.१५३
	स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां	२,१८.४५
	सम्यगेतद् व्यवसितं	२,११.४०
	सर्वतो मनसोसङ्गम्	३,२३.१०२
	सर्वत्रात्मेश्वर दीक्षां	३,२५.१०४
	सर्वभूतेषु यः पश्येत्	२,४५.७०
	साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां	३,५२.१३०
	सांवर्तको मेघगणः	३,११.६१
	स्मरन्तः स्मारयन्तश्च	३,३१.१०९
	स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य	३,३५.११२
	स्वमूर्त्या लोकलावण्य—	१,६.११
ह-	हृतरूपं तु तमसा	३,१४.६२
	हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं	४,१७.१५०
क्ष-	क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुत-	४,११.१४५

श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध (पंचम अध्याय) की श्लोकानुक्रमणिका

		अ. श्लोक पृष्ठ
आ-	आपस्य बुद्धिमक्कथा	५,४९.१८४
इ-	इतिद्वापर उर्वीश	५.३१,१७७
	इतिहास प्रिमं पुण्यं	५,५२.१८५
ए-	ऐत आत्महनोऽशान्ता	५,१७.१७३
	एवं युगानुरुपाभ्यां	५,३५.१७९
	एतच्छ्रुत्वामहाभागो	५,५१.१८५
क-	कर्मण्य को विदाः स्तब्धा	५,६,१६६
	कस्मिन् काले स भगवान्	५,१९.१७३
	कलिसभजयन्त्यार्या गुणज्ञाः	५,३६.१७९

		अ. श्लोक पृष्ठ
का-	कावेरी च महापुण्या प्रतीचो	५,४०.१८१
	कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु	५,२०.१७४
	कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो	५,२१.१७४
	कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं	५,३२.१७७
	कृतादिषु प्रजा राजन्	५,३८.१८०
	क्वचित् क्वचिन्महाराज	५,३९.१८०
त-	ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः	५,४४.१८३
	तं तदा मनुजा देवं	५,२५.१७५
	तं तदा पुरुषं मर्त्या	५,२८.१७६
	त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान्	५,४५.१८३

		अ० श्लोक पृष्ठ
द-	दर्शनालिङ्गजालापैः	५,४७.१८३
	दूरे हरिकथाःकेचिद्	५,४.१६६
	देवर्षी भूतात्पनृणांपितृणां	५,४१.१८१
	द्विषन्तः परकायेषु	५,१५.१७२
	द्वापरे भगवञ्छयामः	५,२७.१७६
ध-	धनं च धर्मैकफलं यतो वैं	५,१२.१७०
	धर्मान् भगबतानित्यं	५,४३.१८२
	ध्येयं सदा परिभवघ्नमभिष्टदोहे	५,३३.१७८
न-	नमस्ते वासुदेवाय नमः	५,२९.१७७
	नारायणाय ऋषेय पुरुषाय	६,३०.१७७
	न ह्यतः परमो लाभोदेहिनां	५,३७.१८०
भ-	भूमारासुर राजन्यहन्तवे	५.५०,१८५
म-	मनुष्यास्तु तदा शान्ता	५,२२.१७४
य-	य एषां पुरुषंसाक्षादात्म	५,३.१६५
	यद घ्राणभक्षोविहितः	५,१३.१७०
	युवयोः रवलु दम्पत्योयशसा	५,४६.१८३

		अ० श्लोक पृष्ठ
	ये केवल्यम सम्प्राप्ता ये	५,१६.१७२
	ये त्वनेवं विदो असन्तः	५,१४.१७१
र-	रजसा घोर संकल्पाः	५,७.१६७
ल-	लोके व्यवायामिष मद्यसेवा	५,११.१६९
व-	वदन्ति ते न्योन्यमुपासित	५,८.१६७
	विप्रोराजन्य वैश्यो चहरेः	५,५.१६६
	विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः	५,२६.१७६
	वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल	५,४८.१८४
	व्यक्त्वा सुदुस्त्य जसुरे	५,३४.१७८
श्र-	श्रिया विभूत्या भिजनेन	५,९.१६८
स-	सर्वेषुशश्वत्तनु भुत्स्व षास्वित	५,१०.१६८
	स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य	५,४२.१८२
ह-	हित्वा त्यायासरचिता	६,१८.१७३
	हंस सुपर्णो वैकुण्ठो	५,२३.१७५
त्र-	त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ	५,२४.१७५

राग विहाग

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जग माँहि अंधेरो ।।१।।

साधन और नहिं या कलि में, जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहे दुबिध, आँधरो, बिनामोल को चेरो ।।२।।

——

।। श्री हरिः ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महामहोत्सव
प्रकाशन

वृत्रासुर चतुःश्लोकी

श्री मद्विठ्ठलेश प्रभु चरण
विरचित श्री सुबोधिनी व्याख्या एवं श्रीमद्गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज कृत
'प्रकाश' राष्ट्रभाषानुवाद सहित

जन्माष्टमी,
वि.सं. २०३४
दिनांक ६ सितम्बर १९७७

सादर भेट
संस्था के सदस्यों को

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)
मानधना भवन चौपासनी मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

।। श्री हरिः ।।

अवतरणिका

श्री मद्भागवत महापुराण को श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने भगवान् (श्रीनाथजी) का स्वरूप स्वीकार किया है द्वादश स्कन्ध, बारह प्रभु के मुख्य अंग हैं। प्रथम और द्वितीय स्कन्ध से कथा का आरम्भ होता है जिनमें वक्ता और श्रोता के लक्षण तथा तीसरे स्कन्ध से बारहवें स्कन्ध में प्रभु की सर्ग विसर्गादि दस लीलाओं का वर्णन है। छठे स्कन्ध में 'पोषण तदनुग्रह' भगवान् की पुष्टि लीला का वर्णन है। इस स्कन्ध के प्रथम तीन अध्यायों में अजामिल-उपाख्यान से भगवान् के नाम के महात्म्य तथा इससे आगे अन्य पुष्टि लीला का वर्णन करके ग्यारहवें अध्याय में भक्ति मार्ग को प्रकट करने के लिये इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध के समय का प्रसंग है, वृत्र ने जो वचन इन्द्र के प्रति कहे हैं उनसे वृत्र पर भगवत्कृपा का फल प्रकट होता है इसलिये वृत्रासुर की श्रेष्ठ भक्ति से सन्मुख प्रकट हुए भगवान् को चार श्लोकों में चतुर्विध पुरुषार्थ की प्रार्थना जो वृत्र ने की है इससे इसका नाम 'वृत्रासुर चतुःश्लोकी' है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने, प्रथम तीन स्कन्धों की सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण की तब प्रभु आज्ञा से दशम स्कन्ध निरोध लीला की व्याख्या प्रारम्भ करते समय यह विचार करके कि मेरा प्रादुर्भाव भूतल पर पुष्टिमार्ग के प्रकट करने के लिये हुवा है सो यह पुष्टि प्रकरण अवश्य कहना चाहिये इसलिए निम्न कारिका आप श्री ने कही—

कारिका—**पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेवहि।**
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम् ।।

इस कारिका का आशय लेकर श्रीमद् बिट्ठलेश्वर प्रभु चरण ने सम्पूर्ण चतुःश्लोकी की सुबोधिनी व्याख्या की है परन्तु चतुर्थ श्लोक की व्याख्या समझना कठिन होने से उसकी विवृत्ति पर गोस्वामि हरिरायजी महाप्रभु एवं गोस्वामी वल्लभजी महाराज की 'टिप्पणी' है तथा गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज का 'प्रकाश' है जिसका आश्रय लेकर उसका अनुवाद ब्रजभाषा में वृहद्वन निवासी प.भ. नारायणदास वंशीय स्वामि रूपकिशोरजी शर्मा ने किया है। परन्तु अब तक सुबोधिनीजी का अनुवाद राष्ट्रभाषा में होने से विद्वद्-भोगी ब्रज भाषा का अनुवाद (इस संस्था के अनुवाद की एक ही भाषा रखने के लियें) सरल राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में ही दिया है।।इति शुभम्।।

तदीयजन कृपाकांक्षी—
नन्ददास (रामचन्द्र)

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

अथ वृत्रासुर-चतुःश्लोकी

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण वृत्रचतुश्लोकी की सिद्धान्त सूचिका "पुष्टिमार्गेहरेर्दास्य" यह अन्त की एक कारिका श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने कही है, इसका तातपर्यार्थ हृदय में धारण करके अन्य कारिका तथा श्री सुबोधिनी व्याख्या श्रीमद्‌गोस्वामी श्री विठ्ठलेश प्रभु चरण ने की है, यहाँ एक श्लोक से मंगलाचरण करते हैं।

प्रसीदन्तु सदा रासलीलारसपदोधिषु ।
निष्कलंक कलानाथो भवद्वाचोस्मदीश्वराः ।।

हे श्रीवल्लभवैश्वानर प्रभो ! सर्गविसर्गादि दशविध, प्रभु की रास लीला को धारण करने वाले स्कन्धरूप समुद्र में विचरने वाले निष्कलंक चन्द्रमा के समान आपके वचन, हमारे ईश्वर अर्थात हमारे अन्तःकरण के नियामक, लीलारस स्वरूप के ज्ञान प्रदान करने वाले हमारे ऊपर प्रसन्न होवो ।।१।। इस प्रकार मंगलाचरण करके पूर्व प्रकरणार्थ बोध के लिए निम्न कारिका कहते हैं।

पूर्वमिन्द्रं प्रति प्राह ततो भक्त्याग्रतो हरिं ।
दृष्ट्वा तं प्रार्थयामास, पुष्टिदृष्टि फलायतः ॥

व्रत्र चतुश्लोकी के पहले वृत्र ने इन्द्र को जो वचन कहे हैं, उन्हें हम संक्षेप में कहते हैं। वृत्र बोला कि हे अधमाधम इन्द्र ! तू मेरा शत्रु जो मेरे सम्मुख खड़ा है, यह बहुत अच्छा हुआ, तू ब्राह्मण को, अपने गुरु को और भाई को मारनेवाला है, इसलिये इसी समय अपने तीक्षण त्रिशूल से तेरे पत्थर के समान कठोर हृदय को छेदकर के आज मैं अपने भाई विश्वरूप से उऋण हो जाऊंगा ।।१।। तूने स्वर्ग की कामना से, जो ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञानी, मंत्रदाता, गुरु, निष्पाप, भगवद्भक्त, यज्ञ दीक्षित-मेरे बड़े भाई विश्वरूप को आचार्य बनाकरके, विश्वास देकर के उसके मस्तक को अत्यधिक निर्दयी बधिक जैसे पशु के मस्तक को काटते हैं, वैसे ही तूने काटा है ।।२।। इसलिये लज्जा, लक्ष्मी, कांति, कीर्त्ति, दया, आदि से तू रहित है। तू अपने किये हुए बुरे कामों के कारण राक्षसों से

भी तू निन्दा करने योग्य है। मेरे इस त्रिशूल से तेरे शरीर के कटने से भी तेरी कठिनता से मृत्यु होगी। ऐसे बुरे काम करने वाले तेरे इस शरीर को कोई भी स्पर्श नहीं करेगा, इसलिये बिना अग्नि संस्कार के तुझे गिद्ध ही खाएँगे ।।३।। बुरे काम करने वाले के अर्थात् तेरे जो अनुयायी हैं, जो युद्ध में शस्त्र लेकर मेरे ऊपर प्रहार करेंगे, उनके भी गलों को अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से छेद करके सगणों सहित भूतनाथ भैरवादिकों का भजन करूँगा ।।४।। परन्तु हे वीर ! इस युद्ध में किसी की भी जय पराजय निश्चित नहीं है, इसलिये हे इन्द्र ! यदि इस युद्ध में इस वज्र से मेरी सेना को मारकर मेरे मस्तक को तू ही काटेगा, तब इस देह की भूतों के लिये बलि (भेंट) दे करके उनसे उऋण होकर के हरि भक्तों की सर्वस्व जो हरि के चरण कमल की धूल है उसे प्राप्त होऊंगा ।।५।। हे सुरेश ! यह तेरा वज्र हरि के तेज मे युक्त है, इस वज्र को तेरे आगे खड़ा मैं जो तेरा शत्रु हूँ, मरे ऊपर क्यों नहीं छोड़ताहैं ? हे सुरेश ! तू सन्देह मत कर, जैसे सूर्य (कंजूस) से की हुई याचना निष्फल जाती है, वैसे इस वज्र का प्रहार गदा की भांति निष्फल नहीं जाएगा ।।६।। क्योंकि हे इन्द्र ! यह मुझे निश्चय है कि यह तेरा वज्र हरि के तेज से, युक्त पेना (तेज) है, और तू विष्णु की शिक्षा मानकर भगवद प्रेरणा से ही यहां आया है। इसलिये इस वज्र से तू मुझे जीत। क्योंकि जिस पक्ष में विष्णु रहते हैं, उसी पक्ष की जीत होती है, वहाँ ही जय, श्री लक्ष्मी आदि गुण निवास करते हैं ।।७।। इस प्रकार इन्द्र से कहकर अपने दृढ़ निश्चय को कहता है। वृत्र बोला कि भगवान् संकर्षण ने इस प्रकार के भक्ति मार्ग का मुझे उपदेश दिया है। उसके अनुसार ही हरिचरणारविन्द में दृढ़—पूर्वक अपने मनको धारण करके तेरे वज्र के वेग से कटी है कर्म बन्धन रूप आसुरी देह जिसकी, ऐसा जो मैं हूँ, हरिचरणारविन्द में प्राप्त होऊंगा ।।८।। और यह भी निश्चय है कि हरि-चरणारविन्द में जिनकी मति है, ऐसे अपने प्रेमी भक्तों को भगवान् अपनाकर अंगीकार करते हैं। उनको स्वर्ग भूमि और रसातल की संपत्ति नहीं देते हैं, क्योंकि इनके कारण ही प्राणियों में द्वेष, मन की चंचलता मानसिक व्यथा, कलह और अनेक व्यसन होते हैं और इन सबकी प्राप्ति में, रक्षा में, वृद्धि में अनेक प्रकार के परिश्रम करने पड़ते हैं, और दुःख सहने पड़ते हैं ।।९।। हे शक्र ! भगवान् अपने भक्तों के धर्म, अर्थ, कामरूप, तीनों वर्गों के साधन में जो परिश्रम है, उनका नाश हमारे श्रीपति ही विधान करते हैं। इस त्रिवर्ग साधन परिश्रम के नाश से ऐसा प्रतीत होता है कि यह भगवदनुग्रहरूपी प्रसन्नता है। यह भगवान् के अनुग्रह का प्रसाद, हरिचरणकमल के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है प्रिय जिसको, उनके गोचर दृष्टिगोचर है, अर्थात् सुलभ है और स्वर्गादि सुखा-भिलाक्षी को दुर्लभ है, अर्थात् मैं इन्द्र हूं, यह स्वर्ग मरा है, इस अभिमान् से तुझे स्वर्गसुख की अभिलाषा है। इसीलिये ही भगवान् ने इस वज्र से विजय होने का उपाय तुझे बताया है। हे शक्र ! यह संबोधन, पद से यह भाव सूचित किया है ।।१०।। इस प्रकार इन्द्र से कहने के पश्चात् हरि के स्मरण से हृदय में बढ़ी हुई जो प्रेमानन्दरूप, उत्कृष्ट भक्ति, उस भक्ति के उद्रेक से श्री हरि के चरण कमलों के प्रेमी सर्वत्यागी, निश्कंचन भक्त, वृत्र के सन्मुख स्थित जो कोटि काम लावण्य-

मूर्ति श्रीहरि जिनके दर्शन करके वृत्र भगवान् से ऐसी प्रार्थना करने लगा कि जिस प्रार्थना के वचनों से 'पुष्टि' (हरि की कृपा) का फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है, अर्थात् भगवान् की कृपा के बिना ऐसे पार्थनीय वचन अन्य कोई नहीं कह सकता है, जैसे कि वृत्रासुर ने कहे हैं। ये प्रार्थनीय वचन आगे चार श्लोकों में कहे हैं।

ननु पुरुषार्थाश्चत्वारस्तत्र त्रिवर्ग बिघातं भगवानेव करोति, मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षित एव इति भक्तिमार्गे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्यति, इत्याशंक्य भक्तिमार्गीयं तच्चतुष्टयं भिन्नमेवेत्याह चतुर्भिः ।।

आद्ये तु पुष्टि मार्गीयो धर्मः स्मरण कीर्तने ।
सेवा चेति त्रयं तेन प्रार्थितः स निरूप्यते ।।

आत्मनश्चाधिकारित्व मुत्तमं दीन भावतः ।
प्रार्थनीयतया तस्य साधनं च कृपोच्यते ।।

वृत्रासुर अपने मन में शंका समाधान करता हुआ कहता है कि इस जगत् में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। उनमें से भक्तों के तीन वर्गों का अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का नाश तो भगवान् ही कर देते हैं, और चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की इच्छा भक्तों को होती नहीं है, तो भक्ति मार्ग में कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है। मानों अपने मन में ऐसी शंका करके समाधान-पूर्वक वृत्र कहते हैं कि मर्यादा मार्ग के धर्मादि चतुष्टय से पुष्टि भक्ति मार्ग को धर्म आदि चतुष्टय अलग ही विलक्षण है। यह प्रकट करता हुआ मर्यादामार्ग के चतुवर्ग का निरादर कर भगवत्कृपा साध्य जो पुष्टिमार्गीय धर्मादि चतुर्वर्ग की प्रार्थना "अहं हरे" इत्यादि चार श्लोकों में करता है। वहां प्रथम श्लोक में पुष्टि भक्तिमार्गीय धर्मनिरूपण है। इससे ही वृत्र ने श्री हरि नाम स्वरूप स्मरण हरि के गुणों का कीर्तन तथा प्रेम सेवा इन तीन कर्मों की प्रार्थना की है ।।११।। और मुझे दासभाव से अंगीकार करने में एक हरि की कृपा ही साधन है, और दीनभाव से प्रार्थना करके अपने को दासभाव में उत्तमाधिकारी सूचित किया हैं।

तत्र प्रथमं धर्मं प्रार्थयन्नधिकारित्वं निरूपयति अहमिति ।

अहं हरे तव पादैकमूल—
दासानुदोसो भवितास्मि भूयः ।।

मनः स्मेरतासुपतेर्गुणानां
गृणीतवाक्कर्म करोतु कायः ।।१।।

हे हरे ! अहं तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भविष्या मीत्यर्थः । ननु सर्वस्यापि दुःखात्यन्ताभावोऽपेक्षितः स च मोक्षं विना न भवतीति किं दास्येनेत्यत आह। हे हरे ! इति संबोधनं, अत्रायं भावः दास्येहित्वमेव दासानां त्रिविधमपि दुःखमजनयसि मोक्षे तु ज्ञानं तच्च तव धर्मस्तेन धर्मपेक्षया धर्म्याश्रयमेव युक्तं, किं च, मोक्षे दुःखनिवृत्तावपि प्रभुकृपया मम दुःखं गतमतोहं सुखेन वर्ते इति भावस्तुदुर्लभ एव भेदाभावात् दास्ये तु न धर्माश्रयमेत तकेत्याशयेनास्मच्छब्देन भेदमुपपादयति । अहमिति, ननु दास्यं कथं सेत्स्यतीत्यत आह, 'तवेति' त्वदीयोहमित्यर्थः । तेनावयोः सेव्यसेवकभावः सहजः इति निश्चितमन्यथा त्रिवर्गविघातमसुरत्वेपि सतिकथं कुर्यात् । ततो मोक्षे चानधिकार उक्तः । एवं चेत्कथं दास्यं न करोषीत्यत आह 'भवितेति' जीवस्य त्वदीयत्वेपि देहस्यासुरत्वेनायोग्यत्वाद्देहान्तरे दासो भविष्यामित्यर्थः । अतस्त्वदनुग्रहेण तथा भवितेत्याग्रे विश्वासमाह । 'अस्मीति' साक्षात्प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाऽभिमानेन भक्तान्तरेऽपराधसंभवात्प्रभुदास्यापि भ्रंशो भवेत्तच्चानुभूतं चित्रकेतुदशायां अतः परं दास्यत्वेन दैन्यमेवोचितमित भावः । अथवा, तवेत्यादि पद समुदायेन मोक्षादिक्रमेण वक्ष्यंमाणपुरुषार्थचतुष्टेयप्यधिकारूपं चतुर्विधदास्यमुच्यते । तत्र पुष्टिमार्गे हि मोक्षो भजनानंदानुभवः, अनेन सेवतृप्तिनेद सूच्यते, स च देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणयुक्तानामेव, अक्ष एवतां । फलमिदं न परं विदाम इत्यत्र श्रुतिप्रतिपादितः तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं भवामदास्य, इत्थमुक्तम् । अतस्तवेत्यसमासः । अन्यथात्वत्पादेति वदेत् तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा । अर्थाद्व्रजस्थितभक्ता एवतेंऽघ्रिमूलं प्राप्ताः । "तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन-तेऽघ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्व दुपासनाशाः । त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामास्तप्तात्मनां पुरुषभूषणदेहि दास्यं" इति तेषामेवोक्तेः । तेन कामधिकाररूपं तद्दास्यमुक्तमन्यथा कामसिद्धेः । अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा । अनुपदेन तद्दासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तं । अतस्तद्दास्यत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तं ननु सत्संगभावादेवं भावस्तव कथं जात, इत्यत-आह 'भूय इति' पूर्वमहं चित्रकेतुर्दास एव स्थितोऽतः पुनरपि तथा भवितेति भावः । एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्य तरतम भावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति असुपतेरिति, गुणा नामिति च कर्मणि षष्ठी । तथा च मनोऽसुपतिं स्मरेन चिंतयेत् । स्मरणस्यात्मसुखैकसाधनत्वादात्मनेपदं । वाक् तस्यैव गुणान्गृणीत कीर्तयेत् । कीर्तनस्यापि मुख्यः । स्वार्थः एव, परार्थस्तु आनुषङ्गिक इत्यात्मेनपदम् । कायस्तस्यैव कर्मसेवां करोतु । सेवा तु यथा प्रभुसुखं भवति तथा कियते, नतु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वंभतः परस्मैपदं । स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनंसापेक्षत्वाद्विधिरुक्तः । सेवायां स्नेह एव नियामकः स च प्रभुकृपैकसाध्य, इति तत्राशीर्निरूपिता ॥१॥

'हे हरे ! अहं तव पादैकमूलंदासानुदासोऽस्मि, भूदाः भवितास्मीतिसंबंध'—हे भगवान् ! आपके चरण कमल मूल ही है, एक आश्रय जिनको, ऐसे आपके दासों का अनुवर्ती आपका मैं दास हूँ और "भूयः" जन्मजन्मान्तर में भी हमेशा आपका दास ही रहूँ । यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ हैं, और अन्तर्यामी हैं, फिर भी वृत्र अपने मन में यह शंका करके कि बार-बार के जन्म-मरण के दुःख से

दुःखी होकर यह वृत्र मेरी शरण में आया है। इसलिये इसको मोक्ष दे दूं। दास होने में इसका क्या कार्य सिद्ध होगा ? ऐसी शंका में कहते हैं कि हे हरि ! इस संबोधन से यह सूचित किया है कि हरि के दास होने से ही हरि भक्तों के त्रिविध ताप की निवृत्ति होती है। आधिभौतिक (देह संबंधी) आध्यात्मिक (अन्तःकरण सम्बन्धी), आधिदैविक (यमरुद्रादि, देव सम्बन्धी) त्रिविध ताप के तथा अहंताममतारूपा माया के आप ही हर्ता हो, इसलिये ऐसे स्वामी के दास होने में जो आनंद है, वह मोक्ष में नहीं है, और मोक्ष का साधन जो ज्ञान है वह ज्ञान आपका धर्म है, और अखण्ड रूप से आप में विद्यमान हैं। अतः धर्म की अपेक्षा से धर्मी का आश्रय लेना ही मुख्य है। मोक्ष में दुःख निवृत होने के बाद में यह भाव होना दुर्लभ है, कि प्रभु कृपा से मेरा दुःख निवृत हुआ, अब मैं प्रभु की कृपा से सुखी हूं। ऐसा स्वामी और सेवक का भाव तो दुर्लभ ही है। क्योंकि मोक्ष में स्वामी और सेवक का भेद-भाव दूर हो जाता है। स्वामी और सेवक का भाव तो आपकी दासता में ही है। इसलिये आपका सदा दास ही रहूं। यह स्वामी और सेवक का भेद "अहं" पद से सूचित किया है। यदि आप यह कहो कि तू मेरा दास कैसे हो सकता है ? क्योंकि तू तो असुर है, वहाँ कहा है कि तब भी मैं आपका दास ही हूँ। यह जीव आपका अंश है और आप अंशी हैं। इस अंशारी भाव से मैं आपका सदा ही दास हूं। आपका और मेरा सेव्य सेवक भाव सहज सदा का है और पूर्व जन्म में भी आपका दास ही था, और इस समय में भी आपका दास होने में मुझे यह निश्चय है, कि जो मैं आपका दास नहीं होता तो इस आसुरी देह में मेरे त्रिवर्ग का आप नाश नहीं करते, इसलिये इस समय भी मैं आपका दास ही हूं। इस कथन से अपने मोक्ष में अनाधिकारी और दास धर्म में अपना उत्तमाधिकारी होना सूचित किया है। यदि आप यह कहें, कि जब तू मेरा दास है, तब मेरी दासता के कर्मों को क्यों नहीं करता है। जिस पर कहते हैं कि "भविता" यह जीव भगवदीय है, और आपका है, और यह देह आसुरी है, सेवा के योग्य नहीं है। भविष्य में दिव्य देह की प्राप्ति में आपका दास होऊंगा। किन्तु आपके अनुग्रह से ही ऐसा हो सकेगा। अब आगे अपने दास होने में विश्वास प्रगट करते हुए कहता है कि "अस्मि" में पूर्वजन्म में भी चित्रकेतु शरीर से आपका दास ही था, किन्तु अपने उत्तम अभिमान से भक्ताग्रगण्य श्री शिव के अपराध से सती के श्राप से प्रभु के दासत्व से भ्रष्ट हुआ हूँ, और यह आसुरी देह पाई है। यह मैंने चित्रकेतु शरीर में अनुभव किया है। इससे प्रभु की दासता में, दीनभाव से रहना ही उचित है, यह भाव है, अथवा 'तवपद' से आदि से लेकर 'भूय' पदपर्यन्त पदसमुदाय से मोक्षादि उल्टे क्रम से चतुर्विध पुरुषार्थ में अधिकार रूप चतुर्विध दास भाव की प्रार्थना वृत्र करता है। वहां पुष्टि मार्ग में निरन्तर "संयोगवियोगात्मक" रूप से सदा भजनानंद का अनुभव करना ही मोक्ष है। हमेशा भजन (सेवा) के आनन्द के अनुभव से प्रभुसेवा में मनकी अतृप्ति मालुम होती है, या हरि सेवा की "देहेन्द्रियान्तःकरण प्राणयुक्त जीव ही कर सकता है। श्रीहरि की प्रेम सेवा ही फल है। क्योंकि "अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम" श्रुति रूपा गोपीजन ने ऐसे ही कहा है कि इन्द्रियवालों को श्रीनन्दनदन के मुखकमल के दर्शन करना ही परमफल है,

और 'पर' जो मोक्ष है, वो परमफल नहीं है, क्योंकि धर्म के निर्णय करने में हम श्रुति ही प्रमाण है। हमारा जाना हुआ धर्म अन्यथा नहीं हो सकता है। यह हम जानते हैं, क्योंकि मोक्ष ने तो साधन में ही इन्द्रियादि की विफलता है। इससे हरिलीला स्वरूप की सेवा 'देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण' से करनेवाली श्रुतिरूपागोपीजन का ऐसा कथन है, इससे सदा सब इन्द्रियों से भजन के आनन्द का अनुभव करना ही मोक्ष है। ऐसे मोक्ष में दासका ही अधिकार है। क्कोंकि गोपीजन ने दास भाव की ही प्रशंसा की है कि "भवामदास्यं" आपके अलकावृत मुखादि को देख कर हम आपकी दासी हुई हैं, यहां गोपीजन ने दासत्व ही स्वीकार किया है, इससे भजनानन्द मोक्ष में हरिदास ही अधिकारी है। इससे ही कहा है, कि 'तवपादैकमूलदासानुदासोऽस्मि' 'तव पादावेवैकमूलं येषां ते तथा'। आपके चरणकमल युगल ही है, एक मूल धन आश्रय जिसके ऐसे तो केवल व्रजरमणीरत्न ही है। व्रज में रहने वाले भक्तों ने ही ऐसे दास्य भाव की प्रार्थना की है, जिससे व्रज भक्तों के अनु-वर्ती दास होने से ही व्रजभक्तों की कृपा से ही ऐसा दास्य भाव हो सकता है। अर्थात् व्रजस्थित भक्त जिनका दास्य यह कामाधिकार का दास्य सूचन किया है, अतः कहा है कि "तन्नप्रसाद वृजिनार्दन-तेंऽघ्रिमूलं प्राप्ताविसृज्यवसतीस्त्वदुपनाशाः। त्वत्सुंदरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण-देहि दास्यम्"। हे दुखों को नाश करनेवाले! आपके चरणों की सेवा की आशा करके हम सब गोपी अपने पति पुत्र आदि सहित गृह त्याग कर आपके चरण कमल मूल में प्राप्त हुई हैं। जिससे हे पुरुषभूषण! आपके सुन्दर मधुर मुस्कान युक्त निरीक्षण से उत्पन्न हुए दुःसह काम से तपे हुए हैं मन जिनके, उनके ऊपर प्रसन्न होइये, और दास्य-भाव प्रदान करिये, अर्थात् अपनी दासी बनाईये। इन गोपीजन के कथन (वचन) से कामाधिकार रूप दास्यभाव कहा है और इस लोक और परलोक की सुख की इच्छा तथा भय और गृह त्याग करके एक श्रीकृष्ण के यह चरणकमल ही हमारे सर्वस्व धन है। इससे अर्थाधिकाररूप दास्य कहा है। इससे आचार्य चरण ने कहा है कि 'तपद्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा'। इन व्रजगोपीजन के अनुचर या अनुचारीभाव से इनकी सेवा रीति पर चलने से ही पुरुषों को भी श्रीकृष्ण स्वरूप सौन्दर्य रस की प्राप्ति हो जायेगी, अन्य प्रकार से पुरुषों को भक्तिरस की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इससे इन गोपीजन के समान भाव से देह प्राण, अन्तः-करण और कर्ण इन्द्रियों से की हुई प्रेम सेवा ही फलरूप है। क्योंकि 'अनुचरतीति अनुचर' इन व्रज ललनाओं के भाव-भक्ति रीति से ही, श्रीकृष्णरस प्राप्ति होएगी, यह सब व्रज भक्तों की कृपा से हो सकता है। इससे अनुपद से व्रज भक्तों का दासत्व अर्थाधिकाररूप कहा है। यह अनुपद से सूचित किया। इससे यह दासत्व ही धर्माधिकाररूप है। यदि आप यह कहो कि सत्संग के बिना तुम्हें ऐसा भक्ति-भाव कैसे उत्पन्न हुआ। जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूयः' पहले चित्रकेतु शरीर में भी आपका दास ही था और आगे भी हमेशा दास ही रहूँगा, यह भाव है। इस प्रकार अपने अधि-कार चतुष्टयरूप दास भाव की प्रार्थना करके अब दासधर्म की प्रार्थना करते हैं, कि "मनोऽसुपतिं-स्मरेत्", यहां कर्म में षष्ठी विभक्ति है, इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि यह मन प्राणनाथ आपका तथा

आपके गुणों का स्मरण करता रहे। हरिस्मरण से अपने लिये परमानंद की प्राप्ति होती है। अपने ही सुख का साधन है, इसलिये 'स्मरेत्' यह आत्मनेपद क्रिया कही है। (जहां क्रिया का फल अपने लिये होता है, वहां आत्मनेपद होता है) तथा "वागसुपतेर्गुणान् गृणीत" हे प्रजापति ! वाणी आपके गुणों का कीर्तन करती रहे। श्री कृष्ण गुणकीर्तन में भी अपने लिये ही परमानंद होता है। इसमें भी मुख्य तो स्वार्थ ही है, किन्तु हरि के गुणों को सुनने से अन्य हरिभक्त भी प्रसन्न होते हैं और भगवान् से भी अपने गुणों का श्रवण करने से प्रसन्न होते हैं। यह इसमें विशेष गुण है। इससे यहां भी 'गृणीत' यह आत्मनेपदी क्रिया कही है, और कहते हैं कि 'कर्म करोतु काया' काया आपके नाम गुण यश, श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वंदन, सेवादि कर्म करती रहे। सेवा ऐसी होनी चाहिये जिससे प्रभु को सुख मिले, सेवा में स्वार्थ (मोक्ष पर्यन्त अपने सुख की इच्छा) किंचित्मात्र भी नहीं होनी चाहिये। सेवा का फल—सुख स्वामी को ही होवे इससे यहां 'करोतु', यह परस्मैपदी क्रिया कही है। और हरि के गुण, स्मरण, श्रवण और कीर्तन सेवादि में सेवा मार्ग के उपदेश के लिये तथा हरि के गुणों को कहने तथा श्रवण करने के लिये तथा सेवा में सहायता के लिये अन्य हरि भक्तों की भी आवश्कता होती है। इससे स्मरण व कीर्तन करने में अन्य की अपेक्षा रहती है। इससे अन्य की की अपेक्षा, रहने से स्मरण, कीर्तन में विधिलिंग का प्रयोग किया है। जिससे यह कहा है, कि मेरे मन को ऐसी प्रेरणा प्रदान करो कि यह मेरा मन सदा आपका स्मरण कीर्तन करता रहे। ऐसी आज्ञारूपी प्रेरणाविधि भी सूचित की है, जैसे पूजा में वेद शास्त्रोक्त विधि की प्राधान्यता है। ऐसे ही सेवा में स्नेह की मुख्यता है। सेवा में प्रेम हरि के अनुग्रह से होता है। इससे प्रभु मेरे ऊपर कृपा दृष्टि करके मेरे लिये भक्ति प्रदान करें। इस प्रकार प्रर्थना सूचक "करोतु" यह आशीर्वादात्मक क्रिया पद कहा है। और प्राणपति आदि पदों से देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरण, सबको आत्म निवेदन इस प्रकार से करने का कहा है।

एवं मनोवाक्कायभेदेन त्रिविधमपि धर्मं संप्राथ्यर्थं निरूपयति।

लौकिको वैदिकश्चार्थस्त्रिविधः प्राकृतैर्गुणैः।
क्रमेण ते भगवतो गुणैः षड्भिर्निराकृताः ॥१॥

स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्विकादि तु लौकिकम्।
मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयश्चेति वैदिकम् ॥२॥

प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तु लौकिकम्।
निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्विशेषाद्वैदिकं परम् ॥३॥

प्रत्येकमेव तेचार्था न तु संभूय कुत्रचित्।
भगवत्यखिलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते ॥४॥

अतोर्थो भगवानेव पुष्टिमार्गेऽङ्गमन्यतः ।
सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरुप्यते ॥५॥

मनोवाक्काय भेद से त्रिविध धर्म की प्रार्थना करते हैं।

'ननाक पृष्टं', इस दूसरे श्लोक से पुष्टिमार्गीय 'अर्थ' द्वितीय पुरुषार्थ का निरूपण किया है कि प्रकृति के 'सत्व', 'रज' और 'तम' इन तीन गुणों के लौकिक तथा वैदिक अर्थ तीन प्रकार के हैं। ऐसे ६ प्रकार के लौकिक वैदिक ऐश्वर्यों को क्रम से भगवान् के ऐश्वर्यादि षड्गुणों से वृत्र ने निरादर किया है क्योंकि सत्वप्रधान स्वर्ग, रजोगुणवती भूमि, तमप्रधान रसातलादि लोकों के ऐश्वर्य लौकिक हैं और शुद्ध सत्व से साध्य मोक्ष तथा रजोगुण से साध्य ब्रह्मलोक तथा तमोगुण से साध्य योगसिद्धि ये वैदिक ऐश्वर्य हैं। वहाँ लौकिक ऐश्वर्य प्रवृतिमार्ग के धर्मादि त्रिवर्ग के साधन साध्य होने से सामान्य है, और वैदिक ऐश्वर्य, निवृतिमार्ग के धर्मादि चौथे वर्ग के साधनों से सिद्ध होने से उत्तम है। किन्तु ये लौकिक वैदिक ऐश्वर्य सुख भोग, सम्पूर्णता से किसी में भी नहीं हैं। भगवान् के एक एक गुण को एक-एक में अशांश बिन्दुमात्र है और भगवान् सर्वात्मा हैं, इससे श्रीहरि में ऐश्वर्यादि षड्गुण पूर्ण है। जिससे भगवान् ही हमारे सर्वस्व धन है। इससे अन्य सब पदार्थों से निरपेक्षता प्रगट की है।

न नाकेति—

ननाकपृष्ठं न च पारमेष्ठय
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं ॥
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समंजसत्वाविरहय्यकांक्षे ॥२॥

आदौ लौकिकसात्विकमर्थं निराकरोति 'ननाकपृष्ठमिति'। नाकः स्वर्गस्तस्यपृष्ठमासनं राजासनमिन्द्रासनमित्यर्थः। तच्च नश्यति कालान्तरे। अतस्त्वय्यखंडैश्वर्यस्य विद्यमानत्वात्तन्न कांक्षे नेच्छामि इत्यर्थः। वैदिकराजसमर्थं निराकरोति 'न पारमेष्ठयं' परमेष्ठी ब्रह्मा रजोवतारत्वात्तस्थान राजसं तत्र च ब्रह्मणा सहमुच्यत इति वाक्यात्पारतंत्र्येण फलसिद्धया वीर्यहानिरेव। त्वयि चाखंडितवीर्यस्य विद्यमानत्वात्तदपि न कांक्षे। लौकिक राजसमर्थं निराकरोति 'न सार्वभौममिति' सर्वभूमेरीश्वरत्वे हि सर्वत्रलोके यशो भवति, तच्च दानादि सापेक्षत्वादौपाधिकं साऽवधिकं' च 'तद्वायसं तीर्थमिति वचनात् "न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्नि मानसा न यत्र हंसा निरमंत्युशिक्षयाः" इति प्रथमे, स्वरुपतोऽपि दुष्टं। तथा राज्यान्ते नरकं ध्रुवमिति वचनादवसानतोपि दुष्टं। त्वपि चानवद्ययशसो विद्यमानत्वात्तदपि न कांक्षे। लौकिकतामसमर्थं निराकरोति। "न रसाधिपत्यमिति" रसेन्युपलक्षणं तेनाधो लोकाः

सर्वेपिनिरूपिताः। तत्र च भूम्यपेक्षया सुखभोगोधिकः। स च श्रिया भवेत्सा च त्वया बलेरपहृता दत्ता च पुंरदराय। त्वयि चानपायिन्याः श्रियो विद्यमानत्वात्तदपि न कांक्षे। वैदिक तामसमर्थं निराकरोति। 'न योगसिद्धीरिति' अपक्वयोगिनो यदिसिद्धिबलेनापेक्षितविषयान्संसृज्य भोगं कुर्वन्ति, तेन योगादपि भ्रष्ठा भवंति इति तेषां ज्ञानं भ्रान्तमेव। त्वयि चाखंडितनित्यज्ञानस्य विद्यमानत्वात्ता अपि न कांक्षे वैदिकसात्विकमर्थं निराकरोति। 'अपुनर्भवं वेति' सत्वात्संजायते ज्ञानं इति वाक्याज्ज्ञानस्य सात्विकत्वेन तत्साध्यमोक्षस्यापि तथात्वमुच्यते। स च गणितानंद त्वेन त्वदानंदांश एव न तु त्वं पुरुषोतमः तत्रापि सेव्यसेवक भावेन नाऽन्योन्यसापेक्षताभेदाभावात्। अतस्तस्यार्थत्वाभावायाऽपुनर्भवपदं, जन्माभावातिरिक्तविशेषाभावात्। त्वं तु पूर्णानंदो भक्तसापेक्षश्च। 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।' मदन्यत्तेन जानंति नांह तेभ्यो मनागपीति वाक्यात्। अतो भक्तारिक्तरागाभावेन त्वय्यखंडितवैराग्यस्य विद्यमानत्वा त्तदपि न कांक्षे। मर्यादायां मोक्षस्तुरीयपुरुषार्थः स च पुष्टौ हेयत्वेनार्थमध्ये गणित इत्यानादरद्योतनाय वेन्युक्तं यत्र मोक्ष स्याप्यनादर तत्रान्येषाँ किं वाच्यमिति, तर्हि कोर्थस्तवापेक्षित इत्यत आह। 'समंजसेति' हे समंजस ! पूर्णत्वात्सकलार्थरुप ! अतस्त्वां विरहय्य पृथक्कृत्य उक्तार्थानहं न कांक्षे। किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपत्वादर्थत्वेन कांक्षे ।।२।।

प्रथम वृत्र लौकिक सात्विक अर्थ का निषेध करते है। कि "नानक पृष्ट" नाक अर्थात् स्वर्ग जिसका पृष्ठ राज्यासन जो इन्द्रासन है "तन्न कांक्षे" उसकी इच्छा मैं नहीं करता हूँ। क्योंकि यह स्वर्ग सम्पति तो कालान्तर में नाश हो जायगी। जब आप में ही अखंड़ ऐश्वर्य विद्यमान है इससे आपकी प्राप्ति में स्वर्ग सम्पदा की इच्छा नहीं करता हूं। अब वैदिक राजस, पदार्थ का निषेध करते हैं। कि "न च पारमेष्टयं" परमेष्ठी जो ब्रह्मा जिनके रजोगुण अवतार होने से ब्रह्मलोक भी रजोगुणप्रधान हैं, वहां भी "विरिञ्च्य तामेति ततः पर हि मां" इस वाक्य के आनुसार वर्णाश्रम धर्म के यथार्थ रीति से करते करते सौ जन्म व्यतीत हो जाते हैं। तब ब्रह्मलोक सत्यलोक की प्राप्ति होती है, और पीछे "ब्रह्मणा सह मुच्यते" इस वाक्य के अनुसार उस जीव का ब्रह्मा के साथ ही मोक्ष होता है। इससे ऐसी पराधीनता में वीर्य हानि है। आप में "अखण्डवीर्य (पराक्रम) के रहने से "तदपि न कांक्षे" में ब्रह्मपद की इच्छा नहीं करता हूं। अब लौकिक राजस अर्थ का निषेध करते हैं कि "न सार्वभौम" मैं भूमि का सम्राट होने की भी इच्छा नहीं करता हूँ। सर्व भूमि का अधिपति होने से सब लोकों में यश तो होता है। किन्तु यह यश भी यज्ञ दानादि सत्कर्म से होता है, और यज्ञ दानादि सत्कर्म धन से होता है। राजस धन में राग द्वेषादि अनेक उपाधि हैं। इससे यश भी उपाधियुक्त है। और न्यूनाधिक भावयुक्त है। और अवधिवाली है तथा 'न यद्वचश्चित्रपदं हरे यशो जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशंति मानसा न यत्र हंसा निरमंत्युशिक्षयाः"। इसमें जगत् के पवित्र करने वाले हरि का यश गान नहीं होता है। ऐसे विचित्र पदों से युक्त भी वाक्य प्रबंध किसी काम का नहीं होता है। क्योंकि हरि पद युगल में है मन जिनके, हरि पद कमल ही है रमणीय स्थान जिनके, ऐसे हरि चरण कमल रूपा मानस सरोवर के वासी परम हंस जिसमें कभी रमण

नहीं करते हैं। सत्पुरुष तो ऐसे काव्य को काकतीर्थ। (कागों के मन प्रसन्न करने वाले थूक श्लेष्मा का गड्ढा) ही कहते हैं। इससे यह यश का स्वरूप भी दुष्ट है। और "राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्" जो यज्ञदानादि सत्कार्य नहीं करते हैं, वे मरने के पश्चात् नरक को प्राप्त हाते हैं। यह निश्चय है। इस से परिणाम में फल भी दुष्ट है। आपमें निर्मल अखंड यश के होने से मैं सार्वभौम होने की इच्छा नहीं करता हूं। अब लौकिक तामस अर्थ का निषेध करते हैं, कि "न रसाधिपत्यं" यहां रसातल पद से नीचे के सब लोकों का ग्रहण है। नीचे के लोकों में भूमि भोगों से अधिक वैभव भोग है। ये सुख भोग लक्ष्मी से होते हैं, वह लक्ष्मी आपने बलि राजा से लेकर के इन्द्र को दे दी, इससे पर-स्पर में विरोध फढ़ाने वाली लक्ष्मी तामसी है, चंचला है, और आपके वक्षस्थल वासिनि चरण कमल की दासी, सदा सहचरी, लक्ष्मी की अनपायिनी है। इससे रसातलाधिपत्य की भी इच्छा नहीं करता हूं। अब वैदिक तामस अर्थ का निषेध करते हैं, कि "न योगसिद्धीः" में योगा सन सिद्धियों की इच्छा नहीं करता हूँ। क्योंकि आपसे बहिर्मुख कच्चे योगी अपने योगबल से इच्छानुसार अनेक निषयों की रचना करके भोग भोगते हैं, इससे भोगभ्रष्ट हो जाते हैं। आपके स्वरूप को न जानने से ही उनको भ्रांतज्ञान है। आपके नित्य अखंड ज्ञान के होते हुए मैं योग सिद्धियों की इच्छा नहीं करता हूं। अब वैदिक सात्विक अर्थ का निवेध करते हैं कि "अपुनर्भवं वा' "वा" यह अनादर में है, सो कहते हैं कि "हे समंजस" हे पूर्णपुरुषार्थस्वरुप ! मैं मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता हूँ क्योंकि "सत्वात्संजायते ज्ञानं" ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" इन वाक्यों से सत्व गुण की अधिकता से ज्ञान होता है। और ज्ञान से मोक्ष होता है इससे ज्ञान साध्य, मोक्ष भी सगुण पदार्थ है शुद्धसत्वस्वरूप अक्षरब्रह्म आपके धाम में सायुज्य (दुग्ध में पानी की भांति मिल जाना) यह सायुज्य मोक्ष भी सगुण है, "स एको ब्रह्मण आनंदः" इस श्रुति के अनुसार अक्षर ब्रह्म के गणिता-नंद होने से आपके एकानंदांश की ही प्राप्ति है। और पूर्ण प्ररुषोत्तम आपके सायुज्य (साथ) में "सोश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा," इस श्रुति के अनुसार सर्वेन्द्रिय भोगरूप पूर्णानंद की प्राप्ति होता है। और मोक्ष में द्वैतभाव के न रहने ने परस्पर में किसीको किसीकी अपेक्षा ही नहीं रहती है ? यह बताने के लिये ही 'अपुनर्भव' पद कहा है। क्योंकि पुनर्जन्म के न होने के अतिरिक्त मोक्ष में विशेष आनन्द नहीं है। और आप तो पूर्णानंद हो, आपके साथ भक्तों को पूर्णानंद की प्राप्ति होती है। और आपके भक्तों की सदा आवश्यकता भी रहती है। क्योंकि ',साधवो हृदयं मह्यं साधनाँ" हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानति नाहं, तेभ्यो मनागपि" साधु मेरे हृदय हैं। अर्थात् मेरे हृदय की वार्ता साधु ही जानते हैं। साधुओं के हृदय मैं हूँ उनके हृदय की वार्ता मैं जानता हूँ और मेरे भक्त मुझसे अधिक अन्य को नहीं जानते हैं। और भक्तों के अतिरिक्त मुझे कुछ भी प्रिय नहीं लगता है। ऐसे आपके ही वचन हैं। इससे भक्त के सिवाय अन्य में अनुराग न होने से आपमें पूर्ण वैराग्य के होते हुए मैं मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता हूं। यद्यपि मर्यादामार्ग में मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थ उत्तम माना है तथापि भक्तिमार्ग में मोक्ष भी त्याज्य मानकर के द्वितीय पुरुषार्थ धनरूप में मोक्ष की

गिनती क्या है। यह बताने के लिये ही अनादर सूचक 'वा' यह अव्ययपद कहा है। इस भक्ति मार्ग में जब मोक्ष का ही अनादर है। तब अन्य स्वर्गादि पदार्थों के अनादर का तो कहना ही क्या है। यदि आप यह कहते हैं कि जब तू सब पदार्थों की मना ही करता है, तब तुझे कौनसे पदार्थ की इच्छा है? वहां कहते हैं, हे समंजस! हे परिपूर्ण, सर्वार्थ स्वरूप! 'त्वा दिरहृदय मैं आपको त्याग करके आपसे वियोग करके पूर्वोक्त कोई पदार्थ की इच्छा नहीं करता हूं, अर्थात् आपके परिपूर्ण सर्वार्थ स्वरूप होने से में धन रुपसे आपकी ही इच्छा करता हूं मेरे तौ सर्वस्व 'धन' आप ही हो ।।२।।

एवं अर्थ निरूप्य कामं निरूपयति। अजातपक्षया इति।

"पुष्टिमार्गेहरेरूपदिदृक्षा मनसोस्य हि।
कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तत्रितयं तथा ॥१॥

द्वितयं लौकिकं प्रोक्तमेक शास्त्रीयमुत्तमम्।
लौकिकस्त्रिगुणीभूयः दृष्टान्तः स्यादलौकिके ।।२।।

अन्य थैकतरेणापि सिद्धेऽर्थे त्रितयेन् किम्।
क्षुद्रूपो लौकिकः कामो रसरीत्या तु शास्त्रतः ।।३।।

प्रभोस्तु रसरूपत्वात्स्वस्यैकत्वेन चोत्तमः।
अयमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदितः ।।४।।

इस प्रकार 'अर्थ' की प्रार्थना करके अब तीसरे पुरुषार्थ काम की प्रार्थना करता है। अजात पक्षा 'इति' इस तीसरे श्लोक में यह कहा है कि पुष्टिमार्गीय जीवों के मन में सदा श्रीपति स्वरूप सौन्दर्य दर्शन की इच्छा रहती है। यही—'काम' निरूपण किया है। इस दर्शन में तीन दृष्टान्त कहते हैं वहाँ दो दृष्टान्त लौकिकरीति से कहे हैं, और एक तीसरा दृष्टान्त लौकिक रीति से कहा भी है पर भक्ति रस शास्त्रोक्त रीति से कहा है। यह उत्तम है। क्योंकि यह तृतीय दृष्टान्त उपाधि-रहित है। अन्याश्रय रहित है और एक शृगार रसरूप अपने पिय की ही कामना में है। यह तीन गुणों में अधिक होने से अलौकिक प्रभुस्वरूप में ही घटता है। अन्यथा जब एक दृष्टान्त से ही अर्थ सिद्ध है। तब तीन दृष्टान्त देने का क्या प्रयोजन था इससे क्षुधा उपाधि से जो कामना है, वह लौकिक काम है, और वेद शास्त्र के रसरीति (पतिव्रत धर्म) से जो कामना है वह अलौकिक एक प्रभुस्वरूप सम्बन्धी काम है। प्रभु के शृंगार रसस्वरूप होने से वृत्र की एक प्रभुस्वरूप दर्शन की कामना है और आप भी अकेले हैं। इससे अन्त में प्रियाप्रिय में प्रथम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से कहा हुआ तीसरा ही दृष्टान्त उत्तम रीति से प्रभु में ही घटता है।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः, स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः
प्रियं प्रियेवाऽध्युषितं विषण्णा, मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।।३।।

हे अरविन्दाक्ष ! "मनस्त्वां दिदृक्षते" इति संबंधः। नेत्रयोरम्बुजत्वेन तद्दिदृक्षया मनसो मधुपत्वं बोधित। तथाचारविन्दे विकसिते मधुपस्य कामः सिध्यति तथा दृष्टिं मयि संपादयेति प्राथितं। दिदृक्षा हेतुभूतं स्वरूपसौन्दर्यं संबोधनेन ध्वनितं। मनसः स्वतन्त्रत्वाभावायास्मच्छब्दप्रयोगाभावः। किं च दिदृक्षा दृशोर्धर्मः स च मनसो निरूप्यते तेन सर्वेन्द्रियाणामपि मनः संनिकर्षणात्पूर्णकामो निरूपितः। अन्यथा भजनानंदानुभवो न स्यात्। तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात्। प्रभोः पूर्णकामत्वेन। क्रियाफलस्यात्मगामित्वायात्मनेपदम्। मनश्चचलत्वान्मधुपत्वबोधनेव च कामान्तरं संभवति इति तदभावाय दृष्टांतमाह। 'अजातपक्षः क्षुधार्ताः। खगा मातरमिवेति। यथा पक्षिणः कदा किमानीय दास्यति मातरं दृष्टुमिच्छन्ति खगानां नियतभक्ष्याभावादनियतस्य च क्षुधार्ततयाऽर्थासिद्धात्वादत्र नोक्तं तदपि न सर्वदा किन्तु कियत्कालपर्यन्तमेवेत्याह 'अजातपक्षा इति' पक्षोदयानंतरं न तथेति तावदेव दृष्टान्ततेत्यर्थः। तथा चात्र क्षुदुपाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं दृष्टान्तमाह 'स्तन्यं' यथा वत्सतराः' क्षुधार्ता इति। वत्सतरा अतिबालकास्ते यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति तदिच्छन्ति तथेत्यर्थः। तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वादत्र तदेवोक्तं। मातुरभावे तदबुद्धया परस्यापि स्तन्यं पिबन्ति इति तदनुक्ति। अत्रापि नियतविषयत्वेऽपि वत्सतरपदादनियतकालत्वं क्षुदुपाधिकृतत्वं चेति दूषणद्वयं संभाव्यं तृतीयदृष्टान्तमाह 'प्रियप्रियेवेति' प्रियपदादुभयत्र निरूपाधिकः स्नेहोनिरूपितः। स्नेहस्य तथात्वं तदभिज्ञेनोक्तं। आविर्भावदिनेन येन गणितो हेतु स्तनीयानपि इति तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतं। 'व्युषितमिति' प्रवासिनमित्यर्थः। तेन गमनक्षणमारभ्याऽऽगमनावधिपर्यन्तं दिदृक्षैकरसत्वादनियतकालत्वमपास्तम्। विषण्णा इतिपदादनियतविषयत्वं च। अन्यथा खेदासंभवात्। एवं दोषत्रयाभावादयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वादत्रापि एकवचनमुक्तम्। बहुषु तथा त्वस्यासंभपादत एव अंते च निरूपणं कृतं। पूर्वोक्तद्वयमेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनपि नानुपपन्नम्। किंच। प्रियाहि विप्रयोगे केवलं विषादमात्रं न करोति किन्तु प्रिये विविधरस संभावानन्तः प्रकटयति। प्रकारान्तरेण जीवनमेव। न स्यात्। जाते जीवमें पियत्वं बाधितं स्यात्। स्वस्य प्रसषत्वेन स्त्रीदृष्टान्ताऽनुपपत्या च तज्जातीय रसभाव उक्तः। अतो रसस्यातिगोप्यत्व.दयं भावः प्रिया पदेनाभिव्यज्यते। विषादस्य तु बहिरप्यनुभूयमानत्वादन्य ज्ञानविपयत्वाच्च तथा विशेषणम्। एवमनेकरसभावाविशिष्टं विषण्णं च मनस्त्वांदि दृक्षते न तु दर्शनमात्रमिच्छति तत्तु पूर्वमर्थत्वेन कांक्षितत्वादत्रानुपपन्नम् विशेषभावात्। अन्यच्च अस्मच्छब्दप्रयोगो हि देहाध्यासकृतो भवतिसांप्रतं तु रसानुभवयोग्यदेहाभावा वृत्रशरीरस्य च तत्प्रतिबिंबक त्वादध्यासा भावान्मन एवोक्तं। न तु ममेति। दृष्टान्ते च तदध्यासस्य दृढत्वात्प्रियेति निरूपितं। न तु मनः। अन्यथा प्रियेवाहं दिदृक्षे इति दृष्टान्तसाधर्म्ये वक्तव्ये मनोदिदृक्षत इति न वदेत्। अतोरममार्गीयः कामो रसीव्यैव पूरणीय इति तथा संबोधनेन प्रार्थितम्॥३॥

हे अरविन्दाक्ष ! 'मनस्त्वां दिदृक्षते' है कमल लोचन, मन आपके ही दर्शन की इच्छा करता है। यहाँ भगवान् के नेत्रों के अरविन्दभाव से और मन में भगवदर्शन की इच्छा से मन को मधुप सूचित

किया है जैसे कमल के विकसित होने से मधुप की मनुपान कामना सिद्ध होती है, अन्यथा कामना सिद्ध नहीं होती है। इससे मेरे ऊपर ऐसी कृपादृष्टि संपादन कारी जिससे मुझे आपके स्वरूप-सोंन्दर्य रसकी प्राप्ति होवे। यह प्रार्थना है और यहाँ नेत्रों का वाचक चक्षुआदि अन्य पदों को नहीं कहकर के सर्वेन्द्रिय-वाचक अक्षपद कहा है। इससे भगवत्स्वरूप में—सर्वेन्द्रिय भोग्य सौन्दर्य और श्री मुख की प्रसन्नता भी सूचित की है। इस प्रकार दर्शननेच्छा का कारण जो भगवत्स्वरुप सौन्दर्य है वह हे अरविन्दाक्ष। इस सम्बोधन पद मे ध्वनित होता है और मन भी भगवत्रूप में आसक्त है। भगवदाधीन है। इससे 'मेरा मन' ऐसा नहीं 'कहा केवल मन ही कहा और दर्शन करना नेत्रों का धर्म है। किन्तु यहां दर्शन करना मन का धर्म कहा है। यह इसलिये कहा है कि मन सब इन्द्रियों का सहायक है। इससे सर्वेन्द्रिय कामना पूर्ण करना सूचित किया है। अन्यथा मन के बिना भजनानन्द का पूर्ण अनुभव नहीं होगा। क्योंकि मन ही सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञाता है। इससे मन जैसे२ भाव से आपके दर्शन की इच्छा करता हैं वे सम्पूर्ण मनके मनोरथ दर्शन देकर पूर्ण करो। यह भाव है। और प्रभु अन्तरयामी हैं। पूर्ण काम हैं इससे अपने मन की कामना अवश्य सिद्ध होगी इसके लिये "दिदृक्षते" यह आत्मने पदी क्रिया कही हैं। और मनका जो मधुप भाव कहा है वह मनकी चंचलता से ही कही है। क्योंकि मधुप की कामना पुष्प के मधुपान पर्यंत वही होती है। एक पुष्प में से रसपान करने के पश्चात् उस पुष्प को त्याग करके अन्य पुष्प की इच्छा करता है। इससे यह मन मधुप की भांति चंचल भी नहीं है। यह तो केवल आपके ही स्वरुप सौन्दर्य का दर्शनाभिलाषी है। इससे मन की दृढ़ता के लिये ही तीन दृष्टान्त कहे हैं। सो कहते हैं कि अजातपक्षाः, क्षुधार्ताः खगायातरमिव" जिनके पंख उपजे नहीं है। क्षुधा से पीड़ित ऐसे छोटे २ पक्षी के बालक जैसे माता के दर्शन की इच्छा करते हैं कि हमारी माता कब आवेगी हमें लाकर क्या चुगायगी ऐसे यह मन आपके दर्शन की इच्छा करता है किन्तु इस दृष्टान्त में तीन दोष हैं। एक तो पक्षी के बालकों का कोई निश्चित आहार नहीं है। चाहे जिस पदार्थ से अपनी भूख को शान्त कर सकते हैं। इससे इस आहार का नाम नहीं लिया केवल माता का ही दर्शन कहा है यह अनियत विषय दोष है। दूसरे बिना पंख के बच्चे हैं। पंख उगसे के बाद अपने आप ही चुग आऐंगे माता के दर्शन की इच्छा नहीं रहेगी। हमेशा दर्शन की इच्छा का न रहना अनिश्चित समय दोष है। तथा क्षुधा की पीड़ा से ही मातृ दर्शनेच्छा है क्षुधा निबृत होने के पश्चात माता के दर्शन की इच्छा न रहेगी यह क्षुधोपाधिकृत दोष है। इस प्रकार दोपत्रय की संभावना करके द्वितीह दृष्टान्त कहे हैं। कि "स्तन्य यथा वत्सतरक्षुधार्ता" तृणादिक नहीं खाना जानते हैं, ऐसे अत्यंत अबोध गाय के छोटे-२ बच्चे भूख से व्याकुल हुए जैसे दूध कि इच्छा करते हैं कि हम दूध कब पीयें। ऐसा मन आपके दर्शन की इच्छा करता है। उनको एक दूध की ही कामना है। अन्य वस्तु की नहीं है। अन्य गाय के बछड़े और (अन्य) गाय का भी दूध पी सकते है और अन्य गाय का दूध पीता देखने में आता है। इससे यहां माता नहीं कहीं। क्योंकि माता के अभाव में और गायों को भी माता मान कर भूख लगने

पर दूध पी सकते हैं। अत्यधिक छोटे २ वत्सों का एक दूध ही आहार है। इससे नियत विषय है। तथापि अति अबोध होने से भूख में ही दूध की इच्छा है। सदा नहीं रहेगी। तृण आदि से भी क्षुधा मिटा लेयेगे। इससे अनिश्चित समय दोष और क्षुधोपाधिकृत दोष दो दोष इसमें भी हैं। इस दोष द्वय की संभावना से तृतीय दृष्टान्त कहते हैं। कि "प्रिये प्रिये वाध्यषितं विषण्णा" जैसे परदेश गये अपने प्राणप्रिय पति के वियोग से दुःखी पतिप्रिया स्त्री अपने प्रिय पति के दर्शन की अभिलाषा करती है ऐसा मन आपके दर्शन की इच्छा करता है। यहां प्रिया प्रिय दोनों में प्रिय पद है। इससे परस्पर में उपाधि रहित प्रेम है। इससे उपाधी दोष नहीं है। "अध्युषितं" "परदेश गये" इस पद से प्रिय पति के परदेश गमनक्षण से आदि से लेकर 'गृहा गमन पर्यंत पति दर्शनाभिलाषा एकरसरूप से सूचित करके अनियत समय दोष दूर किया, और 'विषण्ण' दुःखिनी इस पद से एक प्रिय पति के स्वरुप दर्शन, अंगसंगादिकी इच्छा हुई। सभी इन्द्रीय का विषय एक प्राण पति ही है। अन्यथा दुःख ही क्यों होता। इस प्रिय वियोग से ही दुःखिनी है। इससे अनिश्चित विषय दोष दूर किया। इस प्रकार दोषत्रय के अभाव से ही प्रिय और प्रिय पद में एक वचन कहां है। क्योंकि आप अकेले एक प्रभु के दर्शन की इच्छा है और बहुत से पुरुषों में एक स्त्री का तथा बहुत स्त्रीयों में एक पुरुष का स्वार्थ बिना प्रेम नहीं होता है। जहां स्वार्थ है वहां प्रेम कहां, निःस्वार्थं उपाधिरहित ही प्रेम प्रेम है। इससे ही प्रिया प्रिय का दृष्ठान्त अन्त में कहा है। यद्यपि पहले दो दृष्टान्तों का कथन भी प्रेमपूर्वक दर्शनाभिलाषा में ही है तथापि इस त्रितीय दृष्टान्त में निरुपाधि शुद्ध प्रेम कहा है। और अनन्य मना प्रतिव्रता स्त्री पति वियोग में केवल विषाद मात्र ही नहीं करती है। किन्तु अपने प्रिय पति में अनेक रतिविषयक मनोरथों को भी अपने अन्तः करण में करती है। अन्यथा प्रिया का जीवन ही नहीं रह सकता है। रतिविषयक रसभाव के बिना प्रिया के जीवित रहने में प्रियत्व ही विरस है। यह रतिविषयक मनोरथ ही जीवन के कारण हैं। और वृत्र का शरीर इस समय पुरुष है। इससे पुरुष को अपने में प्रिया का दृष्टान्त देना स्त्रीभाव के बिना नहीं घट सकता है। इससे यह प्रिया के दृष्टान्त से संबंधी रस भाव कहा है। किन्तु रसवार्ता गोपनीय होती है। गुप्त रीति से ही कही जाती है। इनसे स्त्रीरस इस प्रियापद से सूचित किया है और इसीसे विषण्णा दुःखिनी, ऐसा विशेषण दिया है। क्योंकि केशों की लट बन्ध जाने से शरीर की कृषता से शरीर के पीलारंग पड़ने से दुःख प्रकट होता है बाहिरी दुःख को तो और अन्य लोग भी जान सकते हैं। किन्तु यहां जो दुःखिनी पद कहा है। यह अपने अन्तः करण के भाव को प्रकट करने के सिये ही कहा है। अर्थात अनेक रीति रस भाव युक्त यह दुःखित मन आपके दर्शन की इच्छा करता है। केवल दर्शनमात्र ही की इच्छा नहीं है। क्योंकि दर्शन की इच्छा तो पहले धनरूप से ही प्रगट कर चुके हैं। इससे पुनः दर्शन की इच्छा का कथन रस विशेष लाभ के बिना नहीं है। यहां रसदान सहित दर्शन की प्रार्थना है। इसमें एक और भी अभिप्राय है। कि 'अहं' 'मम' मैं मेरा ऐसे अस्मत् शब्द के प्रयोग देह में अध्यास होने से होता है। और इस समय वृत्र का पुरुष देह है और आसुरी है। इससे स्त्रीरस का

अनुभव करने योग्य नहीं है। इस समय तो वृत्र का मन प्रिया प्रतिबिंब रूप है। देह में अध्यास नहीं है। इससे केवल मन ही कहा है। मैं अथवा मेरा मन दर्शन की इच्छा करता है। ऐसा नहीं कहा। और दृष्टान्त में प्रिया देहा ध्यास दृढ़ है इससे दृष्टान्त में प्रियापद ही कहां है प्रिया का मन ऐसे नहीं कहा। यदि वृत्र के मन में स्त्रीभाव दृढ़ नहीं होता तब प्रिया जैसे प्रिय दर्शन की इच्छा करती है। ऐसे ही मैं आपके दर्शन की इच्छा करता हूं ऐसा कहते हैं सो इस प्रकार न कहकर मन आपके दर्शन की इच्छा करता है। ऐसा कहा है इससे वृत्र का मन देहाध्यास रहित, अनेक रसभावयुक्त स्वयंप्रियारुप हो रहा है इससे इसका यह भाव है कि रसके भाव की पुष्टिरस कामना पुष्टि मर्यादा रीति सेही पूर्ण करने योग्य है। और है अरविन्दाक्ष इस संबोधन पद से काम रस की प्रार्थना सूचित की है। इस प्रकार काम की प्रार्थना करके आगे पुष्टिमार्गीय मोक्ष की प्रार्थना करते हैं।

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति, 'ममेति'

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रामतः स्वकर्मभिः ॥
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥४॥

इस चतुर्थ श्लोक के अर्थ में—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥१॥

पुष्टिमार्गे मोक्षो निरूप्यते। तत्रस्थितौ बंधो नामहंता ममतास्पददेहेष्वासक्तिस्तदन्येषु संगश्च तस्य तद्धेतुकस्याभावो मोक्षश्च। पुष्टिस्तुतद्विपरीता। तत्र व्यवस्थया। मोक्षद्वयमाह 'ममोत्तमेति' मोक्षो हि द्विविधः पुष्टिमर्यादया, पुष्टिपुष्टया च। भगवत्परोक्षापरोक्षाभ्यां व्यवस्था। प्रत्यक्षेपि भगवति शास्त्रार्थत्वायोत्तमश्लोकजनेष्विति समासः (शास्त्रप्रतिपादितवस्तुनिर्णयायेत्यर्थः) भक्त संवलित एव भगवान्स्तद्वारा फलं ददातीति पौरुषसभाजनं च फलं। भक्तेषु दास्यपर्यन्तस्य साधन साध्यत्वात्सख्यं प्रार्थयते। उक्तं च श्री कपिलदेवेन :'नैकात्मतां मे स्पृहयति केचिन्मत्पाद-सेवाभिरतामदीहाः। येन्योन्यतो भागवता प्रसज्य सभायंते मम पौरुषाणि" सर्वथा स्वतन्त्रत्वाय स्वनिष्ठभक्तविषयकीर्तनम्। गुणसभाजने स्वस्यापि स्वातत्र्यार्थं मुक्तेरपरिचछेदार्थं च बहुवचनम् (एकदेशवृत्तित्वं परिच्छेदः) व्यापकत्वमपरिच्छेदोऽत्र व्यापकत्वं। इत्यर्थः भक्तजनत्वादेव। स्वा-

तंत्र्येण न दोषसंबंधः। संसारस्य चक्रत्वादेव परिभ्रमणविषयोपार्जनक्लेशाभावः (क्लेशसाधनपदं मूले भ्रमत इत्यस्यार्थः) क्लेशसाधनपदेन कृपया साधननिष्पत्तिश्च सूचिता। योग्यायोग्यदेहानां बहुधा जातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना। क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात्कर्मपदं। आवश्यकत्वाय स्वपदं निरवधित्वाय बहुवचनम्। चक्रभ्रमणे दंडस्येव मुख्योपयोगे तृतीया। अस्या-मुक्ते गौणत्वज्ञापनायनात्र प्रार्थनापदप्रयोगः। तथा चैतादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादायां मोक्ष इत्युक्तम्। द्वितीय पुष्टि पुष्टिमाह "त्वन्मायेति" समासादेव भिन्नतया न मायामोहनं पूर्वस्माद्विशेष-स्त्वत्पदेनोक्तः। अभिमुख्यं च चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुप्रभृतिष्विव कुटुंबासक्तस्य सर्वथानन्यत्वभंगप्रसंगात्। कृतार्थत्वं तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम्। तदन्ते च प्रार्थना 'भगवदीयत्वेनैवपरिसमाप्तसर्वार्थां' इति सिद्धान्तितत्वात्। धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरु-षार्थसिद्धयर्थं मायाक्रमाद्देहाध्यासं करोति। तत्र देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा पुत्रापेक्षया अन्यार्थ-स्योत्कष्टया भावादर्थसिद्धिः। स्त्रिया कामसिद्धिः प्रसिद्धा। भक्तानां ग्रह एव विशिष्यते, इति न्यायात्। चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाच्च चित्तपदप्रयोगः। क्रीडाप्रतिबंधकत्वात् प्रकृतेविरोधाच्च निषेधप्रार्थना। तथा च कर्मसंबंधव्यतिरेकेण केवल भगवन्मामया। रमणरूपया गृह येव चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन्भगवदीयः स्यात्। इति द्वितीया मुक्तिः। इयमेव मुख्याऽऽशी-रिति सर्वान्ते भूयादिति क्रियापदप्रयोगः ॥४॥

इति श्रीमद्भागवते षष्ठस्कंधे एकादशाध्याये श्रीमत्प्रभुचरण कृता वृत्र श्लोक चतुष्टय व्याख्या संपूर्णा ॥४॥

इस चतुर्थ श्लोक के अर्थ में—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्य धर्मोऽर्थो हरि रेव हि ।
"कामो हरेर्दिदक्षेव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम"

यह श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने कही है। इस प्रकार एक कारिका में सम्पूर्ण वृत्र चतुः श्लोक का सिद्धान्तार्थ निरूपण किया है। इसका यह अर्थ है। कि पुष्टि मार्ग में व्रजाधीपति श्रीकृष्ण की सर्वात्मभाव से सदा सेवा करना ही अपना धर्म कर्त्तव्य है। यही धर्म है और लौकिक वैदिक सब पदार्थों को त्याग करके एक श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व धन समझें। यही अर्थ है और सदा हरिसेवा हरिदर्शन में ही मनकी अभिलाषा रही है। यहि पुष्टीमार्गीय काम है और सदा श्रीकृष्णदास होकर रहना ही मोक्ष है भगवन्माहात्म्य ज्ञानपूर्वक हरिगुणनाम लीला-स्वरूप का श्रवण कीर्तन स्मरण हरिभक्तों के संग रहकर करना भगवत्प्रेमावेश में मग्न रहना ही मोक्ष है ॥४॥ श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने पूर्व के तीन श्लोक की व्याख्या में पुष्टीमार्गीय धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थत्रय का निरूपण किया है। इस चतुर्थ श्लोक की व्याख्या में पुष्टीमार्गीय मोक्ष

का निरूपण है। इस श्लोक में गौण और मुख्य भेद से मोक्ष दो प्रकार का कहा है। वहाँ प्रथम इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में पुष्टिमर्यादा मोक्ष के अन्वय अर्थ को कहते हैं कि 'हे नाथ! स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतः मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं भूयात्'। आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य मम उत्तमश्लोक जनेषु सख्यं न भूयात्'॥ हे नाथ! अपने अनेक जन्मों के कर्मों के वश इस संसार चक्र में जन्ममरण रूप से भ्रमण करने वाला जो मैं हूँ उसे उत्तम श्लोक (आप) के भक्तों के संग सखा भाव होवे किन्तु सम्पूर्ण विश्व को मोह करने वाली आपकी माया से 'अहंता ममता' के स्थान, जो देह पुत्र स्त्री गेहादिक हैं उनमें आसक्त है, चित्त जिसका ऐसा जो मैं उसका उत्तम श्लोक आपके भक्तों के संग सखाभाव नहीं होवे, अर्थात् चित्रकेतु दशा में जैसे भगवदीय श्रीनारद आंगिरा ऋषि के संग सख्य होते हुए भी मेरी देहादि में संसारासक्तचित्त होने से मेरा पुत्रप्राप्ति में 'हठ' हुआ इससे अंगिरा ऋषी ने मुझे हर्षशोक का देने वाला पुत्र भी दिया इससे दुःख हुआ अतः भक्तों के साथ सख्य सुफलित नहीं हुआ। इससे भक्तों के संग सख्य तो होवे, किन्तु पूर्वजन्म की भांति संसा-रासक्त चित्त से सख्य न होवे, यह भाव है। अब श्लोक के उत्तरार्ध में पुष्टि पुष्टि मोक्ष कहा है उसका अन्वयार्थ कहते हैं कि हे नाथ! त्वन्मायया आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु उत्तमश्लोकजनेषु आसक्तचित्तस्य मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्यं भूयात्॥ किन्तु स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतो मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्यं न भूयात्॥ हे नाथ! आपसे संबंध कराने वाली त्वल्लीलोपयोगिनी भक्तजनमन मोहिनी माया से आत्मा देह पुत्र स्त्री गेह जो भगवल्लीला में उपयोगी हैं उनके संग मेरा सख्यभाव होवे, हे नाथ! आप है नाथ जिनके, ऐसे देहादिक में मेरी मित्रता होवे। किन्तु अपने कर्मों से इस संसारचक्र में जन्ममरण रूप से भ्रमण कराने वाली माया से मेरी मैत्री देहपुत्रादिकों में नहीं होवे, अर्थात् केवल मर्यादा रीति से मेरी ज्ञान मुक्ति नहीं होवे।

इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या सर्व साधारण मनुष्यों के समझ में नहीं आती है इससे इस व्याख्या पर श्रीहरिरायजी की टिप्पणी है और गो० श्री पुरुषोत्तमजी का प्रकाश है गोस्वामि श्रीवल्लभजी की टिप्पणी है और भी लेख होंगे। इससे इन महानुभावों ने हम पर कृपा करके अस्मदादिकों को समझाने के लिए बड़ा भारी उपकार किया है इससे इनके हम सदा ऋणि है इनकी हम पर कृपा दृष्टि रहे।

पाठक इस श्लोक के रहस्य को भली प्रकार से समझ सकें इसलिए गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज के प्रकाश का केवल हिन्दी अनुवाद आगे पृष्ठों में दिया जा रहा है जिसमें यह बताया गया है कि पुष्टिमार्गीय मोक्ष, मर्यादा मोक्ष से पृथक है और उस विलक्षण मोक्ष के ही अधिकारी भक्तराज वृत्र हैं।

अब यहाँ पर गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज रचित 'प्रकाश' का भावार्थ दिया जाता है जिस का प्रारम्भ निम्न मंगलाचरण से करते हैं—

प्रणम्य श्रीमदाचार्य चरणाँस्तत्कृपा बलात् ।
तदीयां पुष्टिमार्गीय मोक्षोक्ति विवृणोत्ययम् ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य के चरण कमल में नमस्कार करके तथा उन चरण कमलों का आश्रय लेकर उनके कहे हुए पुष्टिमार्गीय मोक्ष सम्बन्धी वचनामृत का मैं (गो० पुरुषोत्तमजी) 'प्रकाश' द्वारा स्पष्टीकरण करता हूँ ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने स्वरचित "पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा" ग्रन्थ में "पुष्टि मार्ग" का निरूपण किया है, इसलिए उस पुष्टि मार्ग में चार प्रकार के पुरुषार्थ क्या हैं उनका वर्णन भी होना चाहिए । श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में परिकर सहित पुष्टि के स्वरूप का वर्णन किया है । अतः उस में कहे हुए चार प्रकार के पुष्टिमार्गीय पुरुषार्थ कहते हैं । ऊपर तीन श्लोकों में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है परन्तु इस चोथे श्लोक में पुष्टिमार्गीय मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट प्रकार से समझने में नहीं आता है इसलिए श्रीमदाचार्य चरण, पुष्टिमार्गीय मोक्ष का निरूपण करते हैं—

पुष्टि का लक्षण है—पोषणं तदनुग्रह—भगवत्कृपा का नाम 'पुष्टि' है । जिस जीव पर भगत्कृपा होती है, उसके हृदय में भगवद्धर्म के आने से प्रभु अपने भक्त को अपने स्वरूपानन्द का दान देते हैं, इसलिए स्वरूपानन्द के फल की सिद्धि का साधक जो भक्ति माग है वही पुष्टिमार्ग है । अब 'मोक्ष' का स्वरूप बताते हैं ।

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः'—देहादि में जो अहंता ममता रूप (मैं और मेरा) जो विपरीत अध्यास (भ्रम), आत्माध्यास है उस अन्यथा ध्यास को त्याग करके आत्म स्वरूप-श्री कृष्ण में जो चित्त की स्थिति है, सो मोक्ष है । यदि ऐसा है तो फिर 'प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयोविदुः-'स्नेह पाशैर्निबन्धाति भगवान् सर्वमिद जगत्' यह देह गेह (घर) आदि में जीवात्मा की जो दृढ़ आसक्ति है, यही जीवात्मा को दृढ़ पाश में बांधती है इन स्नेह रूपी दृढ़ फांसियों से ही आपने सम्पूर्ण जगत् को बांध रखा है, इत्यादि वाक्यों से जीवात्मा का स्नेह रूपी बन्धन स्पष्ट दीखता है । या यों कहा जावे कि इस स्नेह बन्धन का जो अभाव है, वह मोक्ष है । जब मोक्ष के विषय में सब मार्गों में एकसा ही कथन है तो फिर मोक्ष के प्रसंग में विशेष कहने के लिए परिश्रम करना व्यर्थ है, यदि ऐसी शंका हो तो कहते हैं कि पुष्टिमार्गीय मोक्ष की अन्य मार्गीय मोक्ष से विलक्षणता बताने के लिए पुष्टिमार्गीय मोक्ष के प्रतियोगी (विरुद्ध लक्षण वाले) मर्यादामार्गीय मोक्ष के स्वरूप का पहिले वर्णन करते हैं -

श्लोक—सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबन्धंति महाबाहो देहे देहिमत्ययम् ॥
तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।

हे महाबाहो अर्जुन ! ये प्रकृति माया से उत्पन्न हुए सत्व रज और तम तीन गुण देहादि में अहंममाभिमान (मैं और मेरे–का अभिमान) उत्पन्न करके अविनाशी देह—धारी जीवात्मा को बन्धन में डालते हैं। वहां सत्वगुण तो निर्मल है, ज्ञान प्रकाशक है, इससे निरोग है, फिर भी, सुख के सम्बन्ध से ज्ञानभिमान से जीव का बन्धन करता है और तमोगुण देहादि में अज्ञानकृत आत्मभिमान से जीव को बन्धन में पटकते हैं और रजोगुण विषयानुरागतृष्णा[1] से जीव को बन्धन में बांधते हैं, इत्यादि गीता के वाक्यों से ये तीन गुण ही बन्धन के कारण हैं। इसलिए इन तीन गुणों से बनी हुई देह, गेह (घर) सगे सम्बन्धी में जो त्रिगुण कृत[2] अहंता ममता[3] रूप बन्धन का वासना सहित न होना या बंधन का त्याग, वह मोक्ष है, किन्तु पुष्टि मार्गीय मोक्ष तो इससे विपरीत और विलक्षण है। स्वरूप से साधन से और फल से सब प्रकार से विपरीत है। पुष्टिमार्ग में तो प्रभु निःसाधन जनों को ही अँगीकार करते हैं, पुष्टिमार्गीय मोक्ष का यह स्वरूप है। प्रभु की सेवा घर में ही हो सकती है, इससे घर में रहकर भगवद्भजनानंदानुभव (भगवान् की सेवा के आनन्द का अनुभव) करना ही सहज साधन है, और साक्षात प्रभु स्वरूप के संग भजनानंद (सेवा के आनन्द) का अनुभव प्राप्त करना यह फल है। इस प्रकार मर्यादामार्गीय मोक्ष से पुष्टि-मार्गीय मोक्ष विरुद्ध लक्षण वाला है। सो ही कहते हैं कि देह गेहात्मजादि[4] लीलोपयोगी[5] माया-कृत चित्तासक्ति और भगवदीयों का उत्तम संग होना ही मोक्ष है और देह गेहादि में भगवदीय भाव से चित्तकी अनासक्ति और भक्तों के संग न करना यह बन्धन है। इस बन्धन का स्वरूप तृतीय स्कन्ध के नवमे अध्याय में ब्रह्मस्तुति में कहा है कि—

श्लोक—अह्न्यापृतार्तकरणानिशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षण भग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थ रचना ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसाद विमुखा इहसंसरन्ति॥

हे देव ! आपके प्रसाद से विमुख जो ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं। वे भी इस संसार में आवागमन को ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि, दिन में तो मोक्ष के साधन व्यापार में लगे रहते हैं, इससे इन्द्रियों को दुःख देते हैं और रात में अनेक प्रकार के मनोरथों को बुद्धि में रखकर शयन करते हैं इससे स्वप्न के देखने से क्षण क्षण में उनकी निद्रा भंग होती है, जिससे निद्रा सुख भी नहीं मिलता है। देव

१–विषयों के स्वाद की प्यास। २–तीन गुणों से किया गया। ३–मैं और मेरा।
४–शरीर घर पुत्रादि। ५–भगवान् की लीला, सेवादि में काम आने वाले।

(प्रारब्ध) के कर्मों ने स्वप्न में जो रचना की थी उस सुख सम्पत्ति का भी नाश हो जाता है। इस से भगवत्प्रसाद (भगवान् की कृपा) से विमुख ब्रह्मज्ञानी ऋषि भी इस संसार में ही भ्रमण करते हैं। इसका भावार्थ श्रीमदाचार्यजी ने श्री सुबोधिनी में ऐसा कहा है कि जो जीव पूर्व जन्म में ब्रह्म-भाव का चिंतवन करते हैं उनको प्रभु स्ववेदोक्त (अपने वेद में कहे हुए) मार्ग के साधन करने से प्रसन्न होकर के प्रभु सत्यादि लोकों में अथवा इसी लोक में किंचित्प्रसाद देते हैं तब वह अपने मन में यह विचारते हैं कि वह प्रसाद हमको इच्छित (पसन्द) नहीं है। इस प्रकार भगवत्प्रसाद से विमुख हुए ब्रह्मात्मभाव चिन्तन करते करते ही वे देहावसान को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात्, उनकी मृत्यु हो जाती है।

इस श्लोक में कहे अनुसार ऋषि जन भी इसी लोक में आवागमन करते हैं। अपने जीवन्मुक्त के अभिमान से भगवान् के दिए हुए प्रसाद (कृपा) के ग्रहण न करने से ऐसा भाव ऐसे ऋषियों को होता है। यही प्रसंग श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में भी कहा है कि—

श्लोक—'एते सृतोते नृपवेदगीते त्वयाऽभिपृष्टेह सनातने च।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः॥'

'नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्ति योगो यतो भवेत्॥'

हे नृप तुमने जो यह प्रश्न किया है कि मरणासन्न (जिस की मोत निकट) जीव का क्या कर्त्तव्य है। सो सद्योमुक्ति मार्ग और क्रम मुक्ति मार्ग ये दोनों वेदोक्त सनातनमार्ग मैंने तुम्हें कहे हैं। पहले ये दोनों मार्ग ब्रह्मा के आराधना करने पर भगवान् वासुदेव ने ब्रह्मा को कहे हैं सो मैंने तुम से कहे। यद्यपि इस संसार से मुक्त करने वाले तप ज्ञान, योग, उपासनादि बहुत से मोक्ष के मार्ग हैं किन्तु इस संसार में प्रविष्ट हुए पुरुष को इस भक्ति मार्ग से अन्य कोई मार्ग दुःख रहित सुख का देने वाला नहीं है। इससे जिस प्रकार से भगवान् वासुदेव में भक्तियोग होवे वही मार्ग समीचीन (उचित) है। अन्य सब मार्ग तो अर्चिरादि (थोड़े समय के लिए रहने वाले) लोकों में ही आवागमन (आने जाने) के कराने वाले हैं इससे 'सद्यो मुक्ति' तो दूर रही, भगवद्भक्ति के बिना 'क्रम-मुक्ति' का मिलना भी दुर्लभ है। इससे हरि की भक्ति के बिना अन्य कोई मार्ग से मुक्ति होती ही नहीं है, यह निश्चित सिद्धान्त है। तो फिर एक ही पुष्टि मार्ग में साधन भी समान होने से कोई दूसरा प्रकार तो है ही नहीं तब फिर मोक्ष दो प्रकार का कैसे है? वहां कहते हैं कि पुष्टि मार्ग में अवान्तर भेद होने से मोक्ष में भेद है तो फिर जिस कारण से मार्ग में भेद है, और कैसे मोक्ष का भेद है वहां कहते हैं कि मोक्ष दो प्रकार का है एक पुष्टिमर्यादा रीति से मोक्ष है दूसरा

पुष्टि पुष्टि मोक्ष है। वहां वेदोक्त कर्म ज्ञान और भक्ति ये तीनों वेदोक्त मर्यादा है। यह प्रसंग "पुष्टि प्रवाह मर्यादा" ग्रन्थ में स्पष्ट निरूपण किया गया है। उन कर्म, ज्ञान और भक्ति में से यहां मोक्ष के प्रकरण में विहित-ज्ञान और भक्ति इन दोनों को ग्रहण करके तथा योगोपासनादि कर्म तीनों को ग्रहण करके इन वेदोक्त मर्यादाओं में से एक भक्ति से या विहित-ज्ञान और भक्ति दोनों से अथवा विहिता ज्ञान और भक्ति, योग, उपासनादि कर्म तीनों से युक्त जो भगवद्अनुग्रह (कृपा) है सो पुष्टि मर्यादा है और इस पुष्टि मर्यादा से प्राप्त जो मोक्ष है सो पुष्टि मर्यादा मार्गीय है और केवल भगवान् की कृपा से युक्त जो भगवान् को अनुग्रहान्तर (विशेष कृपा) है, जो भगवद् अनुग्रहान्तर से सपरिकर-लीला-स्वरूप[1] का ज्ञान हो जाए, भगवान् के हृदय के सम्पूर्ण भावों का ज्ञान हो जावे ऐसे अनुग्रहान्तर से मिला हुआ जो भगवदनुग्रह है वह पुष्टि-पुष्टि है इस पुष्टि-पुष्टि से प्राप्त जो आनन्द है सो पुष्टि-पुष्टि मोक्ष है। अब मोक्ष के रूप के भेदों को कहते हैं कि पुष्टि मार्यादा मोक्ष में भगवान् का परोक्ष[2] में अनुभव होता है और पुष्टि-पुष्टि मोक्ष में भगवान् का प्रत्यक्ष[3] में अनुभव होता है। इस भगवान् के परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से भक्तों के स्वरूप की जैसी अवस्था होती है, उस से ही मोक्ष के स्वरूप में भेद है। यह मोक्ष का भेद गोस्वामि श्री वल्लभजी महाराज ने और भी स्पष्ट रीति से समझाया है कि पुष्टि-मर्यादा-मार्ग में स्थित भगवद्भक्त हरि के चरित्रों को आपस में गान करके अपने हृदयान्तर में प्रविष्ट (पधारे) हुए भगवत्स्वरूप के संग रमण करके अपनी पूर्ण कृतार्थता मानते हैं। श्रीनारदजी श्री शुकदेवजी सनकादि की तरह ऐसे भक्त गुणातीत (निर्गुण) आत्माराम कहे जाते हैं और पुष्टि-पुष्टि मार्गीय भक्त तो प्रत्यक्ष में बहि: स्थित[4] भगवत्-स्वरूप के संग सर्वेन्द्रियास्वाद्य[5] सर्व कामोपभोगरूप[6] से रमण करते हैं। इस प्रकार भक्तों की व्यवस्था से दो प्रकार का मोक्ष है इस प्रकार श्लोकार्थ का संग्रह करके पुष्टि-मर्यादा मोक्ष का गौण[7] भाव स्पष्ट बताने के लिए श्लोक के पूर्वार्द्ध में स्थित पदों की व्याख्या करते हैं कि जैसे इस चतु: श्लोकी के पहले तीनों श्लोकों में सम्बोधन पद कहे हैं ऐसे ही इस चौथे श्लोक में भी संबोधन पद की संभावना है। जैसे प्रथम श्लोक में हे 'हरे' ! दूसरे में, समंजस' तीसरे में 'अरविन्दाक्ष' ! संबोधन पद कहे हैं इन संबोधनों के कहने से भगवान् वृत्र के सन्मुख (सामने) प्रत्यक्ष (साक्षात)प्रतीत (मालुम) होते हैं। क्योंकि सन्मुख स्थित को ही संबोधन देकर बोला जाता है। इससे इस श्लोक में भी 'हे उत्तम श्लोक' ! ऐसे संबोधन पद की संभावना होती है। तहां कहते हैं कि यदि 'हे

१—भगवान् की विशेष कृपा होने से भगवान् की व्रज भक्तों के साथ की हुई अनेक लीलाओं का ज्ञान (समझ. दर्शन)।

२—हृदय में, अर्थात् नेत्र के सामने नहीं। ३—साक्षात् नेत्र के सामने।

४—बाहर विराजे हुए। ५—सब इन्द्रियों का स्वाद या रस लेना।

६—सब प्रकार के मनोरथ पूरे करना। ७—नीचे दर्जे का।

उत्तमश्लोक !' इस संबोधन पद को अलग करके अर्थ किया जाए तब तो "हे उत्तमश्लोक !" अपने कर्मों के कारण संसार चक्र में जीवों के संग में घूमने वाले मुझको जन्म-मरण होने वाले जीवों के संग सख्य (मित्रता) न होने की प्रार्थना रूप इस श्लोक का अर्थ हुआ। किन्तु 'अपुनर्भव' मोक्ष तक की भी इच्छा न रखने वाले वृत्र को तो केवल भगवान् के दर्शन की ही मन में इच्छा है, अन्य पदार्थ का तो वृत्र के मन में विचार भी नहीं है। तब वृत्र की मित्रता जन्म-मरण होने वाले जीवों से न हो ऐसी वह प्रार्थना करे सो तो वृत्र से संभव नहीं है। इससे इस प्रकार अर्थ करना उचित नहीं है। इसलिए 'उत्तमश्लोकजनेषु' इस समासांत एक पद का ही अर्थ करना उचित है। अर्थात् मेरा उत्तमश्लोक (भगवान्) के भक्तों में सख्य होवे यही अर्थ ठीक है। यदि कोई यहां यह शंका करे कि संबोधन के बिना अर्थ करने में भगवान् वृत्र के सम्मुख प्रतीत नहीं होते हैं इससे, हे उत्तम श्लोक ! ऐसे संबोधन सहित ही अर्थ करना चाहिए, तो उसका उत्तर है कि संबोधन के आग्रह से वृत्र के प्रत्यक्ष में प्रभु को नहीं बताने वाले अप्रत्यक्षवादी के मन में भी भगवान् वृत्र की बुद्धि में तो प्रत्यक्ष ही हैं, यह बात तो अवश्य माननी ही पड़ेगी क्योंकि............

श्लोक—'अहं समाधाय मनो यथाह संकर्षण स्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्त्ररं होलुलितग्राम्यपाशोगतिं मुनेर्याम्य पविद्धलोकः ॥'

अर्थात् संकर्षण भगवानने जिस ज्ञान भक्ति का उपदेश मुझे दिया है। उस रीत्ति से मैं अपने मन को भगवान् के चरण कमल में धारण कर के हे इन्द्र ! तेरे वज्र के वेग से कटी है। आसुरी देह रूपा फाँसी जिसकी, ऐसा जो मैं, इस देह की बलि भेंट भूत, भैरवादि को देकर इस लोक को त्याग करके मननशील योगेश्वरों की गति भगवत्पद पद्म में प्राप्त हो जाऊँगा। इस वाक्य से वृत्र को अपने पूर्वजन्म के सम्पूर्ण वृतान्त का स्मरण है। इस से वृत्र को भगवान् का एकान्त भक्त अवश्य मानना चाहिए जैसे भीष्म पितामह के प्राण त्याग समय में प्रभु ने कृपा कर के भीष्म को दर्शन दिए ऐसे ही वत्र के प्राण त्याग समय में प्रभु ने कृपा कर के वृत्र को दर्शन दिए हैं। तब वृत्र को भगवत्प्रत्यक्षता में क्या कमी रही। इस से ही श्री मदाचार्य जी ने भगवान् को वृत्र के प्रत्यक्ष में बताया है। यद्यपि इस समय भगवान् वृत्र के प्रत्यक्ष हैं इस से वृत्र को इस समय कहना था कि ममत्वदीयेषु जनेषू सख्यं भूयात्" मेरा आप के भक्तों में सख्य होवे। तथापि "मम उत्तम श्लोक जनेषु सख्यं भूयात्" ऐसा जो कहा है कि मुझे शास्त्र के अर्थ स्वरूप जो उत्तमश्लोक भगवान् उनकी प्राप्ति भक्तों के द्वारा होवे। इससे यहाँ 'उत्तमश्लोक जनेषु' यह समासान्तपद कहा है। सो ही कहते हैं कि—(उद्गतं तमो येषां ते उत्तमास्तैरुत्तमैर्यथार्थ शास्त्रविद्भिः श्लोक्यते कीर्त्यते इत्युत्तमश्लोकः')-जिनके हृदय का अन्धकार नित्य प्रति हरि गुण गान करने से दूर हुआ है। ऐसे यथार्थ शास्त्र वेत्ता (जानने वाले) उत्तम जनों ने प्रभु की कीर्ति का गान किया है इससे उत्तम श्लोक नाम आपका है। अथवा 'उत्तमा परापरविद्यागोचरा श्लोका कीर्तिर्यस्यः परा—जो

परब्रह्म प्रति पादिका उपनिषद रूपा विद्या, और अपरा–जो यज्ञ स्वरूप भगवत् यज्ञादि क्रियाओं की प्रति पादिका विद्या, इन दोनों परा, अपरा विद्याओं के द्वारा की जानी जाती है, कीर्ति जिनकी, इससे भगवान् का नाम उत्तम श्लोक है। उन भगवान् के जो जन (भक्त) हैं वे ही हुए उत्तम श्लोक जन ऐसे हरिगुण गान करने वाले हरि भक्तों के संग मेरी मैत्री होवे। जिन हरिभक्तों का जन्म हरि की लीला के स्वरूप के गान करने के लिए ही हुआ है इनके संग मेरी मित्रता होवे इस में पद्म पुराण का वाक्य जो प्रमाण है सो कहते हैं कि—

श्लोक - **न कर्म बंधनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते।**
विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः॥

अर्थात् वैष्णवों का जन्म कर्मों के कारण नहीं होता है। विष्णु भक्त तो विष्णु के अनुचर (सेवक) होकर हरिगुण गान करने के लिए ही जन्म लेते हैं उनको हरि गुण गान करने में सायुज्य (भगवान् के रूप में मिल जाने वाले) मोक्ष से भी अधिक आनन्द मिलता है पद्मपुराण के इस वाक्यानुसार जो ऐसे जन्म युक्त गुणातीत (निर्गुण) भगवद्भक्त हैं, उनके संग मेरी मैत्री होवे इस से "उत्तम श्लोक जनेषु" यह एक समासांत पद कहा है सो भगवान् को शास्त्रार्थत्वस्वरूप बताने के लिए है। यदि कोई शंका करे कि – "उत्तमैः श्रीनारदशुकसनकादिभि; श्लोक्यते इत्युतम श्लोक" अर्थात् श्रीनारद, शुक, सनकादि ऋषि मुनिजन जिसके यश का गान करते हैं, ऐसे उत्तमश्लोक तो भगवान् है इससे ऐसे शास्त्रार्थत्व की प्राप्ति तो 'उत्तम श्लोक' इन दो पद के समास से ही हो जाती है तब 'उत्तम श्लोक' जनेषु इन तीन पद के समास से ही शास्त्रार्थत्व की प्राप्ति होती है, यह कहना तो ठीक नहीं है। इससे पहले "हे उत्तम श्लोक" ऐसे संबोधन देकर पश्चात् जनन मरण धर्मी जीवों के संग प्रति बन्धक रूप सख्य के अभाव की प्रार्थना अन्त में सत्संग में ही आकर के प्राप्त होती है तब सम्पूर्ण तीनों पदों का समास करके अर्थ करने की क्या आवश्यकता है ? वहां कहते हैं कि भगवान् भक्तों के संग में और भक्तों के द्वारा ही अपने स्वरूप का फलदान देते हैं। यही भाव श्रीमद्भागवत के वाक्यों में सर्वत्र प्रगट होता है। जैसे कि वैध्यासकिः स भगवानार्थ विष्णुरातम्।' व्यासनंदन श्रीशुकदेव जी—'स भगवान्' श्री शुकदेवजी के हृदय में भगवान् विराजते हैं, और राजा परीक्षित विष्णुरात है। इस लीला की कथा श्रवण करने के लिए ही प्रभु ने गर्भ स्थित बालक परीक्षित की रक्षा की है। इससे श्रीशुकदेवजी अपने हृदय में जैसे-जैसे लीला स्वरूप का दर्शन करते हैं, वैसे २ ही लीला स्वरूप का वर्णन करते हैं और राजा परीक्षित के हृदय में विराजे हुए प्रभु अपने चरित्रों को शंका समाधान पूर्वक श्रवण करके प्रसन्न होते हैं इससे ऐसे भक्तों के हृदय में प्रविष्ट हुए भगवान् भक्तों के द्वारा ही फलित होते हैं। इससे ऐसा भावार्थ तो पदत्रय की समास महिमा से ही प्राप्त होता है और हे उत्तम श्लोक" ! मेरा जननादि धर्मी जीवों के संग सख्य न हो वे ऐसे अलग-अलग पद करके अर्थ कर ने में केवल संबोधन के आग्रह से सत्संग को

उदासीनता से आक्षिप्त (दूषित) करके प्रार्थना करना तो असंगत है। इससे पदत्रय के समास करके ही अर्थ करना आदरणीय है। कोई कहे ऐसे गुणातीत आत्माराम भगवद्भक्तों के संग में तो शास्त्रार्थ-रूप भगवत्स्वरूप का परोक्ष में ही दर्शन होता है। तब मैं भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार करता हूं, ऐसी प्रतीति तो नहीं होती है। तब भगवत्स्वरूप कैसे फलित होता है। तहाँ कहते हैं कि—पौरुष सभाजनं च फलं" आदर सहित आसक्ति पूर्वक भगवच्चरित्रों का गान करना ही फल स्वरूप है। यही श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में श्री कपिल देवजी ने कहा है कि—

श्लोक—**नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पाद सेवाभिरता मदीहाः।**
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मन पौरुषाणि॥

मेरी चरण सेवा में प्रीति रखने वाले मेरे अर्थ ही है। अर्थात् मेरे लिए ही हैं सम्पूर्ण अंग चेष्टा देहादि के कृत्य जिन के ऐसे हैं वैसे कितने ही विरले मेरे भक्त परस्पर मिलकर आसक्ति से सन्मान पूर्वक जिस समय मेरे चरित्रों का गान करते हैं, उस समय मेरे दिए हुए सायुज्य मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते हैं। कपिल देवजी के इस वाक्य से भगवदीयों को परस्पर मिलकर के सन्मान पूर्वक आसक्ति पूर्वक भगवत्पुरुषार्थों का जो वर्णन करना है, सो साजुज्य मोक्ष से अधिक आनन्द को देने वाला है पुष्टि मार्गीय जीव मुक्तों का यह साधन है सो ही फल रूप है, उस ही को श्री-शुकदेवजी कहते हैं कि—

श्लोक—"**प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।**
नैर्गुण्यस्थारमन्ते स्मगुणानु कथने हरेः॥

परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तम-श्लोक लीलया।
गृहीत चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
तद हंतेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्॥

हे राजन्! बहुधा लोक वेद में प्रसिद्ध जो विधिनिषेध विधि हैं उन से निवृत हुए जो मननशील सत्पुरुष हैं वे निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा रखते हुए भी श्री हरि गुणानुवाद कथन में ही रमण करते हैं। हे राजर्षे! तुमने भी राज्य का सुख और ब्रह्मानन्द का सुख दोनों अनुभव किए हैं। इससे तुम राजाओं में ऋषि हो इससे तुम्हें यह कहता हूं कि मैं निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा वाला था तो भी उत्तम श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं में मेरा चित्त वशीभूत हुआ हैं इससे ही यह श्रीमद्भागवताख्यान अध्ययन किया है उन भगवच्चरित्रों को मैं तुम्हें कहूंगा क्योंकि तुम भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के भक्त हो इस प्रकार परस्पर भगवच्चरित्रों का कथन करना ही परम फल है। ऐसे ही राजा परीक्षित ने भी हरिचरित्रों की प्रशंसा में कहा है कि—

श्लोक—**निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिऽरामात् ।**
क उत्तमश्लोक गुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥

निवृत्त हुई है तृष्णा जिनकी अर्थात् जिनकी विषय वासना की प्यास बुझ चुकी है, उन्होंने भी जिन हरि चरित्रों का गान किया है, ऐसे जो हरि चरित्र है सो जन्ममरण रूप संसार रोग को मिटाने वाली औषधरूप है और वक्ताओं के कथन में और श्रोताओं के सुनने में मन को रुचिकर आनन्द देने वाला है ऐसे श्रीकृष्ण के चरित्रों को श्रवण कर के एक पशु घाती (आत्म-हत्यारे) के सिवाय ऐसा कौनसा पुरुष है, जो विराम को प्राप्त होता है, अर्थात् तृप्ति प्राप्त करता है इत्यादि वाक्यों में ऐसे गुणातीत आत्माराम ब्रह्मानन्द-मग्न भक्तों को भी जब प्रेमासक्ति पूर्वक हरिगुणानुवाद करने में ब्रह्मानन्द से अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है तब तो उनको मोक्ष सुख की सिद्धि यहां ही है। यही श्री मद्भागवत में कहा है कि—

एकान्तिनोयस्य न किञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वैभगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्ति आनन्दसमुद्र-मग्नाः ॥

जो भगवान् के एकान्त भक्त, निश्चयात्मक रूप से भगवान् की शरण में प्राप्त हुए हैं, ऐसे एकान्त भक्त तो अति अद्भुत, सुन्दर, मंगल का देने वाला जो भगवच्चरित्र है, उसको गाकर के आनन्द समुद्र में मग्न होते हुए अपने प्रभु से मोक्ष पर्यन्त कोई भी पदार्थ की इच्छा नहीं रखते हैं। इन वाक्यों में ऐसे भक्तों को तो वह साधन ही मोक्ष रूप है। जैसे काव्य के सुनने में वर्णनीय चरित्र के परोक्ष में होने (सामने न होने) पर भी लौकिकी जीवों को तदाकार रूप में ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है कि उस आनन्द के आगे अन्य कोई आनन्द के स्वाद लेने की सुध ही नहीं होती है, उस आनन्द में अन्य सब आनन्द गल जाते हैं, वैसे ही यहां भी हरिगुण सभाजन करने में हरि भक्त भी अपने आत्माराम में आनन्द लेने के समान सौंदर्यानन्द में लीन होने से भगवत्स्वरूप के परोक्ष होते हुए भी हरिगुण सभाजन करने में भगवदानन्दमय हो जाते हैं, यदि कोई कहे कि ऐसा ही मोक्ष सुख हरिगुण श्रवण करने वाले श्रोताओं को भी होता होगा, क्योंकि श्रोताओं के भी ऐसे ही आसक्ति सूचक वचन श्रवण करने में आते हैं, जैसेकि—

'नानु तृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।' हे योगेश्वर ! आपके मुख से निकले हुए हरि-कथा रूप वचनामृत को पान करके भी मेरे मन की तृप्ति नहीं होती है। यह वाक्य राजा जनक का नवयोगेश्वरों के प्रति है और ऐसे ही राजा परीक्षित के वचन हैं कि—

श्लोक—'**येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः ।**
करोति कर्णं रम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभोः ॥'

हे सर्वज्ञ, सर्व कथन समर्थ ! सर्व दुःख हर्ता, सर्व समर्थ, षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न[1], भगवान् जिस-जिस अवतार को धारण करके जिन-जिन चरित्रों को करते हैं उन मनोहर मन को आनन्द देने वाले चरित्रों को हमें कहो, इत्यादि हरिगुण सभाजन वाक्य और भी देखने में आते हैं। इससे उस हरि-गुण सभाजन वक्ता की अपेक्षा (आवश्यकता) होती है। इससे श्रोता के हीन भावों के प्रकट होने से वृत्र को भगवद्गुण श्रवण करने के लिए भगवदियों के संग मात्र की ही प्रार्थना करनी थी भगवदियों के संग सख्य (मित्रता) करने में क्या विशेषता है वहाँ कहते हैं कि ये जनक परीक्षितादि श्रोताओं के वाक्य तो भगवद्गुण सभाजन करने में वक्ता का उत्साह बढ़ाने में कारणरूप हैं। भगवद्गुण सभाजन वाक्य नहीं है। क्योंकि भगवल्लीला के स्वरूप का माहात्म्य, ज्ञान पूर्वक तात्पर्यादि (अर्थ इत्यादि) सहित जो कथा है वह हरिगुण सभाजन कहा जाता है। यही भाव श्री मद्भागवत के एकादश स्कन्ध के पांचवें अध्याय में भी कहा है कि—

श्लोक—**कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।**
यत्रसंकीर्तने नैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष हैं और सार वस्तु के ग्रहण करने वाले हैं तथा जो गुणवान हैं, वे सत्पुरुष कलियुग की ही प्रशंसा करते हैं क्योंकि कलियुग में श्री हरि के संकीर्तन करने से ही सम्पूर्ण स्वार्थ की प्राप्ति होती है, इत्यादि वाक्यों में गुण तात्पर्यादि को समझकर के कथन करने को ही "सभाजन" कहते हैं। इससे परीक्षित के वाक्य तो गुणादि के ज्ञान प्राप्त करने के लिए हैं वक्ता का उत्साह बढ़ाने वाले हैं, अर्थात्, श्री शुकदेवजी के समान वक्ता हरि के गुणों के माहात्म्य को भली प्रकार से समझकर के वर्णन करते हैं। परीक्षितादि श्रोता हरि के गुण के माहात्म्य को अच्छी तरह नहीं जानते हैं, किन्तु उनकी भगवान् के गुणों को सुनने में रुचि होने से भगवद्गुणों को भली प्रकार से जानना चाहते हैं इससे परीक्षितादि श्रोताओं के वाक्य वक्ताओं के उत्साह वर्द्धक (बढ़ाने वाले) होने से श्रोताओं के वाक्य हरिगुण सभाजन में साधन रूप हैं, क्योंकि, भक्तिमार्ग में श्रवण भक्ति से आरम्भ करके दास्य भाव तक सब भाव साधन रूप हैं और सख्यभाव है सो फल रूप है। इससे भक्तों के संग सख्य भाव की प्रार्थना है सख्य में तो सखा का स्वरूप सखा के मन के भाव सब ही अपने मन में बसते हैं। सबका मन सबके अनुकूल होता है, यह विशेषता है। इससे सख्य की प्रार्थना है। भक्तों के संग सख्य भाव होना मोक्ष रूप है। यदि कोई कहे कि मोक्ष में तो भय और शोक नहीं रहता है। और पराधीनता भी नहीं रहती है। ये सब मोक्ष के लक्षण हैं। सो ही कहते हैं कि—

१—छः गुण-(१) ऐश्वर्य, (२) वीर्य, (३) श्री, (४) यश, (५) ज्ञान, (६) वैराग्य से पूर्ण।

'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' 'स्मर्तव्यश्चेच्छताभयं' 'तरति शोकमात्मवित्'
'तदस्य संसृतिर्बंधः पारतंत्र्यं च तत्कृतम्'

हे जनक ! तू अभय को प्राप्त है। अभय की इच्छा वाले का हरि का स्मरण करना ही कर्त्तव्य है। आत्माभिमानी शोक से तर जाते है। इस जीवात्मा को अहंता ममता संसार का बंधन है इससे ही इसको पराधीनता है। इस प्रकरण में और भी कहते हैं "प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ताविधिषेधत:" "एष ह्वाव न तपति" लोक वेद की विधिनिषेध विधियों को त्याग कर के मननशील आत्माराम गुणातीत भक्त भी जब भगवद्गुण सभाजन में ही मग्न रहते हैं। इससे भक्त ही ताप को प्राप्त नहीं होते हैं। इससे इस श्रुति के अर्थ स्फुरण[1] से भक्तों को भय और शोक न होने पर भी सख्य के संबंध युक्त पदार्थ होने से परापेक्ष[2] रूप है तब परतंत्रता तो नहीं मिटी इससे सख्य का मोक्ष भाव सिद्ध नहीं हुआ। वहाँ कहते हैं कि "सर्वथा स्वतंत्रत्वाय स्वनिष्ठ भक्त विषयकीर्तनम् ॥" इसका यह भाव है कि मेरी स्वतंत्रता हमेशा रहे इसके लिए अपनी आसक्ति के विषय भक्त होय। यह 'मम' पद के कहने का तात्पर्य है अर्थात् भक्तों में आसक्ति रूप से मेरी मैत्री सदा रहे। इससे मेरी सदा स्वतंत्रता रहेगी 'मम' पद कहने का यह भाव है कि जैसे घृत (घी) में 'द्रवत्व (पतलापन) गुण सदा स्वभाविक होता है, तथापि अग्नि सूर्यादि के संग नैमितिक संबंध होने से वह द्रवत्व गुण अधिक रूप में प्रकट होने लगता है। जैसे संबंधयुक्त पदार्थ जो दया नम्रता आदि हैं, वे अपने अन्तः करण के धर्म हैं अतएव इस में अन्य पर निर्भर रूपी परतंत्रता बाधक नहीं है क्योंकि दया नम्रतादि अपने अन्तःकरण के धर्मों को करने वाला चाहिए जिस के ऊपर प्रगट कर सकते हैं। दया नम्रता, प्रेमादि को प्रकट करने में अपनी स्वतंत्रता ही रहती हैं। एवं सख्य भी अपने अंतःकरण का धर्म है, जिससे इस में अपनी स्वसंत्रता है। इस से ऐसे हरि भक्तों में मेरी मित्रता होवे। यही बात श्री मदाचार्य चरण ने "स्वनिष्ठभक्त विषय कीर्तनम्" इस पंक्ति में कही है। इससे ऐसी स्वतंत्रता पूर्ण सख्य के मोक्षत्व की हानि नहीं है। यदि कहो कि भक्तों के साथ सख्य में अपनी ऐसी स्वतंत्रता होते हुए भी अपने को सख्य भाव से श्रोता बनने में वक्ता के आधीन तो रहना ही पड़ेगा तब तो सख्य में मोक्ष सुख की हानि ही है, और वक्ता भी जनन मरण आदि धर्म वाले होने से किसी के पास रहने में, किसी के अन्यत्र चले जाने में, किसी के तिरोधान हो जाने में, हरिगुण वक्ता के न होने में सख्य का ही अभाव हो जाएगा, और देश काल जानने वाले की अवधि होने से सख्य के मोक्षत्व की ही हानि है। ऐसी शंका में कहते हैं कि "गुणसभाजन" भगवद्गुण सभाजन करने में बहुतों के होने से सब एक संग तो वक्ता नहीं हो सकते, और सब तो श्रोता

१–जानने में। २–अन्य की आवश्यकता अर्थात् दूसरे पर निर्भर रहना।

बनके ही रहेंगे। तब उनके श्रोता होने में अपने को वक्ता होने में अपनी स्वतंत्रता सिद्ध रहेगी और अनेक श्रोताओं के होनें से कोई एक श्रोता का तिरोधान होने से तथा अन्यत्र जाने से बहुतों के होने से वियोग का अभाव रहेगा। तब देश काल के सीमा रहित होने से अपने सख्य भाव की हानि नहीं है। और सख्य के मोक्षत्व को भी हानि नहीं है। इसके लिए "उत्तमश्लोक जनेषु" इस पद में बहुवचन कहा है। यदि कहो कि औरों को श्रोता बना कर के आप वक्ता बन करके अन्य भक्तों को हीनाधिकारी समझने में ऐसी स्वतंत्रता में तो भक्तों का अनादर करने से दोष प्राप्त होता है क्योंकि जो हरि लीला की कथाओं को महातम्य ज्ञान पूर्वक जानते हैं वेही वक्ता होने में अधिकारी हैं और जो हरि लीला कथा महातम्य को अच्छी रीति से नहीं जानते हैं किन्तु जानना चाहते हैं, सो हीनाधिकारी श्रोता बनने के योग्य हैं और जहाँ सब ही हरि चरित्र कथा कहने में कुशल हैं तब वृत्र का अपने आपको वक्ता बना के औरों को श्रोता बनाने में भक्तों का अनादर करना है। वहाँ कहते हैं कि "जनत्वादेव" ये सब ही भक्त यथार्थ शास्त्र ज्ञाता होते हुए भी प्रभु की इच्छा से जननादि धर्मयुक्त हैं, स्वतंत्र नहीं हैं, प्रभु के आधीन हैं इस से अपनी प्रभु आधीनता प्रकट करने के लिए हरि गुण सभाजन करने में जो स्वतंत्रता है इस में दोष संबंध नहीं है। जैसे सनकादिक ऋषि सब ही ज्ञानी हैं, तथापि एक सनंदन ऋषि को वक्ता बनाकर के और सबने श्रोता बनकर के वेद स्तुति की निर्णय कथा सब ने श्रवण की अपने में किसी को भी बड़े छोटे का भाव नही हुआ, सब समान ही रहे, न कोई परतंत्र रहा, न कोई स्वतंत्र सब में सब का समान भाव ही रहा कोई कहे कि मोक्ष में तो दुःख रहित सुख होता है किन्तु हरि गुण सभाजन रूप मोक्ष में तो श्रोता की अपेक्षा 'जरूरत' रहती है, इससे हरिगुण लीला के रस को जानने वाले श्रोता को प्राप्ति के लिए खोज करनी पड़ेगी और भगवत्पुरुषार्थियों को भली प्रकार से जान करके वर्णन करने में ही हरिगुण सभाजन रूप मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है और हरिगुण सभाजन सिद्धि का ज्ञान हरि के चरित्रों के श्रवण करने से होता है इन हरि चरित्रों को श्रवण कराना वक्ता के आधीन है। इससे हरि लीला का रस जानने वाले वक्ता की प्राप्ति के लिए ही ढूंढ़ खोज करनीं पड़ेगी। तब ऐसे परिश्रम से आपत्ति भोगने में दुःख लपेटे सुख के होने से आप ऐसे सख्य में हरिगुण सभाजन को मोक्ष सुख कैसे कहते हैं? वहाँ कहते हैं कि "यह अहंताममता रूप संसार, एक चक्र के समान है। यह चक्र (पहिया) तो चलता ही रहता है इस जन्म मरण रूप संसार में स्थित जीव स्वयं ही सब जगह पहुंच जाता है। इससे जीव को स्वयं ही परिभ्रमण होता है। और अपने इच्छित अनिच्छित विषय की प्राप्ति भी स्वयं ही हो जाती है। इससे विषय एकत्रित करने में क्लेश भी नहीं होता है। इससे दुःख रहित सुख होने से भक्तों के संग सख्य में मेरे मोक्ष सुख की हानि नहीं है। इस प्रकार अपने आप ही परिभ्रमण और अपने आप ही विषयों को एक-त्रित करना होता है। इन दोनों कार्यों के स्वयं होने से दुःख का न होना यहां संसार के पहिये के

घूमते रहने के कथन से सूचित किया तब दुःख रहित सुख के होने से सख्य में मोक्षत्व की हानि नहीं है। यदि कहो कि भक्तों के संग सख्य होने से हरिगुण या सभाजन रूप मोक्ष सुख की प्राप्ति भले ही रहे तथापि यह संसार पद से जन्म-मरण रूपा क्लेश साधनता भी तो प्रकट होती है । तब कैसे दुःख बिना सुख हुआ। इससे यह संसार पद के तात्पर्य को कहते हैं कि इस संसार पद से वृत्र ने अपने ऊपर भगवत्कृपा की सूचना की है। मेरी साधन सम्पत्ति भगवत्कृपा से ही सिद्ध होवेगी। इस से अपने ऊपर भगवत्कृपा का होना सूचित किया है। इस संसार पद का प्रयोग कुछ जन्म-मरण के दुःख के बोध कराने के लिए नहीं है। इससे दुःख से भिन्न ही सुख है। क्योंकि यदि कोई कहे कि यह संसार पद भगवत्कृपा प्रार्थना का सूचक है। तो भी क्लेश का न होना कैसे सिद्ध होता है। क्योंकि प्रार्थना भी तो किसी न किसी प्रकार के दुःख में ही की जाती है। इससे संसार पद से जो वृत्र ने प्रार्थना की है। सो क्लेश बोध कराने के लिए ही की है। ऐसी शंका में कहते हैं कि इस समय वृत्र की यह प्रार्थना है कि इसमे पहले कितनी ही बार मैंने बहुत सी योग्य अयोग्य देह पाई है। मुझे पहले बहुत क्लेश प्राप्त हुए अब इस समय भगवान् की कृपा से यह मेरी अन्तिम देह है। अब इससे आगे मुझे कोई क्लेश नहीं है। इससे आगे मेरी देह प्रभु सेवा में उपयोगी होवे। प्रभु से इस प्रकार की प्रार्थना है। इससे दुःख से भिन्न सुख है। यदि कोई कहे कि कार्य मात्र में प्रभु इच्छा ही कारण कहनी चाहिए। ऐसे ही क्लेश में भी प्रभु इच्छा ही कारण कहनी चाहिए । तब ऐसे भगवदीय वृत्र ने "स्वकर्मभिः" में अपने कर्मों के वश मैं संसार चक्र में भ्रमण करता हूँ। ऐसा क्यों कहा। ऐसे भगवदीय वृत्र को तो भगवान की इच्छा की ही कार्यमात्र में स्फूर्ती होनी चाहिए। कार्य मात्र के होने न होने में भगवदिच्छा ही कारण कहना चाहिए। वहां कहते हैं कि क्लेश में अपने स्वामी का नाम नहीं लेना चाहिए। इससे संसार चक्र भ्रमण रूप क्लेश में वृत्र ने अपने कर्म ही कारण कहा है। और अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इससे "स्व" पद कहा है। इससे अपन स्वामी का नाम लेना उचित नहीं था। किन्तु कर्म पद का कहना ही उचित था इससे अपने कर्म हा कहे। यदि कोई कहे कि—

श्लोक—**जनोवै लोक एतस्मिन्नविद्या काम कर्मभिः ।**
उच्चावचासुगतिषु न वेद स्वांगतिं भ्रमन् ।।

यह संपूर्ण जीवलोक अपनी अविद्या के काम कर्म के वश हुआ. देव,पक्षी मनुष्यादि योनियां प्राप्त हुई इस जगत में घूमता फिरता है। अपने आश्रय को नहीं जानता है। इस वाक्य में अविद्या काम और कर्म इन तीनों को संसार में भ्रमण करान का कारण कहते हैं तो फिर वृत्र ने केवल कर्म को ही कारण क्यों कहा। वहां कहते हैं कि यद्यपि संसार चक्र में भ्रमण कराने में अविद्या, काम और कर्म इन सबके कारण होते हुए भी मुख्य उपयोग कर्म का ही है। जैसे कुम्हार के घडा बनाने में चाक को फिराने मे डोरा (धागा), चाक इत्यादि निमित्त कारण के रहते हुए भी मुख्य

उपयोग चाक के फिराने में दंड का ही होता है। अतएव 'दण्डेन घटं करोति' यह प्रयोग है। इससे यहां कर्मों के मुख्य उपयोग में 'स्वकर्मभिः' इस कर्म पद में ही तृतीया विभक्ति कही है। और कर्म के न होने में तो केवल प्रक्रिया ग्रोर काम से तो भ्रमण होता ही नहीं है। यह तो अनुभव सिद्ध है इससे संसार चक्र में परिभ्रमण करने में मुख्य उपयोग कर्मो का हो है। और शरीरधारी जीव से कर्म तो स्वयं होते ही रहते हैं। सो ही गीता में कहा है कि—

श्लोक—**नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत।**
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

कोई भी जीव एक क्षण मात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। माया के सत्व रज और तमोगुणों के वशीभूत हुआ सम्पूर्ण जीवसमूह कर्मों को करता ही है। ये माया के गुण ही जीव से कर्मो को कराते हैं। इससे मनुष्य को अपने किये हुए कर्मों का फल भी अवश्य भोगना पड़ता है। चाहे किसी भी लोक में जावे और किसी भी योनि में जन्म लेकर जीव कर्मो का फल अवश्य भोगता है। मनुष्य देह के सिवाय अन्य सब देह कर्मफल के भोगने के लिए ही है। इससे जब तक यह जीव देह को धारण करता है तब तक कर्म तो होते ही रहते हैं। कर्मो की समाप्ति नहीं होती है। इससे यहां 'स्वकर्मभिः' इस कर्म पद में तृतीया विभक्ति का बहुवचन कहा है यदि कोई कहे कि भले ही वृत्र को ऐसा ही भाव होवे। तथापि वृत्र भगवदयों के संग सख्य की प्रार्थना करता है यह कहना तो असंगत ही है क्योंकि श्लोक के पूर्वार्द्ध में कोई प्रार्थनावाचक पद तो है ही नहीं इससे सम्पूर्ण व्याख्यान संदेहयुक्त है। वहां कहते हैं कि इस पुष्टिमर्यादा मोक्ष का गौणभाव बताने के लिए यहां प्रार्थना पद का प्रयोग नहीं किया गया है। वृत्र को तो पुष्टि-पुष्टि मोक्ष की बिशेष चाहना है। किन्तु प्रार्थना पद के न रहने से भी अर्थ में तो प्रार्थना सिद्ध है। किन्तु उदासीन भाव में प्रार्थना है। इससे प्रार्थनापद के न रहने मात्र से ही अर्थ में संदेह नहीं करना चाहिए। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में यह अर्थ सिद्ध हुआ कि ऐसे भगवल्लीला स्वरूप के रहस्य के जानने वाले भगवदीयों के साथ में सख्य होना पुष्टि मर्यादा मार्ग में मोक्ष है। इसको गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज स्पष्ट करके बताते हैं कि "पुष्टि प्रवाह मर्यादा" ग्रन्थ में यह कहा है कि "तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एवं न संशयः "पुष्टि मार्ग में" जीव अलग ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पुष्टि सृष्टि के जीव भिन्न ही होते हैं। इस प्रकार इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में पूर्वोक्त हेतुओं से पुष्टि मार्गीय जीवों का भेद बताकर के पुष्टि सृष्टि में उत्पन्न हुए जीव भगवत रूप सेवा के लिए ही प्रकट हुए हैं। वे पुष्टि सृष्टि के जीव स्वरूपादि में भगवान् के समान होते हैं। भगवत्सेवा सिद्धि के अर्थ ही किंचित् श्रीहरि में और हरिभक्तों में थोड़े बहुत भाव होते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर भेद से तथा सेव्य और सेवक भेद से जिनका थोड़ा बहुत भेद बता करके उनको शुद्ध, और भिन्न भेद से दो प्रकार के कहे हैं। इस प्रकार मर्यादा मिश्रित

भगवान् के कृपा-पात्रों का है की लीला के गुण रहस्य को जानने के लक्षण कह के उनका पुष्टि सृष्टि में स्थित जीव होना सिद्ध किया है। सोही कहते हैं कि श्लोक वेदिकत्व लौकिकत्व कायप्यात्तेवु नान्यथा। वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः पुष्टि सृष्टि में स्थित जीवों में वैदिक धर्म सत्कर्मों का करना तथा लौकिकपन लोक को मर्यादा को रीति से चलना लोक शिक्षा के लिए कपट से रहते हैं। किन्तु वैष्णव धर्म ही पुष्टि जीवों में स्वाभाविक होता है। इस पुष्टि मार्गीय जीव से अन्य जीव में सब बात उल्टी होती है। जैसे मर्यादा मार्गीय जीव में वैदिक धर्म सहज रहता है। और वैष्णवपन और लौकिकपन कपट से रहते हैं। और प्रवाही जीवों में लौकिकचातुर्य सहज होता है। और वैष्णवत्व तथा वैदिकत्व कपट से रहते है। इस प्रकार विपरीत रूप ज्ञापनपूर्वक सामान्य लक्षण तीनों प्रकार के जीवों का "पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ" में कहा है।

वही यहां श्री मद्भागवतादि ग्रन्थों के मूल में 'नैकात्मतांमें' 'प्रायेण मुनयो' 'परिनिष्ठितोपि' 'तत्राभवद्भगवान् व्यास पुत्रः' 'तद्वयष्टवर्षं' द्वैपायनाच्छुको ज्ञज्ञे भगवानेव शंकरः। अंशांशेनावतीर्योर्व्यों स प्राप परमं पदं' 'तं स्कन्द इत्याचक्षते' 'तथा सुहृत्तम् दिदृक्षितं प्रसंगे'

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारावत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदो भीक्ष्णं कृष्णो पासनलालसः॥

इत्यादि वाक्यों से श्री शुक, सनत्कुमार नारदादिकों में ही पुष्टिमर्यादा मार्गीय हरिगुण के रहस्य के ज्ञान के लक्षण प्रकट होते हैं तथा 'कायेन च फलं पुष्टौ' पुष्टि मार्ग में भगवान् स्वरूप धारण करके भक्तों को अपने स्वरूप के आनन्द का फलदान करते हैं। सो यहां 'वैयासकिः स भगवान्' इस वाक्य में फल कहा है। इसमें भी प्रथम कक्षा का भक्त राजा परीक्षित है। उत्तम कक्षा के पुष्टभक्त सनत्कुमारादिक है क्योंकि छादोग्योपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के संवाद में सर्वात्मभाव के विवरण करने से यह लक्षण सनत्कुमारादि में ही घटित होते हैं और वेदस्तुति के निर्णय में भी श्रुतिगीता का अर्थ भगवद्भजनार्थ ही लगाया है यह श्री सुबोधिनीजी में निर्णय किया है। इससे सनत्कुमारादिक ही पुष्टिमर्यादामार्गीय भक्तों में उत्तम कक्षाधिकारी हैं यह मोक्ष प्रायः चतुर्थाश्रमी हंस परमहंसों को ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार भक्तराज वृत्र उदासीनता से पुष्टिमर्यादा मोक्ष की प्रार्थना करके अब पुष्टि-पुष्टि मोक्ष की प्रार्थना करते हैं। वे सर्व प्रथम शास्त्र में कहे हुए मोक्ष द्वार को कहते हैं–'प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः' 'स एवहि साधुषु कृतो मोक्ष द्वारमपावृतम्' 'त एव साधवः साध्वि सर्व संग विवर्जिताः। संगस्तेष्वथेते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हिते॥ अर्थात् इस जीवात्मा की अहंता ममता (मैं हूँ ये सब मेरे हैं) रूप संसार में जो दृढ़ आसक्ति (लगाव) है उसीने जीवात्मा को मजबूती से

बांधकर जकड़ रखा है। यदि यह लगन साधु महापुरुषों के सत्संग में हो तो जीवात्मा के लिए मोक्ष का दरवाजा खुला हुआ ही है और मोक्ष को प्राप्त करने में कोई रुकावट नहीं है। यहां उपदेश भगवान् कपिलदेवजी अपनी माता देवहूतीजी को देते हैं कि हे माता ! तुम्हें साधु पुरुषों का संग ही करना चाहिए वही तुम्हारे लिए हित करनेवाला है अब साधु किसे समझना चाहिए उसके लिए कहते हैं कि जिन महापुरुषों ने सब संसार की वस्तुओं से अपना मन हटा लिया है ऐसे पुरुष ही संसार के संग दोष का हरण कर सकते हैं। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णजी ने उद्धवजी को आज्ञा की है कि 'सत्संगेनहि दैतेया' अर्थात् सत्संग से ही दैत्य दानव यातुधान प्रल्हादादि परम गति को प्राप्त हुए हैं इत्यादि वचनों से सत्संग को मोक्ष का खुला हुआ द्वारा कहा है। इसलिए श्लोक के पूर्वार्द्ध में हरिगुणगान को मोक्ष का साधन कहा है इसमे भक्तों के संग सख्य (मित्रता) होने को पुष्टिमर्यादा मोक्ष कहना उचित ही है। अब इसमे आगे इस श्लोक के उत्तरार्द्ध (पीछे के भाग) में 'आत्मा, आत्मज (पुत्र) दार (पत्नी) गेह (घर)' इत्यादि में आसक्ति को बताने वाले शब्द और 'नकार' अर्थात् निषेध (जो न होवे) और 'नाथ' इन पदों का अर्थ करना शेष रहा। इनका भावार्थ बताते हैं। हे नाथ ! मेरी देह, पुत्र, स्त्री घर आदि में आसक्ति न हो। इस प्रकार का अर्थ होता है तो फिर देह आदि में आसक्ति को मोक्ष कैसे कहा गया है तो उसका समाधान यों करते हैं कि भगवान् के प्रत्यक्ष होने के ज्ञान से 'पुष्टि-पुष्टि' मोक्ष की व्यवस्था पहले बता दी गई है। इसलिए अब यहां पर 'पुष्टि-पुष्टि' मोक्ष के कहने के लिए भगवान् के साक्षात दर्शन के ज्ञान से उत्पन्न हुए मोह का देहादिक में आसक्ति पैदा करने वाले मोह से विशेष उत्तमता बताते हैं कि 'त्वन्मायया' अर्थात् आपके सम्बन्ध वाली माया[1] जो आपके स्वरूप में आसक्ति पैदा करने वाली माया है उससे मोहित होने से देह पुत्र स्त्री और घर में मेरे आसक्त चित्त होते हुए भगवदीय देह गेहादि (अर्थात् आपकी सेवा में सहयोगी जन) में सख्य (मैत्री) होवे।

यह माया-मोहन भिन्न प्रकार का है क्योंकि यह मोहना उस माया (योग–माया) का है जो भगवान् से सम्बन्धित लीलाओं में उपयोगी भगवद् भक्तों के मन को मोहित करने वाली तथा भगवान् के स्वरूप में आसक्ति पैदा करने वाली है। यह मोहना उस माया का नहीं है जो संसार के पदार्थों से जीव को मोहित करती है इसलिए फिर इस पंक्ति का अर्थ है—हे नाथ !

श्लोक—**त्वन्मायया आसक्त वित्तस्य मम उत्तमश्लोकजनेषु आत्मादिषु सख्यं भूयात्।**
स्वकर्मभि संसारचक्रे भ्रमतः मम विश्वव्यामोहिकया मायया: संसारासक्त चित्तस्य आत्मादिषु सख्यं न भूयात् ॥

---

[1] 'माया' शब्द का प्रयोग समझना आवश्यक है—भगवान् की माया के दो भेद हैं, एक योग माया है जो भगवान् में जीव को आसक्ति कराती है और दूसरी अविद्या है जो संसार में जीव को आसक्त करती है उसे विश्वमोहनी माया भी कहते हैं।

हे नाथ आपके स्वरूप में, आसक्ति करने वाली आप से सम्बन्ध वाली माया से मेरा चित्त आसक्त है, अर्थात् मैं मोहित हूँ मेरी मैत्री उन भक्त, देह, पुत्र, स्त्री घर से हो जिनके आपही स्वामी हो। मैं अपने कर्मों के अनुसार संसार चक्र में भ्रमण करूं परन्तु विश्व को मोहित कर संसार में आसक्ति करने वाली आपकी माया से मोहित हुए चित्त से देह जीवादि से मेरा सख्य न हो। इस तरह यहाँ विश्व को मोहित करने वाली माया से वृत्र मोहित नहीं है किन्तु भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करने से जो ज्ञान हुआ जिससे भगवान् में आसक्ति हुई उस ज्ञान से मोहित है इसलिए यहां मोहित होना एक दूसरे प्रकार का है। यद्यपि मायाशक्ति का मोहित करने में ही अधिकार है तथापि भगवान् खुद ही मायारूप हैं।

सो ही श्रुति कहती है कि "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" माया और अविद्या रूप स्वयं भगवान् ही हैं। इस श्रुति में कहा है कि माया और अविद्या दोनों शक्तियों में कोई भेद नहीं है तथापि—

श्लोक—**ससर्जाग्रेन्धतामिस्रमथतामिस्रमादिकृत्।**
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥

यहां तृतीय स्कन्ध के बारहवें अध्याय में अविद्या के पांचों पर्वों को अज्ञान की वृत्ति रूप में कहा है। और बीसवें अध्याय में "तामिस्रमन्धतामिस्रं तमोमोहो महातमः" माया के पंच पर्वकर्मों का भेद दिखाने के लिए श्री सुबोधिनीजी में पूर्व के बारहवें अध्याय के पर्वों से इस बीसवें अध्याय के पांचों पर्वों को भगवत्कर्तृक मोह[1] को कह कर इस माया मोह को उत्तम कहा है। इसलिए कहते हैं कि अविद्या का प्रथम पर्व तामिस्र इन्द्र को हुआ इससे महाभोग भोगने की इच्छा होने से इन्द्र को अभिमान हुआ इससे ही भगवान् ने मख (यज्ञ) भंग किया और कल्पवृक्ष को हरण किया यह महाभोग इच्छारूप मोह प्रभुलीला में उपयोगी हुआ। द्वितीय अंधतामिस्र पर्व उग्रसेनादि में प्रकट हुआ सो राज्यलीला में उपयोगी हुआ।

तृतीय अज्ञानपर्व श्रीयशोदा में प्रकट हुए इससे "सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम्" शीघ्र ही नष्ट हुई है स्मरणशक्ति जिसकी ऐसी श्री यशोदाजी ने पूर्व की भांति स्नेह से भीगे हुए हृदय से श्री बालकृष्ण को गोद में ले लिया।

यह मृत्तिकाभक्षणलीला में उपयोगी हुआ, अविद्या का चतुर्थ मोहपर्व कालियदमनादि लीला में उपयोगी हुआ। अविद्या का पंचम महामोहपर्व सर्वत्र सेवामें उपयोगी होने से इस मोह की उत्तमता सर्वत्र ही प्रकट होतो है इससे मोहों में प्रकार भेद है। यदि कोई यहां यह कहे कि—

१—भगवान् के किए हुए मोह।

श्लोक—**विद्याविद्ये ममतनू विद्धयुद्धवशरीरिणाम् ।**
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।

हे उद्धव ! विद्या-अविद्या ये दोनों शक्तियाँ अनादि हैं मेरी सर्वभवनरूपा इच्छा शक्ति ने रची है। ये दोनों शक्तियां देहधारी जीवों को मोक्ष और बंधन की देने वाली हैं ऐसे तू जान। इस भगवद्वाक्यके अनुसार माया और अविद्या में भेद भी माना जाए, तोभी कारण और कार्यभाव के कथन से माया कारण रूपा है और अविद्या कार्यरूपा है ऐसे भेद मानने में भी अविद्याकृत मोह संसार के लिए है और मायाकृत मोह तो भगवल्लीला के अर्थ ही है, जैसे "वैष्णवीं व्यतनोन्मायाँ पुत्रस्नेहमयीं प्रभुः", इत्यादि वाक्यों से मोह भिन्न प्रकार का ही प्रकट होता है। इससे यहाँ मूल में वृत्र को यही मोह अभिमत है। इससे ही कहा है कि "त्वन्मायया" यहाँ त्वपद के संग मायापद का प्रयोग है।

इसमें आपकी 'तव माया' जुदे जुदे पद का प्रयोग नहीं किया है। इससे अविनाभूता जो आपके सम्बन्ध वाली आपकी लीला में जो माया है उस माया से मोहित आसक्तचित्त जो मैं हूं, उसको सख्यभाव देह गेहादि में होय। यह कहा, यदि कोई कहे कि "शक्ति शक्तिमतोऽभेदात्" इस न्याय से शक्ति को शक्तिमान से सदा ही अभेद रहता है। भगवत्शक्ति तो सदा ही भगवान् में ही विद्यमान रहती है। यह वार्ता सर्वजन और सब ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इससे भगवन्माया तो सर्ववादी भगवत्संबंधिनी है और वृत्र भी पूर्व जन्म में वैष्णव ही था तब पूर्व जन्म के देहाद्यासक्ति रूप मोह को भी भगवल्लीला के अर्थ ही कहना चाहिए। किन्तु पूर्वजन्म में जो पुत्रादि में आसक्ति रूप मोह और भक्तों के संग सख्य हुआ, सो तो प्रतिबंध रूप ही हुआ, यह पूर्वजन्म का प्रतिबंध रूप मोह, मूल ग्रन्थ में वृत्रकी कथा से प्रतिबंध रूप में ही स्पष्ट होता है। सो कहते हैं कि पूर्वजन्म में पुत्र प्राप्ति में हठ हुआ, पश्चात् पुत्रोत्पत्ति में हर्ष शोक हुआ। अन्त में सती के शाप से आसुरीदेह पाई है। इससे पूर्वजन्म में भगवदीयों के संग सख्य और पुत्रादि में आसक्तिरूप मोह दोनों प्रतिबंध रूप ही हुए। इससे पूर्वजन्म के मोह से इस जन्म के मोह में क्या विशेषता है जो इस जन्म के मोह को भगवनमायाकृत मोह कहा है और इस मोह को मोक्षरूप बताया है। ऐसी आकांक्षा में कहते हैं कि पूर्व जन्म के मोह से इस जन्म के मोह की विशेषता इस "तत्वपद" से कही है। इसको खुलासा करके कहते हैं कि यद्यपि यह बात सर्वजन सर्वतंत्रों में प्रसिद्ध है कि भगवन्माया भगवान् से सदा ही सम्बन्ध जोड़े रहती है इससे सदा ही भगवत्संबंधिनी है यह बात बिना कहे ही सिद्ध है इससे यहां भगवत्संबंध बोधक इस त्वत्पद कहने का कोई प्रयोजन नहीं था किन्तु यहां जो 'त्वत्पद' कहा है, सो त्वत्पद व्यर्थ पड़ करके भगवत्संबंधिनी माया मोह का ही बोध कराता है। यह पूर्वजन्म के मोह से इस जन्म के मोह की विशेषता तत्पद से सूचित करी। यदि कोई कहे कि वृत्र की प्रार्थना भले ही भगवल्लीला सम्बन्धी माया मोह के अर्थ ही होवे तथापि माया मोह तो भगवत्स्वरूपाज्ञान को ही कहते हैं: इसमें श्री उद्धवजी का वाक्य प्रमाण हैं कि—

श्लोक—दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवोनितरामपि ।
ये सर्वसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवाडुपम् ।।

अजी यह बड़े खेद की बात है कि यह जीव लोक बड़ा ही अभागा है, जिसमें यादव तो निरन्तर दुष्टभाग्यवाले रहे जो अपने समीप में रहने वाले सर्वदुःखहर्ता हरि के स्वरूप को नहीं जान सके जैसे समुद्र के रहने वाले मत्स्यादि जन्तुओं ने चन्द्रमा को अमृतमय नहीं जाना केवल यही जाना कि यह भी एक जलजन्तु है । ऐसे ही श्रीपति को यादवों ने नही जाना इत्यादि वाक्यों से यह बात सिद्ध होती है कि जब वृत्र को भगवान् का परोक्षज्ञान ही नहीं है तब वृत्र को भगवान् के प्रत्यक्ष ज्ञान की तो संभावना ही नहीं हैं । इससे पूर्वोक्त भगवान् की माया से मोहित होने की व्यवस्था तो भंग होती ही है । वहाँ कहते हैं कि पूर्वोक्त उद्धवजी का वाक्य तो भगवान् के परोक्ष में विदुर जी से पश्चात्ताप रूप में है और यहाँ तो भगवान् वृत्र के प्रत्यक्ष में स्थित हैं । इस त्वत्पद के कहने से भगवान् की प्रत्यक्षता (मौजूदगी) सूचित होती है । इससे जैसे "वैष्णवी ध्यतनोन् मायां" इस वाक्य में जैसा माया का मोह कहा है वैसे ही माया मोह की प्रार्थना वृत्र ने भगवान् के प्रत्यक्ष में की है । इससे भगवान् के प्रत्यक्ष में तो भगवान् की माया के मोह की ही प्रार्थना हो सकती है । इससे यहाँ व्यवस्था लेशमात्र भी भंग नहीं होती है । अब इस जन्म के माया मोह की विशेषता बताने के लिए पूर्वजन्म के सख्य और आसक्ति के स्वरूप को जुदा-जुदा करके कहते हैं । प्रथम सख्य के स्वरूप को जुदा करके बताते हैं कि पूर्व जन्म में पुष्टिमर्यादामार्गीय भगवद् भक्त श्री नारद अंगिरा ऋषि के संग सख्य जो हुआ था सो अपने कर्मों के वश संसार चक्र में भ्रमण करने से मेरा संसार में आसक्तचित्त से ही हुआ था इससे ही अंगिरा ऋषि के ऐसे वाक्य हैं कि "ज्ञात्वाऽन्याभिनिवेशंते पुत्रमेव ददावहम्" मैंनें पुत्र में तुम्हारा हठ देखकरके तुम्हें पुत्र ही दिया । इसके आगे अंबिका के शाप से वृत्र को आसुरी देह की प्राप्ति हुई । राजा परीक्षित की भांति कर्म बंधन त्यागरूपा भगवदिच्छा कर के जैसे राजा परीक्षित को श्रीशुकदेवजी के संग सख्य हुआ तैसे नारद अंगिरा के संग वृत्र को सख्य नहीं हुआ । इससे संसारासक्तचित्त होने से पूर्वजन्म का सख्य प्रतिबंधक रूप हुआ । इस जन्म में न होय और कर्मबन्धन त्याजिका भगवदिच्छा से मेरी हरिभक्तों के संग मैत्री होय । ऐसे भगवद्भक्तों के संग सख्य होना पुष्टिमर्यादा में मोक्ष रूप है । इससे पूर्वजन्म के सख्य से इस जन्म के सख्य में यह विशेषता है, ऐसे ही पुष्टि-पुष्टि मोक्ष में आपकी इच्छा से प्राप्त जो देह पुत्र, स्त्री, घर इत्यादि को आपकी सेवा के उपयोगी जानकरके देहगेहादि में मेरे चित्त की आसक्ति होय इसकी प्रार्थना 'नाथ' पद से की ।

अर्थात् देहादि के आप ही नाथ होने से तिन में चित्तकी आसक्ति होय जैसे हिरण्यकशिपु आदि के चित्तकी आसक्ति सनकादि ऋषियों के शाप से संसारचक्र में भ्रमण करते समय संसारासक्त चित्त से लौकिकी माया देहादि अहं ममअभिमान होने से अपने कुटुम्ब में आसक्ति

हुई, किन्तु कर्मत्यागपूर्वक भगवल्लीला में उपयोगी मायामोहसंपादिका भगवदिच्छा से चित्त की आसक्ति नहीं हुई इससे ही ब्रह्मादिक की लौकिक सम्पत्ति प्राप्ति के लिए सेवा की इससे अनन्यता चली गई। इस प्रकार पूर्वजन्म के सख्य और आसक्ति के स्वरूप का विचार करके प्रार्थना की गई सख्य और आसक्ति की विशेषता जाननी चाहिए। यदि कोई कहे कि देहादि में आसक्ति और सख्य मोक्षरूप भले ही रहे, तथापि ऐसे सख्यासक्ति रूप पुष्टिपुष्टिमोक्ष की प्रार्थना वृत्रकी आगे चलकर सफल होएगी इसमें क्या प्रमाण है ? वहाँ कहते हैं कि वृत्रकी कृतार्थता तो नाथ' पद के प्रयोग से ही सूचित होती है। पूर्वप्रसंग में वृत्र का भक्तत्व (भक्तपन) तो स्पष्ट ही है इससे यहां नाथ' पद के प्रयोग से वृत्र के दैन्यभाव के प्रकट होने से वृत्र पर भगवान् प्रसन्न हैं। क्योंकि "भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्"। भक्तों का एक दैन्यभाव ही हरि को प्रसन्न करने का एक साधन है। इससे नाथ के प्रयोग से ही वृत्र के ऊपर भगवत्प्रसन्नता से पुष्टि पुष्टि मोक्ष की सिद्धि सूचित होती है। इससे ही नाथपद प्रयोग के अन्त में ऐसी सख्यासक्ति की "भूयात्" इस क्रियापद से प्रार्थना है, ऐसे भगवदीय भाव के होने में ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों की परिसमाप्ति (पूर्णता) है। इससे 'नाथ' पद ही कृतार्थता का ज्ञापक है। श्रीमद्भागवत के पाँचवें स्कन्ध में छठे अध्याय का यह वाक्य ऋषभदेवचरित्र की समाप्ति में है। "भगवति तस्मिन्वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि स मनुवर्तते" भगवद्गुण सभाजन करने से भगवद्गुण श्रवण करने तथा कराने वाले दोनों श्रोता-वक्ताओं की भगवान् वासुदेव में एकान्त (निराली) भक्ति होती है। इस प्रकार भगवत् चरित्र को श्रवण करने कराने वाले दोनों श्रोता-वक्ता को भक्ति फल की प्राप्ति कही। इससे आगे के गद्य में कहते हैं कि "यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिन संसार- तापोपतप्यमानमनुसवनं स्तापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्याह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" अनेक जन्म के पापों से संसार के दुःखों से तपे (दुःखी) अपने जीवात्माको इस भक्तियोग रस में त्रिकाल पर्यन्त नित्यप्रति स्नान कराने वाले जो कवि-जन हैं वे स्वयंप्राप्त जो भगवद्दत्त परमपुरुषार्थ रूप जो मोक्ष है उसका भी आदर नहीं करते हैं। इसलिए कि वह पराभक्ति से प्राप्त जो भगवदीय भाव उससे प्राप्त हुए हैं, सम्पूर्ण पुरुषार्थ जिनके, ऐसे भक्त तो सभी पुरुषार्थसिद्ध भगवदीय भावयुक्त रहते हैं। इस गद्य में संसार की अवस्था में स्थित हरिगुण गाने वाले भक्तों को भक्ति से उत्पन्न सुख से भगवद्दत्त श्रेष्ठ मोक्ष के आदरपूर्वक भगवदीय धर्म के प्राप्त होने से सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति कही। इस वाक्य से ही एक दूसरे वाक्य का स्मरण होता है कि—

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति विनामत्सेवन जनाः।
स एव भक्ति योगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः॥

मेरे भक्त मेरी सेवा के बिना मेरी दी हुई पाँच प्रकार की मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते हैं। आत्यन्तिक भक्ति का यही उदाहरण है। इससे ऐसे परमभक्ति भाववाले भक्तों को संसार में ही

मुक्ति से अधिक आनन्द प्रकट होता है। ऐसे ही यहां भी वृत्र ने देहपुत्रादि में आसक्तिरूप अपने विशेषण से और 'नाथ' पद के प्रयोग से प्रार्थना प्रकट करी है और नाथपद के अन्त में इस सिद्धांत को हृदय में धारण करके ही 'भूयात्" इस पद से प्रार्थना की है। इससे भगवन्मायामोह से पुत्रादि में आसक्ति ही कृतार्थता की ज्ञापिक (बताने वाली) है। यदि कोई कहे कि देहादि में आसक्ति की प्रार्थना कृतार्थता की ज्ञापिका भले ही होए, फिर भी धर्म अर्थ और काम त्रिवर्ग की सिद्धि गृहस्थाश्रम में होती है और मोक्ष की प्राप्ति तो ब्रह्मचर्य वानपस्थ संन्यास अन्य (इतर) आश्रमों में ही होती है। मूल में जो देहादि में आसक्ति कही है। इसके मध्य में जो आत्मजदार पद कहे हैं ये पुत्र, स्त्रीपद तो गृहस्थाश्रम का ही ज्ञान कराते हैं। इससे इस गृहस्थाश्रम में इतरेतर (अलग–अलग) विरुद्ध साधन साध्य चतुर्वंग का अनुभव होना हमारी बुद्धि में नहीं आता है। ऐसी आकांक्षा में चतुर्वंग के अनुभव के प्रकार कहते हैं कि—

यहां मूल में जो आत्माऽऽत्मज दार गेह आत्मा आत्मज, (पुत्र) दार (स्त्री) गेह (घर) ये चार पद कहे हैं। यह इसलिए कहे हैं कि भगवान् की लीला में उपयोगी माया, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए पुष्टि–पुष्टि भक्तों के देहादि में क्रम से देहाद्याध्यास उत्पन्न करती है। वहां धर्मसिद्धि देहाध्यास से ही होती है। जैसे द्विजातीयादि धर्मों की द्विजाति आदि देहादि में अध्यास होने से ही द्विजातीयोचित धर्म को जीव करते हैं। ऐसे ही पुष्टि-पुष्टि भक्त भी भगवत्सेवाधर्म को तथा अन्य यज्ञादि धर्मों को भी तत्तद्विषयों में (उन उन विषयों में) भगवदीय भाव रखकर ही प्रीति करते हैं। इससे देहाध्यास से ही धर्म की सिद्धि होती है। यह बात लोक प्रसिद्ध है और पुत्र की तुलना में अन्य धन कोई उत्तम धन नहीं है। पुत्र के प्राण अधिक प्रिय होन से और उसमें ममता विशेष होने से उसकी स्वस्थता (सुख) विकलता (दुःख) में अपने चित्त की स्वस्थता विकलता होने से उसकी आपत्ति में अपने देह प्राण के वियोग होने से पुत्र में अहंतारूप अध्यास होता है। क्योंकि पुत्र तन, मन, धन से भगवत्सेवा में सहायता देता है। ऐसे पुत्र से अर्थसिद्धि सूचित की मूल में जो पुत्रपद है, सो अर्थमात्र का उपलक्षक है, इस आशय से पुत्रपद कहा है। स्त्री से कामसिद्धि प्रसिद्ध ही है। इन्द्रियांध्यास स्त्री में ही होता है भगवत्सेवा में सहायता करती है। जैसे लोक में विषय भोग के लिए स्त्री से कामसिद्धि प्रसिद्ध है। वैसे ही यहां भी दोनों स्त्री पुरुष के चित्त की चंचलता निवारण के लिए तथा भगवदीय पुत्रोत्पत्ति के अर्थ कामसिद्धि स्त्री से होती है और ब्रह्मभाव की आवश्यकता से पुष्टि-पुष्टि भक्तों को घर में ही आनंद होता है। ब्रह्मभाव में सभी पुरुषार्थों का तो अनुभव होता नहीं है। इससे इन्द्रिय धारण करना ही विफल है और यहां तो वेद भी पुकार करके कह रहा है कि—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा" यह पुष्टि-पुष्टिमार्गीय भक्त तो परब्रह्म श्रीकृष्ण के संग सब ही प्रकारके मनोरथ सिद्ध करता है। इससे अलौकिक देह की प्राप्ति होने पर तथा प्रभु के प्रकट होने पर भक्त के संग में प्रभु की लीला अखिल पुरुषार्थों की साधिका (सिद्ध करने वाली) है। प्रभु की रमणलीला भक्तों के संग ही होती

है, सो यहां पुष्टिमार्गीय मोक्ष घर में ही सिद्ध होता है। पुष्टि-पुष्टिमार्गीय भक्त कैवल्य मोक्ष की तो इच्छा भी नहीं करते हैं। यह पहले ही कह आए हैं। इससे भगवत्स्वरूप सौन्दर्य सुधामाधुर्य का आस्वादन (भगवान् की सुन्दरता रूपी अमृत के मधुर रस का पान) तो घर ही में हो सकता है। इससे भक्तों को तो घर ही मोक्ष के आनन्द का देने वाला है इससे घर ही श्रेष्ठ है। इसी से कहते हैं कि—

श्लोक--**ब्रह्मानन्दे प्रविष्टा नामात्मनैव सुखप्रभा।**
सघातस्यविलीत्वाद्भक्तानां तु विशेषतः॥

सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तः करणैरात्मनापि हि।
ब्रह्मभावात्तुभक्तानां गृह एव विशिष्यते॥

ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुए भक्तों का देहादि समूह ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। इससे अपने अन्तःकरण में ही ब्रह्मानन्दानुभव होता है और भक्तों के देह, इन्द्रीय, अन्तःकरण, प्राणजीव सब रोम-रोम में भगवदानन्दस्वरूप के प्रवेश होने से सब ही देहादि को आनन्द का अनुभव होता है इससे ब्रह्मसायुज्यमोक्ष से तो स्वरूपानन्द ही अधिक आनन्द का देने वाला है। इससे घर ही श्रेष्ठ है। इस निबन्ध की कारिका से घर ही अधिकानन्द दाता कहा गया है यही भाव, श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में श्री कपिलदेवजी ने भी कहा है कि—

श्लोक –**"पश्यंति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुण स्वलोचनानि।**
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानी साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥"
"तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः।
हृतात्मनोहृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वींप्रयुक्ते॥"

हे माता देवहूति! मनोहर आभूषण सहित प्रसन्न मुखारविन्द में अरुणकमलदलसदृश्य हैं लोचन जिनमें ऐसे मेरे वरप्रद दिव्य स्वरूपों का मेरे भक्त दर्शन करते हैं और श्रवण (कान) और मन को आनन्द देनेवाली मनोहर वाणी से मेरे साथ वार्तालाप करते हैं। ऐसे दर्शनीय अंगों का दर्शन करके और उदार लीलाभाव हास्यपूर्वक नयनकटाक्ष सहित सुन्दर वचन को श्रवण (सुन) करके हरे गए हैं मन और प्राण जिनके ऐसे-ऐसे भक्तों को मेरी भक्ति उनको इच्छा न रहते हुए भी सूक्ष्मगति (दिव्यदेहको) देती है। इस प्रकार श्रीमदाचार्यजी ने अपनी कारिकाओं में कपिलदेवजी के कहे हुए वाक्यद्वय का अर्थसंग्रह करके कहा है। इससे कपिलोक्त वाक्यार्थ से दिव्यदेह की प्रीति पूर्वक सायुज्यमोक्षेच्छारहित होकर भगवान् में चित्त की एकतानता जब हो जाय तब भगवत्स्वरूप के संग भगवदीय पुत्रादि सहित लीलोपयोगी घर में आसक्तिपूर्वक

भगवत्स्वरूपसौन्दर्य[1] सुधास्वादन[2] करना यह मोक्षरूप है। ऐसा मोक्ष ब्रज सीमन्तनियों के समान ब्रजभक्तों को घर में ही प्राप्त हुआ है। इससे परस्पर अविरोध ब्रजभक्तों में ही देखने में आता है। यह ब्रजभक्तों के प्रकार का मोक्ष है। यदि कोई शंका करे कि जो आनन्दानुभव प्रकार अन्तः-करणाध्यास साध्य है। ऐसे मोक्षानन्दानुभव प्रकार की ही वृत्र को कहने की इच्छा थी तो इसका क्या प्रमाण है? वहां कहते हैं कि चित्त के वासुदेवात्मक होने से और यहां मोक्ष का प्रकरण होने से ही वृत्र ने यहां चित्त पद का प्रयोग किया है। इसलिए यह चित्त पद ही मोक्षानन्दानुभव[3] प्रकार का ज्ञापक[4] है। सोही कहते हैं कि—

श्लोक—"यत्तत्सत्वगुणं स्वच्छं शांतं भगवतः पदं।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम्॥

यह शुद्ध शान्तस्वरूप सत्वगुण ही भगवत्स्थान है। शुद्ध सत्वयुक्त चित्त में ही भगवत्प्रादुर्भाव होता है। इसलिए यह शुद्ध सत्वात्मक चित्त की वासुदेव आख्या है वह शुद्ध सात्वामकचितं ही महत्तत्वात्मक है। कपिलदेवजी के इस वाक्य से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सम्पूर्ण अन्तः-करण में चित्त के अधिष्ठाता वासुदेव हैं और यहां मोक्ष का प्रकरण है, इससे यहां चित्त पद कहा है। मोक्षानन्द का अनुभव अन्तःकरणाध्यास से होता है।

इससे यहां वृत्र को देहादि में ऐसे अध्यास की प्रार्थना करनी थी, इससे मोक्षानन्द प्रार्थना में चित्त पद कहा है। इस कथन में एक और भी युक्ति स्मरण होती है, सो कहते हैं कि जहां चित्त को वासुदेवात्मक भाव कहा है, वहां ही मन को प्रद्युम्नात्मक, बुद्धि को अनिरुद्धात्मक और अहंकार को संकर्षणात्मक बोधक वाक्य कहा है। इससे अन्तःकरण में व्यूहस्वरूपों का वह वह आधिदैविक रूप सिद्ध होता है। जिस जिस अन्तःकरण में अध्यास[5] होता है, वह सब अहंकारा-ध्यासमूलक है और अहंकार है सो संकर्षणात्मक है। इससे अहंकार "अहं" ग्रहोपासना तुल्य कक्षा का है। यह अहं ग्रहोपासना,[6] सब तापनीयोउपनिषदों में प्रसिद्ध है। इससे जैसे अहं ग्रहोपासना, मोक्षफलात्मिका होने से मोक्षफलरूप है वैसे ही यह भगवान् की माया के मोहने से देहाध्यास ही मोक्षफलात्मिक[7] होने से मोक्षफलरूप है। इससे भगवान् की माया के मोह के अहंकार मूल देहाध्यास में आसक्ति भी मोक्षरूपा है। यदि कोई शंका करे कि मोक्ष रूपा है,

---

१–भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता
२–अमृत का स्वाद
३–मोक्ष के आनन्द का अनुभव
४–जानकारी देने वाला
५–भ्रम, भूल-
६–घर की सेवा
७–मोक्ष के फल वाली

ऐसा यह सब कथन तो जब प्राप्त हो सकता है यदि मध्य में नकार का प्रयोग नहीं होता अर्थात्-श्ल क के उत्तरार्ध में "वासक्त चितस्य न नाथ भूयात्" में यदि 'न' नहीं होता, तब तो अर्थ ठीक था किन्तु मध्य में नकार तो दिखता है। इससे यह अर्थ ठीक नहीं है इससे ऐसा अर्थ करना चाहिये कि "स्वकर्मभि: संसार चक्रे भ्रमतो मम उत्तम श्लोकजनेषु सख्यं भूयात्" अपने कर्मों के अनुसार संसार चक्र में भ्रमण करने वाले की अर्थात् मेरी मैत्री उत्तम श्लोक (भगवान्) के भक्तों के संग होवे। ऐसी प्रार्थना के कारण पहले कहे हैं कि 'त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे ष्वासक्त चितस्य उत्तमश्लोकजनेषुसख्यं न भूयात् ।

आपकी विश्वमोहिनी माया से देह, स्त्री, पुत्र और मैं मेरा चित्त आसक्त है इसलिए लौकिक माया में आसक्त चित से आपके भक्तों में मेरी मैत्री न होय। क्योकि "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तह्यॅच्युतसत्समागम:"। हे अच्युत जिस समय जिस जीव का सत्पुरुषों के संग समागम होता है तब ही इस जीवका अहंताममतारूप संसार से मोक्ष होता है। इस प्रकार यहां देह आदि को आसक्ति निषेधपूर्वक भगवद्भक्तों के संग में सख्यको प्रार्थना मात्र है यही अर्थ करना उचित है। ऐसी शंका में कहते हैं कि पूर्वोक्त अर्थ अविवक्षित है इस अर्थ में केवल अनुपपत्तिमात्र कहते है। सो अनुपपत्ति युक्त है। इस बात का स्पष्ट करने के लिऐ कहते हैं "इस संदर्भ में यह पहिले भी कह आए है" कि "अहं समाधाय" इत्यादि वाक्यों से वृत्र को अपने पूर्व जन्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण है यह तो निश्चय ही है इसमें तो सन्देह नहीं है और "त्रैर्वगिकायासाविधात" हमारे त्रिवर्ग के साधन का नाश हमारे प्रभु ही करते हैं इत्यादि वाक्यों से वृत्र को यह भी तो अनुमान है कि प्रभु मुझ पर प्रसन्न हैं। जब वृत्र को पूर्व जन्म का वृत्तान्त और भगवत्कृपा का होना सम्पूर्ण स्मरण है, तब पूर्व जन्म में हुआ जो संसारा सक्तचित्त से पुत्रादि में अभिनिवेश और अंगिरा ऋषि के संग से पुत्र प्राप्ति उससे पुत्र शोक, नारदकृत, भक्त्युपदेश भगवत्प्रसाद, विद्याधरादिपत्य, शिवोपहास, सती का शाप ये सब ही वृत्र की स्मृति में हैं। इससे पूर्व जन्म के भगवत्प्रसाद को परम फल का मिलना न मान करके, इस समय भगवान् मेरे लिऐ क्या, प्रसाद देंगे, ऐसा अपने मन में सन्देह करके वृत्र ने यह विचार किया है कि इस समय मरे मरण काल में (मरने के समय) प्रभु मरे पास उपस्थित हैं। इससे मेरा उद्धार ही करेंगे। अपने को प्रभु अनुगृहित मान करके यह निश्चय करता है कि इस समय तो प्रभु मुझे पुष्टि मार्गीय मोक्ष ही देंगे ऐसा निश्चय करके वृत्र प्रार्थना करता है कि यदि पुष्टि मार्यादा राति से मुझे मोक्ष देने की इच्छा है तब तो पूर्व जन्म जैसा भक्तों के संग सख्य न होय जैसा कि चित्रकेतु अवस्था में, देह, पुत्र, स्त्री घर इत्यादि में आसक्त चित्त से भक्तों के संग सख्य हुआ था वैसा पूर्व जन्म जैसा सख्य न होय, इससे आत्माऽऽत्मजादि (देह पुत्रादि) में आसक्ति पूर्वक सविशेषण सख्य के प्रकार के निषेध की (न होने की) ही प्रार्थना

श्लोक के पूर्वार्द्ध में की है। इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि भक्तों के संग सख्य तो होय, किन्तु पूर्व जन्म जैसा सख्य न होय।

इस प्रकार निषेध की ही प्रार्थना है यदि प्रभु को मुझे पुष्टि-पुष्टि मार्गीय मोक्ष देने की इच्छा है तो भगवान् से सम्बन्धित जो प्रभु की लीला में उपयोगी उस भगवान् की माया से मेरा चित्त देहपुत्रकलत्रगेहादि में आसक्त है। मेरी मैत्री उत्तम श्लोक जनों के संग नहीं होय। ऐसे सविशेष्य निषेध की उत्तरार्द्ध से प्रार्थना है। क्योंकि भगवदीय पुत्र कलत्रादि में सख्य भाव भी है, संग भी है, हरिगुणगान भी है संयोग वियोग रूप में "सदैव भगवत्साक्षात्कार भी है। तब भगवदीयों के संग सख्य की स्वतः (अपने आप) ही सिद्धि है। इससे वे इस प्रकरण के कारण वाक्य द्वय के अंगीकार करने से तेरे किए हुए अर्थ की प्राप्ति नहीं है किन्तु यही अर्थ ठीक है। अब सिद्ध अर्थ को कहते हैं कि अविद्या काम और कर्मों के संबंध से संसार चक्र में भ्रमण कराने वाली माया के सम्बन्ध के बिना केवल भगवत्क्रीडाद्याधिका भगवत्संग में रमण कराने वाली भगवत्‌रमणरूपा माया के मोह में मोहित हुए भगवदीय पुत्रादिक में भगवदीय भाव से आसक्त चित्त जो भगवद्-भक्त है सो अपने घर में ही भगत्सेवा भगवत्कथाओं का श्रवण करके चतुर्विध पुरुषार्थ का अनुभव करता हुआ जो भगवदीय है, उसकी जब तक जीवन है तब तक जो ऐसी स्थिति है यह दूसरा पुष्टि-पुष्टि मोक्ष है। इस रीति से दो प्रकार का मोक्ष कहा। प्राकृत भक्तों को इस दूसरे प्रकार के पुष्टि पुष्टि मार्गीय मोक्षपर्यंत सुख की प्राप्ति होती है। यह बताने के लिए कहते हैं कि—"इयमेव मुख्या" यह पुष्टि-पुष्टि मोक्ष ही मुख्य है। प्राकृत जीव को इससे अधिक मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है और शुद्ध पुष्टि भक्तिमार्गीय भक्तों के मोक्ष फल का स्वरूप इससे भी अधिक है। यह अपने अन्तः करण में विचारके वृत्र ने इस पुष्टिपुष्टि मार्गीय मोक्ष की प्रार्थना प्रभु से करी है। इससे ही सबके अन्त में आशीर्वादात्मक "भूयात्" यह क्रियापद प्रार्थना में कहा है और "हे नाथ !" इस संबोधनपद से यह सूचित किया कि आप हमारे नाथ हो। आपने हमको अपना करके अंगीकार किया है। इससे आपही हो नाथ जिनके ऐसे भगवदीय पुत्रकलत्रादिकों में हमारे चित्त की आसक्ति और प्रीति होय अर्थात् मुझे तो पुष्टिपुष्टिरीति की मुक्ति मिले। मर्यादाज्ञानरीति का मोक्ष मुझे नहीं मिले। इस प्रकार यहां जो पुष्टिमर्यादामार्गीय भक्त हैं उनका कर्मबन्धन से जन्म नहीं है। केवल भगवल्लीलागान करने के लिए ही जिनका जन्म होता है वे भगवान् के अंतःकरण के आशय को जान करके ही भगवद्‌गुणगान करते हैं। ऐसे आत्माराम पूर्णकाम गुणातीत नारदजी शुकसनकादि जैसे भक्त पुष्टिमर्यादा मार्गीय भक्त हैं और जिनको भगवान् ने अपना करके अंगीकार किया है वे पुष्टिपुष्टि मार्गीय भक्त हैं। जब भगवच्चरित्र श्रीनारदजी शुकसनकादि के समान गुणातीत ब्रह्मानन्द में मग्न भक्तों के अन्तःकरण को भी आकर्षण करते हैं। तब जो भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता के मधुर रस के पान से मस्त और भगवत्साक्षात्संबंधी भक्त हैं उनके मोक्ष सुख का तो कहना ही

क्या है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग में दो प्रकार के मोक्ष का निश्चय किया और "शुद्धाः प्रेम्णाति-दुर्लभाः" जिनके ऊपर भगवान् ने अति अनुग्रह करके उनको स्वरूपानंद दान देना विचारा है। उनके आप आधीन होकर रहते हैं ऐसे स्वतन्त्र भक्तों के फलस्वरूप तो इससे भी अधिक है। ऐसा हृदय में विचार करके ही श्रीमत्प्रभुचरणों ने कहा है कि—"इयमेव मुख्या" प्राकृतों को पुष्टि-पुष्टि मोक्ष तक की प्राप्ति होती है। इससे अधिक मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं है। यदि कोई कहे कि यहाँ इस प्रसंग में यही आशय है इसका क्या प्रमाण है ?

यदि यह कहा जाए तो वहां कहते हैं कि 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इस न्याय को प्रमाण में रखने से उसमें भी प्रमाण रूप 'पश्यंति ते मे' इस श्लोकोक्त रीति से अनुभव के कथन करने से यही प्रमाण है और इस श्लोक के व्याख्यान में मोक्ष फल के साधन में भक्ति कही है और उस भक्ति का फल मोक्ष कहा है, तथापि फल दशा से साधन दशा को उत्तम कहने से 'अनिच्छतो गति-मण्वीं प्रयुंक्ते' ऐसे मुक्ति देने की इच्छा की सूचना से, साधन दशा ही उत्तम कहा गई है। शुद्ध पुष्ट भक्तों को तो मुक्ति के देने लेने की इच्छा का तो कथन भी नहीं है। इससे जाना जाता है कि शुद्ध पुष्ट भक्तों के आनन्दफल का स्वरूप सब से अधिक है इसलिए गोपीजन के समान स्वतन्त्र भक्तों के फल का तो कहना ही क्या है। अन्यथा पुष्टिमर्यादा, पुष्टिपुष्टि मार्गीय भक्तों की साधन दशा के उत्कर्ष कथन से फल दशा कथन में विरोध आता है। व्रजस्थित भक्तों के फल का स्वरूप तो वेणुगीत में स्वाश्रय प्राप्ति और प्रत्यापत्ति (शरण) होना ही अंगीकार किया है। इस प्रकार श्लोकार्थ का अनुवाद पूर्ण हुआ।

श्लोक—**रससिन्धु चन्द्रमुखवारिरुहोद्गत पुष्टि पुष्टि मकरंदरसः।**
इति कृष्णचन्द्र कृपया विदितः श्री पुरुषोत्तमेन वचसा विवृतः ॥

उपरोक्त उपाख्यान पढ़ने के बाद किसी भी पाठक को जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि आसुरीदेहधारी वृत्र के हृदय में भगवद्भक्ति के इतने उच्च कोटि के भाव होने का क्या कारण था, जैसा कि श्रीमद्भागवत के श्रोता राजा परीक्षित् के हृदय में इस कारण के जानने की इच्छा हुई। इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए अब भक्तराज वृत्रासुर के पूर्वजन्म का संक्षिप्त वृत्तान्त दे रहे हैं।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने श्रीमद्भागवत को भगवान का स्वरूप माना है और छठे स्कन्ध की लीला (पुष्टि) पोषण बताई है, इसलिए श्रीमद्विट्ठलेश प्रभु चरण ने वृत्रासुर चतुःश्लोकी की सुबोधिनी की रचना कर पुष्टि का स्वरूप समझाया है। ये चार श्लोक छठे स्कन्ध के ११वें अध्याय के अन्तिम श्लोक २४ से २७ हैं तथा वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त १४वें से १७वें अध्याय में है, जिसका संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

वृत्रासुर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त—चित्रकेतु-चरित्र

राजा परीक्षित् ने कहा—भगवान् ! वृत्रासुर का स्वभाव तो बड़ा रजोगुणी-तमोगुणी था। वह देवताओं को कष्ट पहुँचा कर पाप भी करता ही था। ऐसी स्थिति में भगवान् नारायण के चरणों में उसकी सुदृढ़ भक्ति कैसे हुई ?

श्री शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित् ! तुम सावधान होकर यह इतिहास सुनो। मैंने इसे अपने पिता व्यासजी, देवर्षि नारदजी और महर्षि देवल के मुँह से विधिपूर्वक सुना है। प्राचीन-काल की बात है, शूरसेन देश में चक्रवर्ती सम्राट महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे। उनके राज्य में पृथ्वी स्वयं ही प्रजा की इच्छानुसार अन्न, आदि दे दिया करती थी। उनके एक करोड़ रानियाँ थीं और वे स्वयं सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ भी थे। परन्तु उन्हें उनमें से किसी के भी गर्भ से कोई सन्तान न हुई। यों महाराज चित्रकेतु को किसी बात की कमी न थी। सुन्दरता, उदारता, युवावस्था, कुलीनता, विद्या, ऐश्वर्य और सम्पत्ति आदि सभी गुण उनमें विद्यमान थे। फिर भी उनकी पत्नियाँ बाँझ थीं, इसलिए उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। वे सारी पृथ्वी के एकछत्र सम्राट थे, तथा सारी पृथ्वी उनके वश में थी। सब प्रकार की सम्पत्तियां उनकी सेवा में उपस्थित थीं, परन्तु वे सब बस्तुएँ उन्हें सुखी न कर सकीं।

एक दिन शाप और वरदान देने में समर्थ अङ्गिरा ऋषि स्वच्छन्द रूप से विभिन्न लोकों में विचरते राजा चित्रकेतु के महल में पहुँच गये। राजा ने प्रत्युत्थान और अर्घ्य आदि से उनकी विधि-पूर्वक पूजा की। आतिथ्य-सत्कार हो जाने के बाद जब अङ्गिरा ऋषि सुखपूर्वक आसन पर विराज गये, तब राजा चित्रकेतु भी शान्त भाव से उनके पास ही बैठ गये। महाराज ! महर्षि अङ्गिरा ने देखा कि यह राजा बहुत विनयी है और मेरे पास पृथ्वी पर बैठकर मेरी भक्ति कर रहा है। तब उन्होंने चित्रकेतु को सम्बोधित करके यह बात कही—

राजन् मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे मुँह पर किसी आन्तरिक चिन्ता के चिन्ह झलक रहे हैं। मालूम होता है कि तुम्हारी कोई कामना पूर्ण नहीं हुई है। तुम्हारे इस असन्तोष का कारण कोई और है या स्वयं तुम्हीं हो ?

सम्राट चित्रकेतु ने कहा—भगवन्। जिन योगियों के तपस्या, ज्ञान, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा सारे पाप नष्ट हो चुके हैं—उनके लिये प्राणियों के बाहर या भीतर की ऐसी कौन-सी बात है, जिसे वे नहीं जानते हों ? ऐसा होने पर भी जब आप सब कुछ जानबूझकर मुझ से मेरे मन की चिन्ता पूछ रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञा और प्रेरणा से अपनी चिन्ता आपके चरणों में निवेदन करता हूँ। प्रभो ! मुझे पृथ्वी का एकछत्र साम्राज्य, सर्व श्रेष्ठ ऐश्वर्य और

दुर्लभ सम्पत्तियाँ प्राप्त हैं। बड़े-बड़े देवता भी इनके लिए लालायित रहते हैं परन्तु सन्तान न होने के कारण मुझे इन सुख-भोगों से तनिक भी शान्ति नहीं मिल रही है। आप हमें सन्तान दान करके परलोक में प्राप्त होने वाले घोर नरक से उबारिये और ऐसी व्यवस्था कीजिए कि मैं लोक-परलोक में सब दुःखों से छुटकारा पा लूँ।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब राजा चित्रकेतु ने इस प्रकार प्रार्थना की, तब सर्व समर्थ एवं परम कृपालु भगवान् अङ्गिरा ने त्वष्टा देवता के योग्य चरु निर्माण करके उससे उनका यजन किया। परीक्षित्! राजा चित्रकेतु की रानियों में सबसे बड़ी और सद्गुणवती महारानी कृतद्युति थीं। महर्षि अङ्गिरा ने उन्हीं को यज्ञ का अवशेष प्रसाद दिया और राजा चित्रकेतु से कहा—राजन्! तुम्हारी पत्नी के गर्भ से एक पुत्र होगा। उससे तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही होंगे। यों कह कर अङ्गिरा ऋषि चले गये। उस यज्ञावशेष प्रसाद के खाने से ही महारानी कृतद्युति ने महाराज चित्रकेतु के द्वारा गर्भधारण किया जैसे कृत्तिका ने अपने गर्भ में अग्निकुमार को धारण किया था।

परीक्षित्! समय आने पर महारानी कृतद्युति के गर्भ से एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ। उसके जन्म का समाचार पाकर शूरसेन देश की प्रजा बहुत ही आनन्दित हुई। सम्राट चित्रकेतु के आनन्द का तो कहना ही क्या था। वे स्नान करके पवित्र हुए। फिर उन्होंने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर और आशीर्वाद लेकर पुत्र का जात कर्म संस्कार करवाया।

वैसे ही बहुत कठिनाई से प्राप्त हुए उस पुत्र से राजर्षि चित्रकेतु का स्नेहबन्धन दिनोंदिन दृढ़ होने लगा। माता कृतद्युति को भी अपने पुत्र पर मोह के कारण बहुत ही स्नेह था। परन्तु उनकी सौत रानियों के मन में पुत्र की कामना से और भी जलन होने लगी। प्रति दिन बालक का लाड़ प्यार करते रहने के कारण बच्चे की माँ कृतद्युति में सम्राट चित्रकेतु का जितना प्रेम था, उतना दूसरी रानियों में नहीं रहा। इसलिए उनके मन में कृतद्युति के प्रति बड़ा द्वेष हो गया। द्वेष के कारण रानियों की बुद्धि मारी गयी। उनके चित्त में क्रूरता छा गयी। उन्हें अपने पति चित्रकेतु का पुत्र-स्नेह सहन नहीं हुआ। इसलिये उन्होंने चिढ़कर नन्हें-से राजकुमार को विष दे दिया। थोड़ी देर बाद जब धाय शयनघर में गई और बालक को मरा हुआ देखा तो वह जोर-जोर से रोने लगी। उसकी आवाज सुनकर महारानी कृतद्युति जल्दी-जल्दी अपने पुत्र के शयन-गृह में पहुँची और उन्होंने देखा कि मेरा दुलारा बच्चा अकस्मात मर गया है। तब तो वे अत्यन्त शोक के कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं।

जब राजा चित्रकेतु को यह मालूम हुआ कि मेरे पुत्र की अकारण ही मृत्यु हो गयी है, तो अत्यन्त स्नेह के कारण शोक के आवेग से उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वे धीरे-धीरे

अपने मन्त्रियों और ब्राह्मणों के साथ मार्ग में गिरते-पड़ते मृत बालक पास पहुँचे और मूर्च्छित होकर उसके पैरों के पास गिर पड़े। उनके केश और वस्त्र इधर-उधर बिखर गये। वे लम्बी-लम्बी साँस लेने लगे। आँसुओं की अधिकता से उनका गला रुँध गया और वे कुछ भी बोल न सके। रानी कृतद्युति अपने पति चित्रकेतु को अत्यन्त शोकाकुल और एकमात्र पुत्र को मरा हुआ देख भाँति भाँति के विलाप करने लगी। उनका यह दुःख देखकर मन्त्री आदि सभी उपस्थित मनुष्य शोकग्रस्त हो गये।

राजा-रानी के इस प्रकार विलाप करने पर उनके अनुगामी स्त्री-पुरुष भी दुःखित होकर रोने लगे। इस प्रकार सारा नगर ही शोक से अचेत-सा हो गया। राजन्! महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारद ने देखा कि राजा चित्रकेतु पुत्रशोक के कारण चेतनाहीन हो रहे हैं। यहाँ तक कि उन्हें समझाने वाला भी कोई नहीं है। तब वे दोनों वहाँ आये।

चित्रकेतु को महर्षि अङ्गिरा और नारदजी का उपदेश

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर मुर्दे के समान अपने मृत पुत्र के पास ही पड़े हुए थे। उन्हें सुन्दर-सुन्दर उक्तियों से समझाने लगे। राजा ने कहा इसलिये स्वामियो! आप लोग मुझ पर कृपा कीजिये। मैं विषय भोग में फँसा हुआ, मूढ बुद्धि ग्राम्य पशु हूं और अज्ञान के घोर अन्धकार में डूबा रहा हूं। आप लोग मुझे ज्ञान की ज्योति से प्रकाश के केन्द्र में लाइये।

महर्षि अङ्गिरा ने कहा—राजन्! जिस समय तुम पुत्र के लिये बहुत इच्छुक थे, मैंने ही तुम्हें पुत्रदान दिया था। मैं अङ्गिरा हूँ। ये जो तुम्हारे सामने खड़े हैं, स्वयं ब्रह्माजी के पुत्र सर्वसमर्थ देवर्षि नारद हैं। जब हम लोगों ने देखा कि तुम पुत्रशोक के कारण बहुत ही घने अज्ञानान्धकार में डूब रहे हो, तब सोचा कि तुम भगवान् के भक्त हो, शोक करने के योग्य नहीं हो। अतः तुम पर अनुग्रह करने के लिए ही हम दोनों यहाँ आये हैं। राजन्! सच्ची बात तो यह कि जो भगवान् और ब्राह्मणों का भक्त है उसे किसी अवस्था में शोक नहीं करना चाहिये। देखो, जिस समय पहले-पहल मैं तुम्हारे पास आया था, उसी समय मैं तुम्हें परम ज्ञान का उपदेश करता, परन्तु मैंने देखा कि अभी तो तुम्हारे हृदय में पुत्र की उत्कट लालसा है, इसलिये उस समय तुम्हें ज्ञान न देकर मैंने पुत्र ही दिया। तब तुम्हारी कल्पना थी कि पुत्र में सुख है, परन्तु अब तुम स्वयं ही अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है। यह बात केवल पुत्र के लिए ही नहीं है। स्त्री, घर, धन, विविध प्रकार के ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द रूप-रस, आदि विषय, राज्य वैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, खजाना, सेवक अमात्य, सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र, सब-के-सब अनित्य हैं।

देवर्षि नारद ने कहा—राजन् ! तुम एकाग्र चित्त से मुझ से यह मन्त्रोपनिषद ग्रहण करो। इसे धारण करने से सात रात में ही तुम्हें भगवान् संकर्षण का दर्शन होगा। राजेन्द्र ! प्राचीनकाल में भगवान् शंकर आदि ने श्री सङ्कर्षण देव के ही चरणकमलों का आश्रय लिया था। इससे उन्होंने द्वैतभ्रम का परित्याग कर दिया और उनकी उस महिमा को प्राप्त हुए, जिससे बढ़कर तो कोई है ही नहीं, समान भी नहीं है। तुम भी बहुत शीघ्र ही भगवान् के उसी परमपद को प्राप्त कर लोगे।

चित्रकेतु का वैराग्य तथा सङ्कर्षण देव का दर्शन

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! तदनन्तर देवर्षि नारद ने मृत राजकुमार के जीवात्मा को शोकाकुल स्वजनों के सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा—

देवर्षिनारद ने कहा—जीवात्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो। देखो, तुम्हारे माता-पिता सुहृद् सम्बन्धी तुम्हारे बिछोह से अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। इसलिए तुम अपने शरीर में आ जाओ और शेष आयु अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ ही रहकर व्यतीत करो। अपने पिता के दिये हुए भोगों को भोगो और सिंहासन पर बैठो।

जीवात्मा ने कहा—देवर्षि जी ! मैं अपने कर्मों के अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में न जाने कितने जन्मों से भटक रहा हूँ। उनमें से ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए ? विभिन्न जन्मों में सभी एक-दूसरे के भाई-बन्धु- नाती-गोती, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—वह जीवात्मा इस प्रकार कह कर चला गया। उसके घर के लोग उसकी बात सोचकर अत्यन्त बिस्मित हुए। उनका स्नेह-बन्धन कट गया और उसके मरने का शोक भी जाता रहा। इस प्रकार अङ्गिरा और नारदजी के उपदेश से विवेकबुद्धि जाग्रत हो जाने के कारण राजा चित्रकेतु ने यमुनाजी में विधिपूर्वक स्नान करके तर्पण आदि आवश्यक कर्म किये। तदनन्तर संयतेन्द्रिय और मौन होकर वे देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिरा के पास आये तथा उनके चरणों की वन्दना की। भगवान् नारद ने देखा कि चित्रकेतु जितेन्द्रिय, भगवद्भक्त और शरणागत है। अतः उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उन्हें इस विद्या का उपदेश किया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—देवर्षि नारद अपने शरणागत भक्त चित्रकेतु को इस विद्या का उपदेश करके महर्षि अङ्गिरा के साथ ब्रह्मलोक को चले गये। राजा चित्रकेतु ने देवर्षि नारद के द्वारा उपदिष्ट विद्या का उनके आज्ञानुसार सात दिवस केवल जल पीकर बड़ी एकाग्रता के साथ अनुष्ठान किया। तदनन्तर उस विद्या के अनुष्ठान के सात रात के पश्चात राजा चित्रकेतु को

विद्याधरों का अखण्ड आधिपत्य प्राप्त हुआ। इसके बाद कुछ ही दिनों में इस विद्या के प्रभाव से उनका मन और भी शुद्ध हो गया। अब वे देवाधिदेव भगवान् शेषजी के चरणों के समीप पहुँच गये।

वे बहुत देर तक शेष भगवान् की कुछ भी स्तुति न कर सके। थोड़ी देर बाद उन्हें बोलने की शक्ति प्राप्त हुई। अब उन्होंने विवेक बुद्धि से मन को सभाहित किया और सम्पूर्ण इन्द्रियों की वाह्य बृत्ति को रोका। फिर उन जगद् गुरु की जिनके स्वरूप का पाञ्चरात आदि भक्ति-शास्त्रों में वर्णन किया गया है। इस प्रकार स्तुति की। भगवान् ! इस समय आपके दर्शन मात्र से ही मेरे अन्तःकरण का सारा मल धुल गया है, सो ठीक ही है। क्योंकि आपके अनन्य प्रेमी भक्त देवर्षि नारद जी ने जो कुछ कहा है वह मिथ्या कैसे हो सकता है। हे अनन्त ! आप सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं परीक्षित् ! विद्याधरों के अधिपति चित्रकेतु ने अनन्त भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंये प्रसन्न होकर उनसे कहा।

श्री भगवान् ने कहा—चित्रकेतो ! देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिरा ने तुम्हें मेरे सम्बन्ध में जिस विद्या का उपदेश दिया है, उससे और मेरे दर्शन से तुम भली भाँति सिद्ध हो चुके हो। मैं ही समस्त प्राणियों के रूप में हूं। मैं ही उनका आत्मा हूं और मैं ही पालनकर्त्ता भी हूँ। शब्द ब्रह्म (वेद) और परब्रह्म दोनों ही मेरे सनातन रूप हैं। राजन् ! यदि तुम मेरे इस उपदेश को सावधान होकर श्रद्धाभाव से धारण करोगे तो ज्ञान एवं विज्ञान से सम्पन्न होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाओगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—एक दिन की बात हे, चित्रकेतु भगवान् के दिये हुए तेजोमय विमान पर सवार होकर कहीं जा रहे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि भगवान् शङ्कर बड़े-बड़े मुनियों की सभा में सिद्ध चरणों के बीच बैठे हुए हैं और साथ ही भगवती पार्वती को अपनी गोद में बैटाकर एक हाथ से उन्हें आलिङ्गन किये हुए हैं। यह देखकर चित्रकेतु विमान पर चढ़े हुए ही उनके पास चले गये और भगवती पार्वती को सुना-सुनाकर हँसने और कहने लगे। जटाधारी बहुत बड़े तपस्वी एवं ब्रह्मवादियों के सभापति होकर भी साधारण पुरुष भी एकान्त में ही स्त्रियों के साथ उठते-बैठते हैं, परन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी होकर भी उसे भरी सभा में लिए बैठे हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् शङ्कर की बुद्धि अगाध है। चित्रकेतु के यह कटाक्ष सुनकर वे हँसने लगे, कुछ भी बोले नहीं। उस सभा में बैठे हुए दूसरे सदस्यगण भी चुप रहे। सच पूछो तो चित्रकेतु को भगवान् शङ्कर का प्रभाव मालूम नहीं था। इसीसे वे उनके लिए बहुत कुछ बुरा-भला कह रहे थे। उन्हें इस बात का घमण्ड हो गया था कि 'मैं जितेन्द्रिय हूँ'। पार्वतीजी ने उनकी यह घृष्टता देखकर क्रोध से कहा।

पार्वतीजी ने कहा—अहो ! हम जैसे दुष्ट और निर्लज्जों का दण्ड के बल पर शासन एवं तिरस्कार करने वाला प्रभु इस संसार में यही है क्या ? इस अधम क्षत्रिय ने तिरस्कार किया है और शासन करने की चेष्टा की है। इसलिए यह ढीठ सर्वथा दण्ड का पात्र है । इसको अपने बड़प्पन का घमण्ड है । यह दुष्ट, भगवान् श्री हरि के उन चरणकमलों में रहने योग्य नहीं है। जिनकी उपासना बड़े-बड़े सत्पुरुष किया करते हैं। (चित्रकेतु को सम्बोधन कर) अतः दुर्मते ! तुम पापमय असुर योनि में जाओ। ऐसा होने से बेटा ! तुम फिर कभी किसी महापुरुष का अपराध नहीं कर सकोगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब पार्वती जी ने इस प्रकार चित्रकेतु को शाप दिया, तब तो वे विमान से उतर पड़े और झुककर उन्हें प्रसन्न करने लगे। चित्रकेतु ने कहा—माता पार्वती जी ! मैं बड़ी प्रसन्नता से हाथ जोड़कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। क्योंकि देवता लोग मनुष्यों के लिए जो कुछ कहते है, वह कोई नयी बात नहीं होती। वह तो उनके प्रारब्धानुसार मिलने वाले फल की पूर्व सूचना मात्र होती है। देवि ! यह जीव अज्ञान से मोहित हो रहा है और इसी कारण संसार के चक्र में भटकता रहता है तथा सदा सर्वदा सर्वत्र सुख और दुःख भोगता रहता है। माताजी ! सुख और दुःख देने वाला न तो अपनी आत्मा है और न कोई दूसरा है।

माताजी ! भगवान् श्री हरि सब में सम और माया आदि मल से रहित हैं। उनका कोई प्रिय-अप्रिय, नाती-गोती, अपना-पराया नहीं है। जब उनका सुख में राग ही नहीं है, तब उनमें राग, जन्म, क्रोध तो हो ही कैसे सकता है ? तथापि उनकी माया शक्ति के कार्य पाप और पुण्य ही प्राणियों के सुख-दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, मृत्यु-जन्म और आवागमन के कारण बनते हैं। देवि ! मैं तो यह चाहता हूं कि आप मेरी बात पर बुरा मान गयी हैं, सो उसके लिए क्षमा करें।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विद्याधर चित्रकेतु भगवान् शङ्कर और पार्वती जी को इस प्रकार प्रसन्न करके उनके सामने ही विमान पर सवार होकर वहाँ से चले गये। इससे उन लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। तब भगवान् शङ्कर ने देवता, ऋषि, दैत्य, सिद्ध और पार्षदों के सामने ही भगवती पार्वती से यह बात कही।

भगवान् शङ्कर ने कहा—सुन्दरि ! दिव्य लीला विहारी भगवान् के निःस्पृह और उदार हृदय दासानुदासों की महिमा तुमने अपनी आँखों देख ली। जो लोग भगवान् के शरणागत होते हैं। वे किसी भी बात से डरते नहीं। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरकों में भी एक ही वस्तु के—केवल भगवान् के ही समान भाव से दर्शन होते हैं। जीवों को भगवान् की लीला से ही देह का संयोग होने के कारण सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं।

प्रिये ! यह परम भाग्यवान चित्रकेतु उन्हीं का प्रिय अनुचर, शान्त एवं समदर्शी है और में भी भगवान् श्री हरि का ही प्रिय हूं। इसलिए तुम्हें भगवान् के प्यारे भक्त, शान्त, समदर्शी, महात्मा पुरुषों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् शङ्कर का यह भाषण सुनकर भगवती पार्वती की चित्तवृत्ति शान्त हो गयी और उनका विस्मय जाता रहा। प्रिय परीक्षित् ! भगवान् के परम प्रेमी भक्त चित्रकेतु भी भगवती पार्वती को भलीभाँति शाप दे सकते थे परन्तु उन्होंने उन्हें शाप न देकर उनका शाप सिर चढ़ा लिया—यही साधु पुरुष का लक्षण है। यही विद्याधर चित्रकेतु दानवयोनि का आश्रय लेकर त्वष्टा के दक्षिणाग्नि से पैदा हुए। वहाँ इनका नाम वृत्रासुर हुआ और वहां भी ये भगवत्स्वरूप के ज्ञान एवं भक्ति से परिपूर्ण ही रहे। तुमने मुझसे पूछा था कि वृत्रासुर का दैत्ययोनि में जन्म क्यों हुआ और उसे भगवान् की ऐसी भक्ति कैसे प्राप्त हुई ? उसका पूरा-पूरा विवरण मैंने तुम्हें सुना दिया। महात्मा चित्रकेतु का यह पवित्र इतिहास केवल उनका ही नहीं, समस्त विष्णु भक्तों का माहात्म्य है; इसे जो सुनता है, वह समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष प्रातःकाल उठकर मौन रहकर श्रद्धा के साथ भगवान् का स्मरण करते हुए इस इतिहास का पाठ करता है उसे परमगति की प्राप्ति होती है।

चतुः श्लोकी :—

अब श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित चतुःश्लोकी का संक्षिप्त विवरण यहां अवलोकन करें—लोक में धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ स्मृति में बताये हुए साधनों से पूजामार्ग (मर्यादा मार्ग) के अनुसार प्राप्त होते हैं। उसमें ऐसे वचन भी हैं कि ब्राह्मण देह के बिना मुक्ति नहीं होती है। जिसमें भी बुद्धि आदि की शुद्धि पूर्वक सांगोपांग साधन करना आवश्यक है इस प्रकार की मुक्ति में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति है सो भी किसी की ही होती है। उन साधनों का आधुनिक काल में करना अति कठिन है तो निःसाधन जन का जन्म वृथा न होवे इसलिए भगवान् ने अपने मुखरूप वाक्यपति श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु को भूतल पर प्रकट किया जिनने पुष्टिमार्गीय जीवों को अपना सिद्धान्त बताने के लिए चतुःश्लोकी ग्रन्थ निरूपण किया है। जिससे मर्यादा मार्गीय-धर्म अर्थ काम और मोक्ष से जुदे पुष्टि-मार्गीय धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का शीघ्र बोध होय। इसमें चार श्लोकों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष का निरूपण किया है। प्रथम श्लोक में धर्माचरण का निरूपण है –

श्लोक—**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।**
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥१॥

श्लोकार्थ—निरन्तर सब भावों अर्थात् मेरा मन, देह, इन्द्रीय, प्राण, स्त्री, पुत्र धन धामादिक सब प्रभु के हैं मेरे नहीं हैं इत्यादि भावों से व्रजाधिपति (श्रीकृष्ण) ही सेवनीय है इसके सिवाय किसी

समय और किसी भी स्थल में पुष्टि मार्गीय जीव के लिए अन्य कोई धर्म नहीं है। इस प्रकार की सेवा से अहंता ममतात्मक संसार छूट कर भगवान् में दृढासक्ति से जीव व्यसनास्था पर पहुँचकर कृतार्थ हो जाता है ।।१।

श्लोक—**एवं सदास्म कर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।**
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिततां व्रजेत् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवत्सेवा स्मरण निरन्तर करना आवश्यक है ऐसे भक्त के लौकिक वेदिक कार्य तो भगवान् बिना प्रार्थना किये अपने आप ही पूर्ण करेंगे क्योंकि आप सब प्रकार से सामर्थ्यवान हैं इसलिए इस लोक और परलोक की चिन्ता छोड़कर जीव को निश्चिन्त रहना चाहिये। इस प्रकार पुष्टिमार्गीय के लिए 'अर्थ' रूप भगवान् ही है ।।२।।

श्लोक—**यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।**
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ।।३॥

श्लोकार्थ—जिस जीव ने गोकुलाधीश प्रभु को सब भावों से अपने हृदय में स्थापित किया है तो फिर ऐसी कोई भी उसकी कामना (इच्छा) अपूर्ण (अधूरा) नहीं रह सकती है क्योंकि केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही दोष रहित हैं और भक्त की इच्छा को पूर्ण करने वाले हैं। इसलिए 'काम' रूप पुरुषार्थ हैं ।।३।।

श्लोक—**अतः सर्वात्मना शश्वत् गोकुलेश्वरपादयोः ।**
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ।।४।।

श्लोकार्थ-श्रीगोकुलेश्वर प्रभु के हृदय में बिराजने के बाद भी सर्वात्मा से उनके चरण कमल का स्मरण और भजन (सेवा) नहीं छोड़नी चाहिये क्योंकि एक क्षण मात्र का दुःसंग अनेक जन्मों के पुन्यों के फल का नाश कर देता है इसलिए हर प्रकार से सावधान रहकर भगवद् भाव को सुरक्षित रखना आवश्यक है। स्पष्ट है कि जब निरन्तर प्रभु ही का ध्यान हृदय में रहेगा तो संसार के कर्मबन्धनों से जीव अपने आप मुक्त हो जाएगा और वही पुष्टि मार्गीय मोक्ष है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन वृत्रासुर चतुःश्लोकी में पढ़ आये हैं। किमधिकं सुज्ञे—

राग विहाग—**परम कृपाल श्रीवल्लभनन्दन करत कृपा निज हाथ दे माथे।**
जे जन शरण आय अनुसर हि गह सौंपन श्री गोवर्धन नाथे ॥

परमउदार चतुर चिन्तामणि राखत भवधारा ते साथे।
भज कृष्णदास काज सब सरही जो जाने श्री विट्ठलनाथे ॥

—०—

शुद्धि-पत्र—एकादश स्कन्ध अध्याय १ से ५

पृष्ठ	पंक्ति	छपे हुऐ	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	छपे हुए	शुद्ध
१	२०	कृष्ण मोगो	कृष्ण योगो	६८	२०	धृत	घृत
	१२	गत गुंणेः	गति गुणैः	७१	२३	माव	भाव
३	२४	पश्चात्	पश्चात् कृतो	७३	२	हण	ग्रहण
	२६	तश्च	ततश्च	८६	६	मलरूप	मूलरूप
	३०	ब्रह्म मुधि	ब्रह्म मुक्ति	६२	१६	अबकाश	आकाश
४	५	पक्ष स्तु	पक्षश्र	१००	१४	अश्रय	अक्षय
६	३	नग्न किया	लज्जित किया	१११	६	भत्तया	मत्स्या
	२६	धारण कते है	धारण करते हैं	११५	१२	शेषत्य	शेषत्व
१६	२	चाप	शाप		१७	क्ति	की शक्ति
	५	इनोक	श्लोक	११८	११	किन्सु	किन्तु
	१७	बादराणी विभ्रद	बादरायणी	११२	२८	१	२
		रुपात	रुवाच	१४३	१६	मरतक	मस्तक
	१७	वपुः	बिभ्रद वपुः	१६६	४	भगव भक्तों	भगवद्भक्तों
१८	१०	वं	वे	१७१	१३	आक्षा	आज्ञा
३३	२६	वष्टि	वृष्टि	१७३	२२	च्छा	इच्छा
३४	१३	भगवद्धि	भगवद्वि		२२	था	तथा
३८	१	आभासार्थ-क्या अब मुक्ति भी न होगी ? उसके लिये निम्न श्लोक है		१७७	१५	पलियुग	कलियुग
				१७८	८	स्दुति	स्तुति
४६	२६	उद्धेग	उद्वेग	१७६	८	महापुमुष	महापुरुष
६१	७	उषाय	उपाय				

शुद्धि-पत्र—वृत्रासुर चतुःश्लोकी

पृष्ठ	पंक्ति	छपा हुआ	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	छपा हुआ	शुद्ध
१	१०	लीला पदोधिषु	लीला पयोधिषु	४	११	दैम्यमेवो-	दैन्यमेवो
	११	कलानाथों	कलानाथी		१२	प्यधिका	प्यधिकार
२	५	भजन	यजन		१३	सेवत्तृप्तिमेद	सेवनेऽतृप्ति
	१०	सूर्य	सूम		१८	कामधिकाररूपं	कःमाधिकाररूपं
४	३	दाष्टोहित्वमेव	दास्येहित्वमेव		२०	सत्संगभावा	सत्संगाभावा
	३	दुःखमजनयसि	दुःखमपनयसि		२१	चित्रकेनुदास	चित्रकेतुर्दास
	५	भेदामावात	भेठाभावात		२३	स्मरेन	स्मरेत
	५	धर्माश्रयमेत	×		२५	त्मेनेपदम	त्मनेपदम
	६	तकेत्याशये	तथेंत्याशये		२५	कियते	क्रियते
	१०	भवितेत्याग्रे	भवितेत्यग्रे		२६	परत्वभतः	परत्वमतः
	११	दास्यपि	दास्यादपि		२८	भूदाः	मूयः

पृष्ठ	पंक्ति	छपा हुआ	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	छपा हुआ	शुद्ध
५	१३	अंशारी	अंशांशी	१३	१	मनुपान	मधुपान
	२६	शतर्विश्र	चतुर्विध		२	कारी	करी
	३०	श्रुवि	श्रुति		५	दर्शननेच्छा	दर्शनेच्छा
६	२	मोक्ष ने त	मोक्ष के तो		१४	वही	ही
	५	क्कोंकि	क्योंकि		२८	दोपत्रय	दोषत्रय
	२१	अनुत्वारीभा	अनुचरोभाव		२८	द्वितीह	द्वितीय
	२४	करण	कर्ण	१५	२	इत्छा	इच्छा
७	२२	वैदिकश्चा्ार्थस्ति	वैदिकश्चार्थस्ति		६	मोज्ञ	मोक्ष
	२४	स्वर्गभूमिरसैश्वर्य	स्वर्गभूमिरसैश्वर्य		१३	भ्रामतः	भ्रमतः
	२६	तु	तत्तु		१७	धर्मोर्थो	धर्मोऽर्थो
८	१६	मेष्ठय	मेष्ठय्		२६	बदुवचन	बहुवचन
	२६	तीर्थमुशन्नि	तार्थमुशन्ति	१६	३	कर्मपदं	त्कर्मपदं
	२८	त्वपि	त्वयि		११	स्योतकृष्टया	स्योत्कष्टस्या
	२९	रसेन्यु	रसेत्यु		१३	प्रकृते	त्प्रकृते
९	१४	नानकपृष्ट	ननाक पृष्ठं		२०	श्वेद्रध्रुवम	श्वेद्रध्रुवम
	१८	पारमेष्टयं	पारमेष्ठयं		२३	अपना धर्म कर्तव्य नहीं है	अपना धर्म अन्य कोई धर्म कर्तव्य नहीं है।
	२९	व्राक्य	वाक्य				
१०	८	फढाने	बढ़ामें				
	९	अनपायिनी	अनुयायिनी		२८	चरणमें	चरण ने
	१४	निवेध	निषेध	१७	८	आंग्रिरा	अंगिरा
	२२	द्वौतभाव	द्वैतभाव	१९	२	देहिमत्ययम	देहिनमव्ययम
	२५	साधनां	साधुनां	२३	६	पद्यपुराण	पद्मपुराण
११	४	विरहृदय	विरहय्य		११	पद्यपुराण	पद्मपुराण
	२१	इतुगार	शृंगार	२७	१	अमयं	अभयं
१२	१	दिदृक्षते	दिदृक्षत		६	निधृत्ता	निवृत्ता
	६	बोधनेव	बोधनेन		१९	स्वसंत्रता	स्वतंत्रता
	७	अजातपक्ष	अजातपक्षाः	३१	२	श्लोक	लोक
	१७	जावधिपयन्तं	नावधिपर्यन्तं	३२	२६	मायय:	मायया
	१७	दिहृक्षैकरसत्वा	दिदृक्षैकरसत्वा	३५	११	ध्यतनोन	व्यतनोन
	१९	त्वस्यासंभपादत	त्वस्यासंभवादत	३७	६	वानपस्थ	वानप्रस्थ
	२१	के लं	केवलं		१९	हीन	होने
	२२	जीवमें	जीवने	३८	२	इच्छा भा	इच्छा भी
	२२	प्रसषत्वेन	पुरुषत्वेन	४०	२	श्लक	श्लोक
	२४	भावाविशिष्टं	भावविशिष्टं		२४	मरे	मेरे
	२५	विशेषभावात	विशेषाभावात		२७	राति	रीति
	२७	दृढत्वाप्ति	दृढत्वाप्ति	४४	१३	गभ	गर्भ
	२९	रसीव्यैव	रसरीत्यैव				